पातिमोक्ख

(भिक्खुविभङ्ग एवं भिक्खुनीविभङ्ग)

★

(हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत भूमिका सहित)

सम्पादक — अनुवादक

डॉ० भागचन्द्र जैन

एम ए. (त्रय) साहित्याचार्य, पी-एच. डी. (सीलोन)

अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग,

नागपुर विश्वविद्यालय

आलोक प्रकाशन

नागपुर

PATIMOKKHA

(Bhikkhu-vibhanga & Bhikkhuni-vibhanga)

Hindi translation
with
Exaustive Introduction

Editor and Translater
Dr. Bhagchanedra Jain
M. A. Sahityacharya, Ph. D. (Ceylon)
Head of the Department of Pali and Prakrit,
Nagpur University

ALOK PRAKASHAN
NAGPUR

बौद्धधर्म के प्रकाण्ड विद्वान

एवं अनन्य प्रचारक-प्रसारक

श्रद्धेय डा० भदंत आनन्द कौशल्यायन

को

विषय-सूची

विनयपिटके

भिक्खु विभङ्गो

परिवर्त १

बौद्ध विनय

की

उत्पत्ति और विकास

विनय का यहाँ विशेष रूप से सम्बन्ध उपासक–उपासिकाओं एवं भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए निर्धारित उन नियमों से है, जिनसे वे मुक्ति-पथ को प्रशस्त करते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति में प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय के विशिष्ट नियम रहा करते थे। परिव्राजक सम्भवत: एक सर्व सामान्य सन्यासी जीवन का प्रतीकात्मक शब्द था। श्रमण परिव्राजक और ब्राह्मण परिव्राजक जैसे शब्दों का प्रयोग जैन तथा बौद्ध साहित्य में बहुत अधिक मिलता है। वैदिक साहित्य में वैखानस, वानप्रस्थ, ब्रह्मचर्य, सन्यास आदि शब्दों का प्रचलन प्रचुरता से हुआ है। परन्तु जैन एवं बौद्ध संस्कृति में अनगार अथवा भिक्खु शब्दों ने लोकप्रियता पायी है। सभी सम्प्रदायो में सांसारिक स्नेहजाल को मुक्ति प्राप्ति का प्रमुख बाधक तत्व स्वीकार किया गया है। इसी बाधक तत्त्व को समाप्त करने के लिए विनय का आचरण किया जाता है। इसी सन्दर्भ मे बौद्ध विनय पर हम विचार करेंगे।

भिक्षु (भिक्खु) विनय

बौद्ध विनय की उत्पत्ति तथागत भगवान् बुद्ध से ही हुई है। सम्बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध ने सर्वप्रथम पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को धर्मोपदेश दिया। उनमे कौण्डिन्य को मध्यम मार्ग और चतुरार्यसत्य का ज्ञान होने पर "जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है वह नाशवान् है" यह विरज निर्मल धर्मनेत्र उत्पन्न हो गया। उसका अनुसरण करने पर वप्प भद्दिय, महानाम और अश्वजित को भी धर्मचक्षु प्राप्त हो गये। पञ्चवर्गीय भिक्षुओ ने भगवान् से प्रव्रज्या और उपसम्पदा की याचना की। भगवान् ने "एहि भिक्खू, स्वाक्खातो धम्मो चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्त किरियाय" (भिक्षुओ ! आओ, धर्म सुव्याख्यात है, अच्छी तरह दु:ख क्षय के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो,) कहकर उन्हें अपने संघ में प्रविष्ट किया।

भिक्षु संघ के निर्माण का यह श्रीगणेश था। बाद में वाराणसी के श्रेष्ठी पुत्र यश उसके मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजिन और गवाम्पति ने भी बुद्ध की प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। उनकी उपसम्पदा को सुनकर पचास अन्य गृहपतियों ने भी आकर भगवान् से विरजचक्षु प्राप्त किये और दीक्षा ली।

इस प्रकार बुद्ध के संघ में कुल एकसठ भिक्षु हो गये। अब भगवान् के मन मे अपने धर्म के प्रचार-प्रसार की बात आयी। उन्होने इन भिक्षुओं से कहा—"हम सभी दिव्य और मानुष बन्धनों से दूर हैं। भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदिकल्याणकारी, मध्यकल्याणकारी और अन्तकल्याणकारी इस धर्म का उपदेश करो। सार्थ, सव्यञ्जन, केवल परिपूर्ण और परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। ये सासारिक प्राणी अल्प दोषवान् हैं। धर्म का श्रवण न करने से उनकी हानि होगी और सुनने से वे धर्मज्ञ होंगे।[1] इन भिक्षुओं को बुद्ध ने प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने का अधिकार देकर नाना दिशाओं मे धर्म-प्रचारार्थ भेज दिया। इस समय उपसम्पदा देने का प्रकार यह था—पहिले सिर दाढ़ी का मुण्डन कराया जाता, फिर काषाय वस्त्र पहनाया जाता, बाद मे उसे एक कन्धे पर रखकर भिक्षुओ की पादवन्दना करायी जाती तथा उकड़ूं बैठाकर अञ्जलि से प्रणाम कराकर तीन बार यह कहलाया जाता—बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि। बौद्ध विनय के विकास का यह द्वितीय चरण था।

इन भिक्षुओं को उपसम्पदा देने का अधिकार देकर बुद्ध स्वयं भी उरुवेला (गया) की ओर धर्म-प्रचार के उद्देश्य से ही चल पड़े। बीच मे वनखण्ड मे ध्यान करते समय भद्रवर्गीय तीस मित्र आये और उन्हे उपसम्पदा दी। उरुवेला पहुँचकर बुद्ध ने जटिल बन्धुओं (उरुवेल, नदी और गया काश्यप) को

---

१. मुत्ताहं, भिक्खवे, सब्बपासेहि ये दिब्बा ये च मानुसा। तुम्हे पि भिक्खवे मुत्ता—चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय धत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। मा एकेन द्वे अगमित्थ। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झेकल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। सन्ति सत्ता अप्परजक्ख जातिका अस्सवनता धम्मस्स परिहायन्ति भविस्सति धम्मस्स अञ्ञातारो—महावग्ग. पृ. २३

चमत्कार प्रातिहार्य दिखाकर अपने संघ में दीक्षित किया। उनके साथ ही उनके एक सहस्र शिष्य भी भगवान् के अनुयायी हो गये। राजगृह में पहुँचने पर मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार ने तथागत की शरण ली और भिक्षुसंघ के लिए वेणुवन भेंट किया। २५० शिष्यों के साथ संजय से भी यहीं भेंट हुई। संजय के शिष्य सारिपुत्र को बुद्ध के शिष्य अश्वजित ने संलाप के बीच अपने गुरु का नाम बताया और उनके मूल सिद्धान्त को उपस्थित किया—

> ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
> तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

सारिपुत्र (उपतिष्य) को यह धर्मपर्याय रुचिकर लगा। उसका मित्र मौद्गल्यायन (कोलित) भी प्रसन्न हुआ। फलत: संजय अपने शिष्य परिवार के साथ बुद्ध की शरण मे आ गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन बुद्ध के प्रधान शिष्य हो गये। तथागत बुद्ध के संघ की यह वृद्धि विशेष फलदायी रही।

इस समय तक भगवान् बुद्ध के संघ में लगभग १५०० भिक्षु हो चुके थे। उपाध्याय के बिना वे अनुशासनहीन और प्रभावहीन दिखाई देते थे। संघ की यह कमी जानकर बुद्ध ने भिक्षुओं को उपाध्याय ग्रहण करने की अनुमति दी। इस प्रसंग में विनय पिटक (महावग्ग) मे उपाध्याय और शिष्य के कर्त्तव्यों का आलेखन किया गया है। उनके गुणो और अवगुणों पर भी प्रकाश डाला गया है। तदनुसार शिष्य मे ये पाँच गुण होना चाहिए—उपाध्याय के प्रति अतिप्रेम हो, श्रद्धा हो, लज्जाशील हो, गौरव देनेवाला हो और ध्यानादि की अधिक भावना करता हो। इसी प्रकार उपाध्याय के भी शिष्य के प्रति कर्तव्य बताये गये है कि वह शिष्य को उपदेश दे, पात्र दे, चीवर दे और रोगग्रस्त हो जाने पर परिचर्या करे। उत्तराध्ययन (प्रथम अध्ययन) में भी इसी प्रकार शिष्य और उपाध्याय के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। कल्याणमित्र ही सही अर्थ में उपाध्याय है। विनय के विकास का यह तृतीय चरण है।

इसके बाद कुछ परिस्थितियों के कारण तथागत ने उपसम्पदा के नियमों में परिवर्तन किया। अब ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारण के माध्यम से उपसम्पदा दी जाने लगी। उपसंपदा योग्य भिक्षु के लिए संघ को इस प्रकार ज्ञापित करना आवश्यक था।

१. ज्ञप्ति—भन्ते! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुकनाम के आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। यदि संघ उचित समझे, तो संघ अमुक नामक को, अमुक नामक के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करे।

२. अनुश्रावण—भन्ते ! संघ मुझे सुने, अमुक नामक, अमुक नामके आयुष्मान् का उपसंपदापेक्षी है। संघ अमुक नामक को अमुक नामक के उपाध्यायत्व में उप-सम्पन्न करता है। जिस आयुष्मान् को अमुक नामक की उपसंपदा अमुक नामक के उपाध्यायत्व में स्वीकार है, वह चुप रहे, जिसको स्वीकार न हो, वह बोले। इस बात को संघ के समक्ष तीन बार कहा जाता।

३. धारणा—संघ को स्वीकार है, इसलिए चुप है—ऐसा समझता हूँ।

भिक्षु जब तक स्वयं उपसम्पदा की याचना न करे, उसे उपसम्पन्न नही किया जाता। उपसम्पदा देते समय भिक्षु को स्पष्ट रूप से बताना चाहिए कि उसे चार निश्रयों (जीविका के साधनों) का पालन करना होगा—(१) भिक्षा मांगना और पुरुषार्थ करना। संघ भोज, उद्दिष्ट भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन आदि भी विहित हैं। (२) श्मशान आदि में पड़े चिथड़ों से चीवर तैयार करना। क्षौम, कापासिक, कौशेय, कम्बल आदि का वस्त्र भी विधेय है। (३) वृक्ष के नीचे निवास करना। बिहार, आढ्य योग, प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि भी विहित है। (४) गोमूत्र की औषधि का ग्रहण करना। घी, मक्खन, तेल, मधु, खाड अधिक लाभ में विधेय है। मूलत· ये चार निश्रय थे। इनमें अधिक लाभ को विधेय बाद मे किया गया। बौद्ध विनय का यह चतुर्थ चरण है।

धीरे-धीरे उपसम्पदा के नियमों-विधानो में भी अन्तर होता गया। हर नियम के पीछे किसी घटना विशेष का हाथ रहा है। अब उपसम्पदा का विधान हुआ कि उपसम्पदा दस या दस से अधिक पुरुष वाले गण द्वारा दी जाय तथा उपसम्पदा पानेवाला भिक्षु भी चतुर और जानकार हो और दस अथवा दस से अधिक वर्ष की अवस्था वाला हो। उपाध्याय के अभाव मे आचार्य करने की भी अनुमति दी गई। आचार्य-शिष्य मे पिता-पुत्रवत् संबंधों का निर्देशन मिला। उपाध्याय ओर आचार्य से शिष्यत्व (निश्रय) तभी विच्छिन्न माना जाता जब वे आश्रम छोड़कर चले गये हों, या वचार-परिवर्तन कर लिया हो, या काल-कवलित हो गये हों, या धर्मान्तर ग्रहण कर लिया हो अथवा उसकी स्वीकृति दे दी हो। उपसम्पदा अथवा प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक था कि साधक सम्पूर्णत: शील सम्पन्न हो, समाधिसम्पन्न हो, प्रज्ञावान् हो, राग-द्वेषादि से विमुक्त हो, विमुक्ति-ज्ञान के साक्षात्कार-पुञ्ज से युक्त हो, श्रद्धालु हो, लज्जाशील, संकोची, उद्योगी, स्मृति-सम्पन्न, दोषज्ञ, सेवाभावी, कल्याणमित्र और प्रातिमोक्ष सम्पन्न हो। अन्य सम्प्रदाय में रहने वाले व्यक्ति के लिए चार माह का परिवास दिया जाता पर शाक्य जातीय,

नग्नक (जैन) और जटिलक साधु इस परिवास के नियम से मुक्त थे क्योंकि वे कर्मवादी और क्रियावादी थे।[1] प्रव्रज्या ग्रहण करने की भी कुछ योग्यतायें निर्धारित की गईं। निम्नलिखित व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य होते थे—कुष्ठ, फोड़ा, चर्मरोग, सूजन और मृगी बीमारियों से पीड़ित राजसैनिक, ध्वजबन्ध डाकू, चोर, राजदण्ड प्रापक, ऋणी और दास। आगे उपसम्पदा पाने वाले की अवस्था को बीस कर दिया गया और श्रामणेर की अवस्था को पन्द्रह निश्चित किया गया। एक भिक्षु एक अथवा जितने श्रामणेरों को अनुशासित कर सके, उतनी संख्या में श्रामणेर रख सकता था। श्रामणेर को दस शिक्षापदों का पालन करना आवश्यक बताया गया—पाणातिपात, अदिन्नादान, मुसावाद, सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठान, विकालभोजन, नच्चगीतवादित विसूकदस्सन, मालागन्ध, विलेपन धारणमण्डन, विभूसनट्ठान, उच्चासयनमहासयन और जातरूपरजतपटिग्गहण से दूर रहना (वेरमण) वे श्रामणेर दण्डनीय होते थे जो भिक्षुओं के अलाभ, अनर्थ, आवास, निन्दा और संघर्ष के जनक होते थे। दण्ड में उन श्रामणेरो को संघाराम के वासस्थल में प्रवेश नही करने दिया जाता। कुछ ऐसे कर्म भी होते थे जिनके प्रतिफल स्वरूप श्रामणेर का निष्कासन भी कर दिया जाता, जैसे—प्राणिहिंसा करना, चोरी करना, अब्रह्मचारी होना, झूठ बोलना, मद्यपान करना, बुद्ध-धर्म-संघ की निन्दा करना, मिथ्यादृष्टि सम्पन्न हो जाना और भिक्षुणी दूषक सिद्ध होना। बाद में उपसम्पदा के अयोग्य व्यक्तियों में कुछ और सम्मिलित कर लिये गये। जैसे-पंडक (नपुंसक), अन्य तीर्थिकगामी, नाग (जाति ?), मातृहन्ता, पितृहन्ता, अर्हत्‌हन्ता, स्त्री-पुरुष दोनों लिङ्गवाला, पात्ररहित, चीवर रहित, आदि। प्रव्रज्या के लिए भी अयोग्य व्यक्तियों की गणना की गई है। जैसे—कटे हाथ-पैर -कान-नाक-अंगुलिवाला, पोर, कुबड़ा, बौना, लक्षणाहत, दण्डित, लिखितक, लूला, लंगड़ा, पक्षाघाती, ईर्यापथरहित, जराग्रस्त, अन्धा, गूगा, बहरा आदि। प्रव्रज्या के लिए भी साधक के माता-पिता की आज्ञा लेना अनिवार्य हो गया। अन्त में उपसम्पदा ग्रहण करने के लिए निम्न शर्तें निर्धारित हुईं, उदाहरणार्थ-साधक को किसी प्रकार का रोग न हो जैसे—कुष्ठ, गन्ड, किलास, शोथ, मृगी। मनुष्य हो, पुरुष हो, स्वतन्त्र हो, ऋणमुक्त हो, राजसैनिक न हो, माता-पिता से अनुमित हो, बीस वर्ष का हो, पात्र-चीवर आदि से युक्त हों। उपसम्पदा के साथ उसका और उसके उपाध्याय का नाम भी पूछा जाता। ज्ञप्ति, अनुश्रवण और धारणापूर्वक उपसम्पदा कर्म कर दिया जाता। बौद्ध विनय के विकास का यह पञ्चम चरण है। प्रत्येक चरण अनेक सोपान

---

१. महावग्ग, पृ० ७५

के बाद स्थिर हो सका, यह घटनाओं से प्रमाणित है ही। इसके बाद भी विकासात्मक चरण स्थिर नहीं रहा।

उपोसथ—उपोसथ का तात्पर्य है—भिक्षु संघ एकत्रित होकर धर्मोपदेश करे। प्राचीनकाल मे बौद्धेतर मतावलम्बी, विशेषतः जैनधर्मानुयायी चतुर्दशी, पूर्णमासी और अष्टमी को एकत्रित होकर धर्मोपदेश किया करते थे। श्रेणिक बिम्बिसार के कहने पर तथागत बुद्ध ने भी इस विधान को अपने संघ के लिए निर्धारित किया। पातिमोक्ख (प्रातिमोक्ष) भी इसी से सम्बद्ध है। पातिमोक्ख का अर्थ है, भिक्षु-जीवन के विभिन्न नियम। महावग्ग में पातिमोक्ख को कुसल धर्मों मे प्रमुख बताया है (आदिमेतं मुखमेतं पमुखमेत कुसलानं धम्मानं)। उपोसथ के दिन भिक्षु एकत्रित होकर प्रातिमोक्ष की आवृत्ति किया करते हैं। उपोसथ के लिए सीमा-निर्धारण भी किया गया है। पर्वत, पाषाण, वन, वृक्ष, मार्ग, वल्मीक, नदी, उदक आदि चिन्ह निश्चित कर दिये जाते हैं, जिसकी सूचना संघ को दे दी जाती है। कोई विहार, अटारी-प्रासाद, हर्म्य, गुहा आदि उपोसथागार के रूप मे निश्चित कर दिया जाता जहा सभी भिक्षु पूर्व सूचना पाकर स्थविर भिक्षु के पास उपोसथ के लिए एकत्रित होते हैं। उपोसथ के चार कर्म हैं—संघ के कुछ भागका धर्म विरुद्ध उपोसथ कर्म करना, समग्र संघ का धर्म विरुद्ध उपोसथ करना, भाग का धर्मानुकूल उपोसथ करना और समग्र का धर्मानुकूल उपोसथ करना। इनमे अन्तिम कर्म विधेय है।

प्रातिमोक्ष—प्रातिमोक्ष और उपोसथ का अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है। भिक्षु नियमो के निश्चित हो जाने पर उपोसथके दिन प्रातिमोक्ष किया जाने लगा। आवृत्ति के पांच क्रम निर्धारित हुए—(१) निदान का पाठ करना, (२) निदान और पाराजिको का पाठ करना, निदान, पाराजिक और संघादिशेषो का पाठ करना, (४) निदान, पाराजिक, संघादिशेष और अनियत धर्मों का पाठ करना, और (५) विस्तार के साथ प्रातिमोक्ष का पाठ करना। आपत्ति काल मे प्रातिमोक्ष का संक्षिप्त पाठ करना भी विधेय माना गया। ऐसी स्थिति मे शेष प्रतिमोक्ष को स्मृति से श्रुत मान लिया जाता है। आपत्तिकाल (अन्तराय) ये हैं—राज, चोर, अग्नि, उदक, मनुष्य, अमनुष्य, हिंसक सरीसृप, जीवन, और ब्रह्मचर्य। भिक्षु-संघ से स्वीकृति लेकर ही परस्पर मे विनय पूछने की प्रक्रिया थी। और अवकाश लेकर दोषारोपण किया जाता था। नियम-विरुद्ध काम यदि कोई भिक्षु करे तो चार-पाँच भिक्षु उसे धिक्कारें, दो-तीन भिक्षु उसे अभिव्यक्त करें और एक भिक्षु यह कहे कि मुझे यह

रुचिकर नहीं। प्रातिमोक्ष का पाठ गृहस्थ-युक्त परिषद् में निषिद्ध किया गया है। उसकी आवृत्ति चतुर और समर्थ भिक्षु के आश्रय में होनी चाहिए। भिक्षु यदि लम्बी यात्रा के लिये जाये तो उसे भिक्षु संघ के (उपाध्याय) से अनुमति लेनी चाहिए। आवास में यदि बहुश्रुत, आगमज्ञ, धर्मधर, विनयधर, मात्रिकाधर भिक्षु आयें तो उनकी सेवा करनी चाहिए। यदि आवास में प्रातिमोक्ष को जानने वाला भिक्षु न हो तो ऐसे आवास में चला जाय जहां उपोसथ कर्म अथवा प्रातिमोक्ष-पाठ के जानकर भिक्षु रहते हों। उपोसथ या संघकर्म में सभी भिक्षुओं को उपस्थित होना आवश्यक है। यदि भिक्षु रोगी हो अथवा उसको उसके परिवारजन ले जाना चाहें, उसे राजा, चोर, बदमाश पकड़ लें तो उससे अपनी परिशुद्धि संघ के समक्ष भेज देनी चाहिए। यदि यह संभव न हो तो भिक्षु संघ के एक भाग को उपोसथ नहीं करना चाहिए। यदि कोई भिक्षु उन्मत्त हो गया हो तो उसके बिना संघ उपोसथ करे ऐसा प्रस्ताव आना चाहिए। उपोसथ कर्म के लिए अपेक्षित संख्या चार बतायी गई है पर कदाचित् तीन अथवा दो भी हों तो उन्हें परस्पर "परिशुद्धो अहं आवुसो,परिशुद्धो ति मं धारेथ"यह वचन तीन बार कहना चाहिए। यदि भिक्षु अकेला हो तो उसे उपोसथ करने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। यदि कुछ नियम विरुद्ध कार्य हुए हों तो उनकी स्वीकृति पूर्वक उनका प्रतिकार हो नाचाहिए। यदि किसी आवास मे चार या अधिक आश्रमवासी भिक्षु हों तो उन्हें उपोसथ के दिन एकत्रित हो प्रातिमोक्ष का पाठ करना चाहिए। अन्य आश्रमवासी भिक्षु यदि उनकीसंख्या से अधिक हों तो प्रातिमोक्ष का पाठ पुन करना चाहिए, अन्यथा शुद्धि बतलानी चाहिए। सन्देह, संकोच, कटूक्तिपूर्वक अथवा अनुपस्थिति को जाने बिना किया गया उपोसथ सदोष माना गया है। इन दोषों को दूर करने पर प्रातिमोक्ष का पाठ पुनः होना आवश्यक है। उपोसथ की दो तिथियों में भिक्षु संख्या के आधार पर एक तिथि की स्वीकृति दी जाती है। आवासिकों तथा नवागन्तुकों मे उपोसथ पृथक् रूप से नहीं किया जाता प्रत्युत उनकी संख्या के अनुसार उसका निर्धारण होता है। उपोसथ के दिन आवास त्यागने के भी नियम बनाये गये हैं। साधारणतः उस दिन आवास छोड़ा नहीं जाता। यदि किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में छोड़ना भी पड़े तो भिक्षुको ऐसे आवास मे जाना चाहिए जहां सहधर्मी हों और जहां उसी दिन पहुँचा जा सके। प्रातिमोक्ष-आवृत्ति लिए भी परिषद् के कुछ नियम हैं। यह परिषद् ऐसी होनी चाहिए जहां निम्न प्रकार के व्यक्ति उपस्थित न हों—भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, पाराजिक दोषी, पापदिट्ठिगत, तीर्थिकगत, मातृ-पितृ घातक, अर्हद् घातक, भिक्षुणी दूषक, पण्डक, संघभेदक आदि। इन नियमों के अतिरिक्त यह भी नियम बना कि उपोसथ की समूची प्रक्रिया उपोसथ के ही दिन पूरी होनी

चाहिए। उपोसथ और प्रातिमोक्ष का विधान ही बौद्ध विनय के विकास का प्रमुख कारण कहा जा सकता है।

वर्षावास—वर्षावास का विधान यात्ता-यात की असुविधा तथा वर्षा के कारण उत्पन्न होने वाले जीवों के उपघात से बचने के लिए किया गया है। वैदिक तथा जैन संस्कृति में भी यह मान्य है। जैन भिक्षु वर्षावास करते थे और हरित तृणों पर विचरण करने से अपने आपको बचाते थे। परन्तु बौद्ध भिक्षु न वर्षावास करते थे और न हरित तृणों को बचाते थे। बुद्ध के समक्ष यह बात रखी गयी। फलत. उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं के लिए वर्षावास आवश्यक कर दिया[1]।

वर्षावास आसाढ पूर्णिमा अथवा श्रावण पूर्णिमा के दूसरे दिन से प्रारम्भ होता है जिसमें तीन माह तक स्थान परिवर्तन करना निषिद्ध है। यदि निम्न लिखित व्यक्तियों का सन्देश अथवा कार्य हो तो भिक्षु एक सप्ताह के लिए वर्षा-वास तोड़कर बाहर जा सकता है। भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी, उपासक, और उपासिका। बिहारादि का दान तथा पुत्र-पुत्री आदि के विवाह मे उपस्थित होना भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। विनय पिटक मे कुछ ऐसी परिस्थितियों का भी वर्णन है जिनमे संदेश के बिना भी भिक्षु-भिक्षुणी एक सप्ताह के लिए बाहर जा सकते हैं। उदाहरणार्थ भिक्षु को यदि रोग, अनभिरति, कौकृत्य, मिथ्यादृष्टि, गरुधर्म आदि उत्पन्न हो गये हों तो भिक्षु बिना संदेश पाने पर भी उनकी सहायता करने जा सकता है। किन्ही विशेष परिस्थितियों मे स्थान-त्याग की भी अनुमति दी गई है। जैसे वन्य पशु, सरीसृप, चोर, पिशाच, अग्नि, जल, आदि का भय, अनुकूल भोजनादि की प्राप्ति न होना, गणिका, स्थूल कुमारी, पडक, ज्ञातिजन, भूपति, चोर आदि का आह्वान, कोषागार का दर्शन, और सघ भेद को रोकना। वृक्ष-कोटर, वृक्ष-वाटिका, अभ्याकास, अशयन, शवकुटिका, क्षत्रवास, चाटीवास, आदि मे वर्षा-करना विधेय नही है[1]।

प्रवारणा—वर्षावास के बाद भिक्षु संघ एकत्रित होकर अपने अपराधो का संदर्शन करता है। इसी को प्रवारणा कहा गया है। इसमे दृष्ट, श्रुत और परिशङ्कित अपराधो का परिमार्जन किया जाता है और परस्पर मे विनय का अनुमोदन होता है—

---

[1] महावग्ग (विनय) पृ. १४४

अनुजानामि भिक्खवे, वस्सं वुट्ठानं भिक्खूनं तीहि ठानेहि पवारेतुं— दिट्ठेन वा सुतेन वा परिसङ्काय वा । सा वो भविस्सति अञ्ञमञ्ञानुलोमता आपत्तिवुट्ठानता विनयपुरेक्खारता ।[1]

प्रवारणा की प्रक्रिया यह है कि सर्वप्रथम चतुर, समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे कि आज प्रवारणा है । बाद में स्थविर भिक्षु उत्तरासंग को एक कन्धे पर रखकर उकड़ूं बैठे तथा हाथ जोड़ कर संघ को यह सूचित करे कि मैं दृष्ट, श्रुत और परिशंकित अपराधों की प्रवारणा करता हूँ । संघ मेरे अपराधों को बताये । मैं उनका प्रतिकार करूंगा । यह बात तीन बार दुहरायी जाती है । नवीन भिक्षु की भी प्रवारणा इसी प्रकार लेनी पड़ती है । उपोसथ मे अपने अपराधों की पाक्षिक परिशुद्धि हो जाती है और प्रवारणा मे वार्षिक परिशुद्धि हो जाती है । प्रवारणायें दो होती है—चतुर्दशी की और पञ्चदशी की । इसके चार कर्म होते हैं—धर्म विरुद्ध वर्ग का प्रवारणा कर्म, धर्म-विरुद्ध सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म, धर्मानुसार वर्ग का प्रवारणा कर्म और धर्मानुसार सम्पूर्ण संघ का प्रवारणा कर्म । प्रवारणा कर्म मे कम से कम पांच भिक्षु रहना चाहिए । बाद मे चार, तीन, दो और एक भिक्षु को भी प्रवारणा करने की अनुमति दे दी गई । प्रवारणा कर्म तीन बार दोहराया जाता है, पर विशिष्ट अवस्था मे दो वचन और एक वचन की भी प्रवारणा विधेय मानी गई है । शबर भय, भिक्षु कलह, वर्षा, चोर, अग्नि, जल, मानव, अमानव, हिंसक जन्तु सरीसृप, मरण, शीलपतन आदि के भय की सम्भावना होने पर प्रवारणा को अधिक से अधिक संक्षिप्त किया जा सकता है । भिक्षुओ के कुछ दोष ऐसे होते है जबकि उनकी प्रवारणा को स्थगित कर दिया जाता है । जैसे—भिक्षुओ को अवकाश न करना, अथवा किसी की प्रवारणा को अनुचित रूप से स्थगित रखना । यदि कोई भिक्षु अपने दोष का निह्नव करे तो हठात् उसकी प्रवारणा करानी चाहिए । विशेष आवश्यकता होने पर प्रवारणा को संघ की स्वीकृति पूर्वक किसी अन्य समय मे भी किया जा सकता है ।[2] वर्षावास और प्रवारणा के विधान को बौद्ध विनय के विकास का सप्तम चरण कहा जा सकता है ।

उपानह्—विनय पिटक में भिक्षु को केवल एक तल्ले वाले (एक पलासिक) जूते पहनने का विधान मिलता है । इस प्रसंग मे उस समय प्रचलित जूतों का सुन्दर आलेखन है । बुद्धकाल मे नीली, पीली, काली, मजीठिया,

---

१. महावग्ग पृ० १६७

२. महावग्ग पवारणाक्खन्धक

महारंग, और महानाम से रंगी पत्ती वाले जूते पहने जाते थे। खल्लकबद्ध, पुटबद्ध, पालिगुण्ठित, तूलपूणिक, तित्तिरपत्तिक, मेण्ड विसाणवद्धिक, विच्छिकालिक, मयूरपिच्छ-परिशिल्वित, चित्रित सिंह, व्याघ्र, चीता, हरिण, ऊदबिलाव, मार्जार, कालक, उलूक आदि पशु-पक्षियों के चर्म के जूते बनते थे। ये जूते भिक्षु वर्ग के लिए असेवित थे। पुराने अनेक तल्लों के जूतों की भी स्वीकृति बाद में दे दी गई। आराम में भी उपानह, मसाल, दीपक और दण्ड रख सकते थे। काठ, ताड़पत्र, वांस, तृण, मूंज, बल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल आदि से पादुकायें निर्मित होती थी तथा उनमें स्वर्ण, रजत, मणि, वैदूर्य, स्फटिक, कांस, कांच, रांगा, सीसा, तांबा आदि भी लगाया जाता था। ऐसी पादुकाएं भिक्षु के लिए निषिद्ध की गई हैं।

वाहन और आसन—साधारणतः भिक्षु को वाहन पर चलना मना है। परन्तु बाद में नरयान, और हस्तियान तथा शिविका और पालकी के उपयोग की भी स्वीकृति रोगी भिक्षु के लिये दे दी गई। आसंदी, पर्यंङ्क, गोड़क, चित्रक, पटिक (गलीचा), तूलिक, विकतिक, उद्दलोमि, एकान्त लोमि, कटिस्स, कौशेय, कुत्तक, हत्थत्थर (हाथी का झूला), अस्सत्थर, रथत्थर, मृगछाल, कदलीमृग-शय्या, सउत्तरच्छद, उभतोलोहितकूप जैसे उच्चशयनों और महाशयनों का प्रचलन था। पर उनका सेवन भिक्षु के लिए निषिद्ध था। सिंह, व्याघ्र, चीते आदि के चमड़े को भी उसे धारण नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणिवध की प्रेरणा मिलती है। सीमान्त देशों मे जाने पर भिक्षुओं के नियमों में कुछ और ढिलाई कर दी गई। वहां विनयधर सहित पाच भिक्षुओं के गण से उपसंपदा करने का विधान हुआ। गणवाले उपानहों को धारण करने, नित्य स्नान करने, चर्ममय आस्तरण रखने तथा चीवरपर्याय (विकल्प) करने की भी अनुमति मिली।[1]

भैषज्य—बौद्ध भिक्षु वर्ग के लिए घी, मक्खन, तेल, मधु, और शक्कर इन पांच भैषज्यों का सेवन पूर्वाह्ण—अपराह्ण काल मे भी विहित है। रीछ, मछली, सुसुका, सूकर, गर्दभ आदि की चर्बी से निर्मित भैषज्य, हल्दी, सिङ्गिवेर, अदरक, वच, वचस्थ, अतीस, खस, भद्रमुका (नागरमोथा) आदि जड़वाली दवायें, नीम, कुटज, पटोल, तुलसी, कपासी आदि के पत्तों से निर्मित दवायें; विडंग, पिप्पली, मिर्च, हर्रा, बहेरा, आँवला, गोष्ठफल आदि फल रूप दवायें, सामुद्रिक, काला, सेंधा, वानस्पतिक, विलाल आदि नमक के प्रकारों से निर्मित दवायें, हींग,

---

१. महावग्ग, चर्मस्कन्दक

हिंगकी गोंद, हींग की शिपाटिका, तक, तकपत्ती, तकपर्णी, गुग्गुलु आदि गोंद वाली दवायें, तथा खुजली, फोड़ा आदि के लिए चूर्ण की दवायें भी भिक्षु ले सकता है। इस प्रसंग में अनेक रोग और उसकी दवाओं का भी उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ—भूतप्रेत (अमनुष्य) के रोग में कच्चा मांस और कच्चा खून ग्रहण करना चाहिए। नेत्ररोग के लिए काला अञ्जन, रस अञ्जन, स्रोत अञ्जन, गेरू और काजल लगाये। सिर दर्द करने पर सिर में तेल की मालिश की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त नस्य, नस करनी, और धूमबत्ती का भी उपयोग हितकर होता है। वात रोग में तेल में मद्य डालकर उसे पकाकर पीना चाहिए तथा मालिश करना चाहिए। अधिक से अधिक स्वेद निकल जाने से भी वात रोग ठीक हो जाता है। सम्भार (स्वेदक पत्तों के बीच सोना), महास्वेद (गड्ढे में अग्नि और पत्ते भरकर उस पर लेट जाना), भंगोदक (उबले पत्तों से स्वेद निकालना), उदक कोष्ठक (उष्ण जलसे स्वेद निकालना) ये चार स्वेदकर्म की प्रक्रियायें हैं। रक्त बाहर निकाल देने से भी वात रोग का शमन हो जाता है। पैर मे मालिश करने से बिवाई (पैर फटना) मिट जाती है। शस्त्रकर्म करने से फोड़ा मिटता है। घाव को पट्टी बांधकर ठीक किया जाता है। घाव मे खुजलाहट होने पर सरसों के लोंदे से उसे सहला दिया जाता है। मांस बढ़ जाने पर नमक की कंकरी से उसे काट दिया जाता है। सर्प के काटे जाने पर पुरीष (गूथ), मूत्र, राख (क्षारिक) और मिट्टी के सेवन से लाभ होता है। विष चिकित्सा के लिए भी पुरीष (टट्टी) का प्रयोग होता है। भूत-प्रेत की बाधा होने पर आमिषोदक (अनाज जलाकर बनाया गया सीरा) पिलाया जाता। पाण्डुरोग मे गोमूत्र की हर्रे पिलायी जाती। छविदोष होने पर गंधक का लेप कराया जाता। काय के अभिसन्न होने पर जुलाब दिया जाता। बौद्ध भिक्षुओं के लिए ये सभी दवायें निषिद्ध नहीं थी। घी, मक्खन, मधु, और तेल को एक सप्ताह से अधिक रखने का उनके लिए विधान नहीं है। गुड़, मूंग और छाछ भी लिया जा सकता है। वायगोले की बीमारी मे छाछ लाभकारी होती है। आराम के भीतर रखा, पकाया, और स्वयं बनाया भोजन करना निषिद्ध है। परन्तु दुर्भिक्ष में यह नियम शिथिल किया जा सकता है। कल्पकारक न होने पर अभक्षणीय फल स्वीकार्य हैं। भोजनोपरान्त आनीत भक्ष्य भी ग्रहणीय है। गुप्त स्थान के चारों ओर दो अंगुल तक शस्त्रकर्म अथवा वस्तिकर्म नहीं करना चाहिए। बौद्ध विनय के अनुसार भिक्षु के लिए मास भक्षण भी निषिद्ध नही है। परन्तु मनुष्य, हाथी, अश्व, कुक्कुर, सर्प, व्याघ्र, भालू और तरक्षु (लकड़बग्घा) के मांस का भक्षण निषिद्ध बताया गया है। यवागू (खिचड़ी) का भोजन बुद्ध के समय लोकप्रिय रहा होगा। उसके भोजन करने से दस गुण बताये गये हैं—

वर्ण, सुख, बल और प्रतिभा का विकास होता है, क्षुधा और पिपासा दूर होती है, वायु को अनुकूल होता है, पेट साफ हो जाता है और अपक्व को पकाता है। यवागू अनेक रोगों की अच्छी दवा है। रोगी को गुड़ और नीरोग को गुड़ का रस दिया जाता। जैसा पहले लिखा गया है, बौद्धधर्म में मांसभक्षण निषिद्ध नहीं था। शर्त यह थी कि वह मांस 'तिकोटिपरिसुद्ध' हो। भिक्षुओं के उद्देश्य से वह न बनाया गया हो। इसलिए अदृष्ट, अश्रुत और अपरिशङ्कित मांस ही भक्षणीय की श्रेणी में रखा गया है।[1]

पांच गोरसों का विधान पहले ही हो चुका था। आगे गहन कान्तार में जाते समय तण्डुल, नवनीत, गुड़, उड़द, मूग, तेल, घी के पाथेय रखने की भी अनुमति दे दी गई। आम्रपान, जम्बूपान, चोचपान, मधुपान, मुद्दिक पान (अंगूर), सालुकपान, और फारुसकपान, तथा अनाज के फल के रस को छोड़कर सभी फलों के रस की, मात्र डाक के रस को छोड़कर सभी पत्तों के रसकी, महुए के पुष्प रस को छोड़कर सभी पुष्परसों के पान की अनुज्ञा दे दी गई।[2] बौद्ध विनय के विकास का यह अष्टम चरण कहा जा सकता है।

कठिन चीवर—वर्षावास समाप्त होने पर कुछ पाठेय्यक भिक्षु तथागत के दर्शन करने भीगते हुए श्रावस्ती पहुंचे। इसी घटना से कठिन चीवर का विधान हो गया। 'कठिन' चीवर वह है जो वर्षावास के बाद संघ की सम्मति से सम्मान प्रदर्शनार्थ किसी भिक्षु को दिया जाय। कठिन चीवर ग्रहीत भिक्षुओं को पांच बातें विहित हैं—विना आमन्त्रण के विचरना (अनामन्त चारो), बिना तीनों चीवर लिए विचरना (असमादान चारो), गण भोजन, इच्छानुसार चीवर ग्रहण करना (यावदत्थ चीवर) तथा चीवर मिलते समय जो वहाँ होगा, वह चीवर उसीका हो जायगा। कठिन चीवर के लिए संघ के समक्ष दृष्टि, अनुश्रावण और धारणा अवश्य होना चाहिए।

कठिन चीवर की उत्पत्ति में आठ कारण हैं—पक्कमन्तिका, निट्ठानन्तिका, सन्निट्ठानन्तिका, नासनन्तिका, सवनन्तिका, आसावच्छेदिका सीमातिक्कन्तिका और सहुब्भारा। यहाँ भिक्षु इस कठिन चीवर का उद्धार कभी अनाशा पूर्वक करता है कभी आशा पूर्वक करता है, कभी करणीय पूर्वक करता है, कभी अपविनय पूर्वक करता है और कभी फासु विहार पञ्चक (सुख पूर्वक विहार वाला) पूर्वक करता है।[3]

---

१. विनय पिटक, महावग्ग, पृ० २५३

२. ” ” ” भेसज्जक्खन्धक

३. ” कठिनक्खन्धक

चीवरक्खन्धक के प्रारम्भ में राजगृह के प्रसंग में जीवक वर्णित किया हुआ है। जीवक सालवती गणिका से उत्पन्न प्रसिद्ध चिकित्सक था, जिसे अभय राजकुमार ने पाला-पोसा था। यहां अनेक रोगों की दवाओं का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग जीवक ने अपनी चिकित्सा पद्धति में किया था। विविध जड़ी बूटियों को घी में पकाकर नासिका रन्ध्रों में डालने से साकेत श्रेष्ठी की भार्या का पुराना शिर दर्द दूर हो गया था। बिम्बिसार के भगन्दर रोग को एक ही लेप में ठीक कर दिया था। राजगृह के एक सेठ के शिर की शल्य चिकित्सा कर उसमें से एक बड़े जन्तु को निकाल दिया था, जो सेठ की मृत्यु का कारण बनने वाला था। जीवक ने वाराणसी के एक श्रेष्ठी पुत्र की अतड़ी में शल्य चिकित्सा द्वारा ही गाँठ निकाली। प्रद्योत के पाण्डु रोग को कषाय वर्ण-रस गंध से युक्त घी पिलाकर दूर किया। तथागत के शरीर को भी विरेचन से जीवक ने शुद्ध किया तथा इसी के साथ प्रद्योत का दिया हुआ एक दुशाला जोड़ा भी बुद्ध को भेंट किया, जिसे उन्होंने स्वीकार किया। इसी प्रकार गृहपति द्वारा प्रदत्त कौशेय और कोजव (कम्बल) को स्वीकार कर लिया गया। बाद में तो भिक्षु के लिए छः प्रकार के चीवर धारण करने की अनुज्ञा मिल गयी—क्षौम, कपास, कौशेय, कम्बल (ऊन), साण (सन), और भंग (मिश्रित)। इन नये चीवरों के साथ पाँसुकूल चीवर भी धारण करना पड़ता था। बौद्ध विनय के विकास का वह नवम् चरण माना जा सकता है।

संघकर्म—संघ का विकास इस समय पर्याप्त हो चुका था। बुद्ध की लोकप्रियता बढ़ गयी थी। इसलिए चीवरदान भी बहुत अधिक आना प्रारम्भ हो गया था। फलत: उनके विभाजन के लिए संघ के कर्मचारियों का चुनाव होना आवश्यक था। इसके लिए एक चीवर प्रतिग्राहक का चुनाव होता था। चीवर प्रतिग्राहक वह हो सकता था जो छन्दागति (स्वेच्छाचारिता), दोष, मोह, भय और गुप्तागुप्त से दूर हो। इसी प्रकार इन्हीं गुणों से युक्त एक चीवर निदहक भण्डागारिक और चीवर भाजक भी चुना जाता था।

चीवर—संघ के इन सभी अधिकारियों के माध्यम से समागत चीवर भिक्षुओं को बांट दिये जाते थे। अयोग्य अथवा बुरे चीवरों को रख दिया जाता था। समागत चीवरों मे उपार्ध (दो तिहाई) भाग श्रामणेरों को भी दिया जाता था। चीवर दुर्वर्ण होने पर मूल, स्कन्ध, त्वक्, पत्र, पुष्प और फल के रंगों से रंग दिये जाते थे। रंगने के लिए नांद, थाल, कूड़ा, घड़ा, दोणी, आदि बर्तन रखने की भी अनुमति दे दी गई थी।

इसी स्कन्धक में चीवर बनाने की विधि भी दी हुई है। संघाटी, उत्तरासंग और अन्तर वासक को काटकर (छिन्नक) बनाया जाता। इसमें कुस, अर्धकुस, मण्डल, अर्धमण्डल, विवर्त, अनुविवर्त, ग्रैवेयक, जांघेयक और बाहुवन्त का ध्यान रखा जाता। चीवर अधिक मिलने पर उन्हें परिमित कर दिया गया। एक भिक्षु अधिक से अधिक तीन चीवर रख सकता था—दोहरी संघाटी, एकहरा उत्तरासंग, और एकहरा अन्तरावासक। अतिरिक्त चीवर बाद में विकल्प के रूप में रखे जाने लगे। पुराने कपड़ों के चीवरों की संख्या इससे भी अधिक निश्चित कर दी गई। मृगार माता विशाखा के कारण भिक्षुओं की वार्षिक साटिका, नवागन्तुक भोजन, गमिक भोजन, रोगी भोजन, रोगी परिचारक भोजन, रोगी भैषज्य और यवागू ग्रहण करने की तथा भिक्षुणियों को उदक साटी रखने की भी अनुमति मिल गई। इसके अतिरिक्त प्रत्यस्तरण (आसन की चादर), प्रतिच्छादन (कोपीन), मुखपुञ्छन चोलक (रूमाल), और परिष्कार चोलक (थैला) रखने का भी विधान हुआ। उपासकों द्वारा दान मे दिये गये चीवरों पर संघ का अधिकार होता था और उन चीवरों का वितरण भिक्षुओं मे संघ ही करता था। परिनिर्वृत भिक्षु अथवा श्रामणेर की सम्पत्ति संघ की सम्पत्ति होती है। इसी प्रसंग मे यह भी बताया गया है कि नग्नता तीर्थिको का आचरण है। बौद्ध भिक्षुओं को उसका आचरण नही करना चाहिए। कुश चीर, अजिन-क्षिप, अर्कनाल, पोत्थक आदि चीवर भिक्षुओं के लिए ग्रहणीय नही। इसी प्रकार सभी नीलक, पीतक, लोहितक, मजिष्ठक, कृष्णक, हरितक, महानाम रक्तक, कञ्चुक, तिरीटक, वेठन आदि प्रकार के चीवर को धारणा करना भिक्षुओ के लिए अनुचित है।[1]

दण्ड-व्यवस्था—चांपेय स्कन्धक में कर्मादि के प्रकार और संघ की गतिविधियो पर प्रकाश डाला गया है। भिक्षु का कर्तव्य है कि वह निर्दोष भिक्षु को उत्क्षिप्त न करे और यदि प्रमादवश उत्क्षिप्त किया हो तो अपने अपराध को स्वीकार कर ले। कर्म साधारणत छ: प्रकार के हैं—अधर्म कर्म, वर्ग कर्म, समग्र कर्म, धर्म प्रतिरूपक वर्ग कर्म, धर्म प्रतिरूपक समग्र कर्म, और धर्म समग्र कर्म। भिक्षुक संघ पाँच प्रकार का होता है—चार, पाँच, दस, बीस और बीस से अधिक भिक्षुओं का संघ। चतुर्वर्ग भिक्षु संघ उपसपदा, प्रवारणा और आह्वान को छोड़कर धर्म समग्र होकर सभी कर्म कर सकता है। पञ्चम वर्ग भिक्षुसंघ आह्वान और मध्यम जनपदो मे उपसंपदा को छोड़ देता है। दशवर्ग भिक्षुसंघ आह्वान को छोड़ता है और विंशति वर्ग अथवा अतिरिक्त विंशतिवर्ग भिक्षुसंघ धर्मसमग्र

१. विनय पिटक, चीवरक्खन्धक

होकर सभी कर्म कर सकते हैं। संघ के बीच उन्मत्त, दीर्घिकगत, मातृ-पितृ घातक आदि भिक्षुओं को प्रतिक्रोधन देना लाभ दायक नहीं, पर प्रकृतिस्थ साधु को प्रति-क्रोधन देना लाभदायक है। वहाँ संघ से निस्सारण और अवसरण के नियम भी दिये गये हैं। इसके बाद अधर्मकर्म, धर्म कर्म, तर्जनीय कर्म, नियस्स कर्म, प्रव्राजनीय कर्म, प्रतिसारणीय कर्म और उत्क्षेपणीय कर्मों का आख्यान है तथा उनकी क्षमायाचना की प्रक्रिया भी दी हुई है।[१]

संघ-विवाद और दण्ड-व्यवस्था—कोशाम्बक स्कन्धक के प्रारम्भ में कौशाम्बीमें हुए भिक्षु संघ के विवाद का उल्लेख है। सम्भव है, यह भाग तथागत के परिनिर्वाण के उत्तरकाल का हो। इसी प्रसंग मे अधर्मवादी और धर्मवादी के चिह्न दिये गये हैं। वैसे, अधर्मवादी वह है जो धर्म, अधर्म, विनय, अविनय, भाषित, अभाषित, आचरित, अनाचरित, अज्ञप्त, प्रज्ञप्त, आपत्ति, अनापत्ति, अवशेष, अनवशेष आदि को प्रतिरूप मे स्वीकार करता है। और धर्मवादी इनको यथा रूप में स्वीकार करते हैं। संघ में कलह उत्पन्न होने पर सारा संघ एकत्रित होता है और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक छन्द (वोट) के माध्यम से संघभेद का उपशमन करता है।[२] छन्द के समय भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर, श्रामणेरी आदि से भी वर्ग (कोरम) की पूर्ति कर ली जाती। कुछ कर्म ज्ञप्ति द्वितीय कहे जाते हैं और कुछ कर्म ज्ञप्ति चतुर्थ (ज्ञप्ति के बाद तीन कर्म वाक्य कहना) कहे जाते हैं। इन दोनों से विरहित कर्म विनय विरुद्ध माना जाता। वर्ग कर्म वह, जिसमे भिक्षु अथवा उनके छन्द एकत्रित न हुए हों। समग्र कर्म वह, जिसमे सभी भिक्षु उपस्थित रहते हो। वर्ग कर्म त्याज्य माना गया है। संघ सामग्री दो प्रकार की है—अर्थ विरहित, परन्तु व्यञ्जनयुक्त एवं अर्थ युक्त तथा व्यञ्जनयुक्त। प्रथम मे सघ मे विवाद होने पर वस्तु का निर्णय किये बिना ही सघ-सामग्री करता है परन्तु द्वितीय मे वस्तु का निर्णय कर लिया जाता है।

चुल्लवग्ग—मे संघभेद, विभिन्न कर्म और उनकी दण्डव्यवस्था के प्रसंग अधिक हैं। लगता है, भगवान् बुद्ध के जीवन समय में ही संघ भेद प्रारम्भ होगया था। देवदत्त, पंडुक, लोहितक आदि भिक्षुओंके प्रकरण इसके उदाहरण हैं। तर्जनीय कर्म—के आरम्भ की कथा भी ऐसी ही कलह से प्रारम्भ होती है। तथागत ने इस कर्म को दुर्भरता, दुस्पुरुषता, महेच्छुकता, असन्तोष, संगणिका और आलस्य की प्रवृत्ति का रूप कहकर उसकी निन्दा की है। तर्जनीय कर्म

---

१. विनय पिटक, चीवरक्खन्धक

२. वही, कोसम्बकक्खन्धक

की दण्ड विधि यह है। संघ पहले कर्ता को प्रेरित करे, फिर स्मरण कराकर अपराध का आरोप करे, तदनन्तर चतुर समर्थ भिक्षु संघ को सूचित करे और ज्ञप्ति, अनुश्रावण और धारणा पूर्वक तर्जनीय कर्म करे। तीन बातों से युक्त तर्जनीय कर्म, अधर्म कर्म, अविनयकर्म, और असंपादित कर्म कहे जाते हैं (१) सम्मुख न किया गया हो। (२) बिना पूछे किया गया हो, और (३) बिना प्रतिज्ञा (स्वीकृति) के किया गया हो। वहाँ बारह अधर्म कर्मों का वर्णन मिलता है। उनसे प्रतिकूल धर्म धर्म कर्म कहे गये हैं। तर्जनीय व्यक्ति वे हैं जो कलहकारी, दुश्शील, अनाचारी, निन्दक और मिथ्यादृष्टि सम्पन्न होते हैं। दण्डित व्यक्ति के लिए उपसम्पदा, निश्रय, उपस्थान, उपदेश, कर्म निन्दा, प्रवारणा आदि का स्थगन कर देना चाहिए। उस भिक्षु के तर्जनीय कर्म को क्षमा नहीं किया जाता जो उपसम्पदा देता हो, निश्रय देता हो, श्रामणेर से उपस्थान (सेवा) कराता हो, भिक्षुणियो को उपदेश देता हो, कर्म (निर्णय) की निन्दा करता हो तथा उपोसथ अथवा प्रवारणा स्थगित कराता हो। नियस्सकर्म की दण्ड-विधि आदि भी लगभग इसी प्रकार की है। प्रव्राजनीय कर्म (संघ निष्कासन) अश्वजित और पुनर्वसु भिक्षु के पापमयी अनाचारो से प्रारम्भ हुआ। अन्य प्रकार के कर्मों की आरम्भ कथा भी इसी प्रकार भिन्न भिन्न है तथा उनकी दण्डविधि, कर्तव्य आदि भी लगभग समान है।

पारिवासिक दण्ड प्राप्त भिक्षु को भी उपसम्पदा निश्रय आदि नहीं दिया जाता, अदण्डित भिक्षु के साथ आवास आदि नही किया जाता। शुक्र त्याग मे छः रोज का मानत्व दण्ड दिया जाता। यदि भिक्षु एक पक्ष तक इस कर्म को छिपाये तो उसे एक पक्ष का मानत्व दण्ड दिया जाता। संघादिसेस के दोष करने पर तदनुसार शुद्धान्त परिवास दिया जाता। कुछ ऐसे दुष्कर्म होते कि भिक्षु का मूल से प्रतिकर्षण कर दिया जाता।

कुछ कर्म छः विनय में सम्मिलित कर दिये गये हैं। भूल होने पर स्मरण कर लेना **स्मृति विनय** है। इससे भिक्षु निर्दोष शुद्ध होकर धर्म से समग्र हो जाता है। उन्मत्त अवस्था दूर होने पर **अमूढ़ विनय** दी जाती है। इसी प्रकार **प्रतिज्ञात करण** (स्वीकृति), **यद्भूयसिक** (बहुमत से उपशमन), **तत्पापीयसिक** और **तिण्णवत्थारक** (तृण जैसा आवृत कर देना) विनय भी प्रचलित थी।

अधिकरण—भिक्षु-भिक्षुणियों के बीच अनेक विषयों पर विवाद होने पर तथागत ने चार अधिकरण बताये—**विवाद अनुवाद आपत्ति और कृत्य**। कुशल, अकुशल कर्म विवाद अधिकरण के मूल हैं। इन्हीं कर्मों से भिक्षु अनुवदन,

अनुबल प्रदान (बल देकर दोषारोपण करना), काय, बचन अथवा मन से आपत्ति अधिकरण होता है और कृत्य अधिकरण का एक मूल है—संघ। ये सभी अधिकरण कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इन अधिकरणों (मुकदमों) के उपशमन की भी प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं। विवाद अधिकरण भिक्षु संघ के सम्मुख उपस्थित होकर तथा यद्-भूयसिक रीति से शान्त हो जाता। इसका निर्णय भिक्षुसंघ छन्द अथवा उद्-बाहिका (चुनी समिति) के माध्यम से करता। ऐसे समय शलाकाओं का भी प्रयोग होता था। शलाकाएँ तीन प्रकार की होती थीं—गूढ़क, सकर्णअल्पक और विवृतक। अनुवाद अधिकरण संमुख, अमूढ, स्मृति और तत्पापीयसिक विनय से शान्त किया जाता। आपत्ति अधिकरण संमुख, प्रतिज्ञात और तिणावत्थारक तथा कृत्य अधिकरण संमुख विनय से उपशमित होती थी।[1]

आभूषण और साज-सज्जा—तथागत ने स्नान आदि के भी नियम निर्धारित किये। इनका समावेश क्षुद्रक वस्तुओं में किया गया। भिक्षु को स्नान गन्धर्व हस्त अथवा चूर्ण आदि से नहीं करना चाहिए। बाली, लटकन, कर्णसूत्र, कटि-सूत्र केयूर, हस्ताभरण, अँगूठी अदि आभूषण धारण नही करना चाहिए। केश, कंघी, दर्पण, लेप, मालिश, नृत्य, गीत, लोमी ऊन, आम्रभक्षण, लिंगच्छेदन, महार्घ चन्दन पात्र रखना भिक्षु के लिए निषिद्ध था। हड्डी, दाँत, सीग, नल, बाँस, काष्ठ, लाख, फल, लोह, फल, शंख का दण्ड सत्थक धारण किया जा सकता है। सत्थक (कैंची), नमतक (वस्त्रखण्ड), सुई, नाली नालिका, किण्ण, और सिपाटिका (गोद) के भी रखने की अनुमति थी। कठिन चीवर का प्रसारण, सिलाई, आवेसन वित्थक, कठिनशाला, स्थविका (थैली) और परिस्रावण (जलगालन) रखना विहित था। मकसकुटिक (मसहरी), ओत्थरक, चँक्रम, जन्ताधर मे सोपान (ईंट, पत्थर, लकड़ी), किवाड़, पृष्ठसपाट, उलूखल, उत्तर पाशक, अर्गलवर्त्तिक, कपिसीसक, सूची, घटक, ताल, छिद्र का निर्माण, धूमनेत्र की रचना, कोष्ठक, उदपान, चन्दनिका (हौज), उदकपुँछन, और पांवड़े का उपयोग भिक्षु के लिए वर्जित नही है। घट, कतक, संमर्जनी, पादघंसनि, विधूपन, तालवण्ट, छत्ता, सिक्का (छीका), दण्ड नखकाटना, केशकर्तन, कर्ण-मलहरणी, अञ्जनिदानी, रखना, विहित है। संघाटी, आयोगपट्ट, घुंडी, वस्त्रादि पहनने का ढंग भी यहाँ निर्दिष्ट है। बोझ ढोना, दन्तवन करना और आग-पशु से रक्षा करना भी विहित है। पस्सावकुम्भ, मालावच्छरोपण, वर्तन, पलंग का उपयोग किया जा सकता है। लसुण (लहसुन) खादन निषिद्ध है।

---

१. चुल्लवग्ग, समुच्चयक्खन्धक।

तिरिच्छान विद्याओं का अध्ययन भी वर्जित है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्धवचनों को छन्द (संस्कृत) में करने की अनुमति बुद्ध ने नहीं दी। प्रत्युत यह कहा कि उन्हें अपनी भाषा (मागधी) मे सीखें—न भिक्खवे बुद्धवचन छन्दसो आरोपेतब्बं। यो आरोपेय्य, आपत्ति दुक्करस्स। अनुजानामि, भक्खवे सकाय निरुत्तया बुद्धवचनं परियापुणितु।[1]

विहार निर्माण—सेनासनक्खन्धक में विहार के निर्माण की प्रक्रिया दी गई है। मूलतः बौद्ध भिक्षुओं के लिए अरण्य, वृक्ष, पर्वत, कन्दरा गिरिगुहा, श्मसान, वनप्रस्थ, मैदान (अब्भोकास) का विधान था। परन्तु बाद मे बुद्ध ने बिहार, अड्ढयोग, प्रासाद, हर्म्य तथा गुहा को निवास स्थान के रूप मे निश्चित किया। यहाँ द्वार, वातायन, शय्या, आसन, विस्तार आदि के विविध रूप दिये गये हैं। विहार-विधान के प्रसंग मे दीवाल की रंगाई, भित्ति-चित्र, सोपान, मञ्चपीठ आलिन्द, उपस्थानशाला, पाठशाला, बिहार, परिवेण, आराम और प्रसाद आदि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। अनाथ पिण्डक द्वारा जेतवन को कोटि सन्थारक हिरण्यों से खरीदकर उसे बुद्ध संघ को भेंट किये जाने का उल्लेख है। उसी जेतवन मे विहारादि बनाये गये। नये घर के निर्माण (नवकर्म) के समय भिक्षुओं को चीवर, पिण्डपात, शयनासन, और ग्लानप्रत्यय भैषज्यों से सत्कृत किया जाता। पूर्व के उपसम्पन्न भिक्षु को पीछे का उपसंपन्न भिक्षु अवन्दनीय है। आराम, बिहार, चौपाई, चौकी, लोहकुम्भ आदि, तथा बल्ली, वेणु आदि वस्तुयें अदेय और अविभाज्य हैं। संघ के बारह कर्मचारियों की चुनाव पद्धति का भी यहां उल्लेख है—भक्त उद्देशक, शयनासन प्रज्ञापक, भाण्डागारिक, चीवर-प्रतिग्राहक, चीवर भाजक, यवागू भाजक, फलभाजक, खाद्य भाजक, अल्पमात्रविसर्जक, शाटिक ग्रहापक, आरामिक, प्रेषक और श्रामणेर प्रेषक।[2]

संघ-भेद—संघभेदक खंधक में संघभेद का इतिहास दिया हुआ है। बौद्धसंघ के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि शाक्यवंशीय राजकुमारों से ही संघ भेद प्रारम्भ हुआ है। भद्दिय शाक्य राजा, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त शाक्य कुमार थे। उन्होंने एक साथ दीक्षा ली। उपालि कल्पक (नाई) भी सम्मिलित हो गया। देवदत्त का प्रारम्भ से ही बुद्ध से विरोध रहा है। लाभ-सत्कार की इच्छा से देवदत्त ने अजात शत्रु को अपने दिव्य चमत्कारों से प्रभावित किया। फलतः देवदत्त के मन मे भिक्षु संघ का नेता होने की कल्पना घर कर गई।

---

१. चुल्लवग्ग, खुद्दकवत्थुक्खन्धक हिन्दी।

२. चुल्लवग्ग, सेनक्खन्धक।

उसने बुद्ध से कहा भी कि आप अब जीर्ण-वृद्ध, महल्लक और अध्वगत हैं। अत: भिक्षु संघ मुझे दे दें। पर बुद्ध ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अधिक बात बढने पर बुद्ध को यह भी कहना पड़ा कि देवदत्त द्वारा कृत कार्यों का उत्तरदायित्व संघ पर नही है। जो भी हो, देवदत्त निश्चित ही आकर्षक व्यक्तित्व रहा होगा। उसने अजातशत्रु को बहकाकर पिता से विद्रोह कराया, बुद्ध की हत्या का प्रयत्न किया, बुद्ध पर पत्थर फेंके और उन पर नील गिरी हाथी को छुड़वाया। इन दुष्कृत्यों से देवदत्त का प्रभाव संघ तथा संघ के बाहर अवश्य निस्तेज हो गया। फिर वह संघ से पृथक् हो गया और पांच सौ वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को साथ लेकर गया चला गया। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन उसे समझाने गये। उनके उपदेश से सभी भिक्षु वापिस हो गये। यह देखकर कहा जाता है, देवदत्त के मुंह से गर्म रक्त प्रवाहित हो पड़ा। देवदत्त की इस अपायिक असद्धर्मक बात को सुनकर उसके अयोग्य आठ कारण दिये हैं—लाभ, अलाभ, यश, अयश, सत्कार, असत्कार, पापेच्छता और पाप-मित्रता। यहाँ संघ की समग्रता पर चोट करना योगक्षेम नाशक बताया गया है।[1]

व्रतस्कन्धक—व्रतस्कन्धक मे नवागन्तुक, आवासिक और गमिक भिक्षु के व्रतों का आख्यान मिलता है। भोजन के समय के नियम, भिक्षाचारी के व्रत, आरण्यक के व्रत, शयनआसन के व्रत, जन्ताघर के व्रत, वच्चकुटी का व्रत, तथा शिष्य-उपाध्याय और अन्तेवासी-आचार्य के कर्तव्यो का भी उल्लेख हुआ है। प्रातिमोक्ष-स्थापन स्कन्धक मे किस भिक्षु के प्रातिमोक्ष को स्थगित करना चाहिए, यह बताया है। इसी प्रसंग मे बुद्धधर्म की विशेषताओ के रूप में उसके आठ अद्भुत गुणो का उल्लेख किया गया है—(१) महासमुद्र जैसा क्रमश: गम्भीर, (२) महासमुद्र जैसा स्थिर धर्मशील (३) आचार भ्रष्ट भिक्षु का निष्कासक, (४) प्रव्रजित होने पर पूर्व का नाम छोड़ देना, (५) अनुपधिशेष निर्वाण प्राप्ति, (६) धर्म विनय एक रस है, (७) धर्मविनय बहुरस वाला है (८) धर्म विनय महान् प्राणियो का निवास है। निर्मूलक शील-भ्रष्टता और आचार-भ्रष्टता के कारण प्रातिमोक्ष स्थगित करना नियम विरुद्ध है। पाराजिक दोषी, शिक्षाप्रत्यास्थानीक, धार्मिक सामग्री का प्रत्यादानक आदि ऐसे बन्धक हैं, जिनके कारण प्रातिमोक्ष नियमानुसार स्थगित कर दिया जाता था।

नारी-प्रवेश—भिक्षुणी स्कन्ध में महिलावर्ग को बौद्धधर्म में दीक्षित होने का विधान प्रस्तुत किया गया है। मूलत: बुद्ध महिलावर्ग को धर्म में दीक्षित

---

१. चुल्लवग्ग, संघभेदकक्खन्धक।

करने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु महाप्रजापती गौतमी की इच्छा ने आनन्द को प्रेरित किया और आनन्द ने बुद्ध के समक्ष अपना पक्ष प्रस्तुत किया। बुद्ध इस शर्त पर नारी वर्ग को दीक्षा देने के लिए तैयार हुए कि वे निम्न लिखित आठ गुरु धर्मों को स्वीकार करें—(१) पुरानी उपसंपन्न भिक्षुणी को नये उपसंपन्न भिक्षु का भी अभिवादन और सत्कार करना चाहिए, (२) धर्मश्रवणार्थ भिक्षु का उपगमन करना चाहिए। (३) प्रतिपक्ष भिक्षु संघ से उपोसथ की पर्येषणा करे (४) वर्षावास की समाप्ति होने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में दृष्ट, श्रुत और परिशंकित स्थानों से प्रवारणा करना चाहिए। (५) गुरुधर्म स्वीकृति संपन्न भिक्षुणी को दोनों संघो में पक्षमानता करनी चाहिए। (६) भिक्षुणी दोनों संघों से उपसंपदा ग्रहण करे। (७) किसी भी प्रकार भिक्षुणी भिक्षु को आक्रोशात्मक शब्द न कहे, और (८) आज से भिक्षुणियों का भिक्षुओं को कहने का मार्ग बन्द हुआ लेकिन भिक्षुओ का भिक्षुणियों को कहने का मार्ग खुला है। महाप्रजापति गौतम ने इन आठ धर्मों को सहर्ष स्वीकार किया। उसी समय बुद्ध ने कहा—आनन्द ! यदि तथागत प्रवेदित धम-विनय मे नारीवर्ग प्रव्रज्या न पाता तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। लेकिन चूंकि आनन्द ! नारी वर्ग प्रव्रजित हुआ अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी नही होगा। सद्धर्म पांच सौ वर्ष ही ठहर सकेगा।

न दानि आनन्द ब्रह्मचरियं चिरट्ठितिकं भविस्सति।
पञ्चेवदानि आनन्द वस्स सतानि सद्धम्मो ठस्सति॥

आठ गुरु धर्म ग्रहण करने पर ही भिक्षुणियों की उपसपदा हो जाती है। भिक्षुणियां भिक्षुओं से प्रातिमोक्ष सीखती और दोष का प्रतिकार करती। इसी प्रकार सघकर्म, अधिकरण शमन और विनय वाचन भी भिक्षुणियों के लिए भिक्षु ही करते हैं। भिक्षु प्रातिमोक्ष का बिकास घटनाओ के साथ और भी होता गया। भिक्षु-भिक्षुणियाँ परस्पर मे कीचड और पानी डालते थे, अपना नग्न शरीर दिखाकर कामेच्छाएँ प्रगट करते थे। यह सुनकर तथागत ने ऐसे अभद्र कृत्यो पर रोक लगायी और तत्सम्बन्धित नियमो का निर्माण किया। उपदेश श्रवण के भी नियम बनाये गये। मालिश, शरीर सज्जा, लेप, चूर्ण, तथा नीले-पीले आदि चीवरो के रखने का निषेध किया गया। असन, वसन, उपसम्पदा, भोजन, प्रवारणा, उपोसथ-स्थान, वाहन का विधान हुआ। भिक्षुणिओ को अरण्यबास का निषेध किया गया। उनके लिए विहारों का निर्माण हुआ। गर्भिणी प्रव्रजिता को सन्तान पालन करने का सीमित अधिकार मिला। मानत्व चारिणी को सहवास के लिए एक भिक्षुणी रखने का नियम बना। इसके अतिरिक्त पुन उपसंपदा ग्रहण, शौच, स्नान आदि सम्बन्धी नियमों का भी विधान किया गया।

विनय पिटक के इस द्वितीय खन्धक (महावग्ग और चुल्लवग्ग) में सम्बोधि से लेकर द्वितीय संगीति तक के विनय का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यहां प्रत्येक नियम और उपनियम की पृष्ठभूमि में घटनाओं का उपस्थापन हुआ है। अर्थात् बौद्ध विनय की उत्पत्ति और विकास घटनाओं के माध्यम से हुआ है। प्रत्येक घटना का विवरण बुद्ध के समक्ष एक ही प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है और बुद्ध प्राय: एक ही प्रकार की शैली में नियम बनाते दिखाई देते हैं। इस भाग में उत्तरकालीन परम्पराएँ भी दिखती हैं। अत: इसमें प्रक्षिप्तांश होना भी संभव है।

विनय पिटक का **परिवार** अथवा **परिवार-पाठ** निश्चित ही एक परिशिष्ट है। अत: उसे उत्तरकाल का होना चाहिए। इसमे शिक्षापद कहाँ, कैसे और क्यों दिये गये, तत् सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर प्रश्नोत्तर शैली मे उपस्थित किया गया है। विषयसूची देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे द्वितीय खन्धक के विषय को ही स्पष्ट तथा संक्षिप्त किया गया है। इस स्पष्टीकरण और संक्षिप्ती-करण मे थोड़ा बहुत वैशिष्ट्य आना स्वाभाविक ही है। कुल मिलाकर इसे हम व्याख्या ग्रन्थ कह सकते हैं।

खन्धक और परिवार के अतिरिक्त विनय पिटक का एक और भाग है जिसे **सुत्त विभंग** कहा गया है। इसमें भिक्खुपात्तिमोक्ख और भिक्खुणी पाति-मोक्ख का विवरण है। बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणिओं के विनय की दृष्टि से यह एक सुन्दर संग्रह है। सामान्यत: इसमे निदान, पाराजिक, संघादिसेस, अनियत, निस्सग्गिय पाचित्तिय, पाटिदेसनिय, सेखिय और अधिकरण समथ नियमों का विवरण समाहित है। मास की प्रत्येक कृष्ण चतुर्दशी तथा पूर्णिमा को उस स्थान मे रहने वाले सभी भिक्षु उपोसथागार मे एकत्रित होकर इन प्रातिमोक्ष नियमों की आवृत्ति करते हैं।

भिक्खु पतिमोक्ख—निदान पतिमोक्ख की भूमिका जैसा है। **पाराजिक** अपराधों के करने से भिक्षु सदैव के लिए भिक्षुत्व अवस्था से दूर हो जाता है। ऐसे अपराधों में मैथुन, चोरी, मानव-हत्या और दिव्य शक्ति (उत्तरि मनुष्यधर्म) का दावा करना प्रधान है। **संघादिसेस** में संघ कुछ समय का परिवास देता है। ये अपराध तेरह हैं—वीर्यमोचन, स्त्री का अंग स्पर्श, कामवार्तालाप, मैथुनेच्छा व्यक्त करना, मैथुन के लिए दूत कार्य, कुटी निर्माण में प्रमाण का अतिक्रमाण करना। कठिन स्थान में कुटी बनवाना, पाराजिक का निर्मूल दोष लगाना, ८-९ संघ मे मतभेद पैदा करना, संघ में मतभेद करनेवालों का साथ देना। शिक्षापदो को अनसुनी कर देना, और कुलों को दूषित करना।

कुछ ऐसे अपराध हैं जो पाराजिक संघादिसेस, और पाचित्तिय दोषों में किसी एक मे नियत नही हो पाते। इसीलिए उन्हें **अनियत** कह जाता है। मैथुन सम्बन्धी ऐसे दो अपराधों का उल्लेख पातिमोक्ख में हुआ है। कुछ ऐसे अपराध होते हैं जिनका प्रतिकार संघ, अधिकांश भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर छोड़ देने पर हो जाता है। ऐसे अपराध **निस्सग्गिय-पाचित्तिय** कहलाते हैं। इसमें कठिन चीवर और चीवर सम्बन्धी ग्यारह, आसन सम्बन्धी पाँच, स्वर्ण-रजत, पैसे आदि के व्यवहार सम्बन्धी दो, क्रय-विक्रय, पात्र सम्बन्धी दो, भैषज्य, चीवर सम्बन्धी (६) संघ लाभ को अपना बताना, ये २८ दोष गर्भित हैं। **पाचित्तिय** दोष ९२ हैं—भाषण सम्बन्धी चार, सहवास सम्बन्धी दो, धर्मोपदेश, दिव्यशक्ति प्रदर्शन, अपराध प्रकाशन, भूमि खोदना, वृक्ष काटना, संघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, साघिक वस्तुओं मे असावधानी सम्बन्धी छः, बिना छना पानी पीना, भिक्षुणियों को उपदेश देने आदि सम्बन्धी दस, भोजन सम्बन्धी दस, अचेलक सम्बन्धी दस, मद्यपान, उपहास सम्बन्धी चार, आग तापना, स्नान, चीवर पात्र सम्बन्धी तीन, प्राणातिपात सम्बन्धी दो, कलह करना, अपराध छिपाना, बीस वर्ष से कम व्यक्ति को उपसम्पन्न करना, चोर अथवा स्त्री के साथ यात्रा करना, मिथ्या दृष्टि सम्पन्न होना—३, धार्मिक बात को अस्वीकार करना, प्रातिमोक्ष सम्बन्धी दो, पीटना, धमकाना, सघा-दिसेस का दोषारोपण करना, भिक्षु को सन्देह उत्पन्न करना, छन्द सम्बन्धी—३, सांघिक लाभ में भाँजी मारना, राजप्रासाद मे प्रवेश करना, बहुमूल्य वस्तु को अन्यत्र ले जाना, अपराह्न मे गांव जाना, सूचीघर, चौकी, शय्या, वस्त्र सम्बन्धी दोष—६। **पाटिदेसनीय** में भोजनग्रहण और भिक्षुणी सम्बन्धी चार दोष हैं। **सेखिय** (शिक्षणीय) नियम वे हैं जिन्हे लोग सीखते हैं। ऐसे नियम ७५ हैं—गृहस्थो के घरों मे जाने, उठने, बैठने सम्बन्धी—२६, भिक्षान्न ग्रहण और भोजन सम्बन्धी—३०, कैसे व्यक्ति को उपदेश नही देना चाहिए—१६, और मलमूत्र सम्बन्धी—३। **अधिकरण समथ** मे विवाद शान्ति के सात उपाय बताये गये। इस प्रकार भिक्खुपातिमोक्ख के ४+१३+२+३०+९२+४+७५+७=कुल २२७ नियम-अधिनियम हैं।

भिक्खुणी पातिमोक्ख—भिक्खुणी पातिमोक्ख भी लगभग भिक्खु पातिमोक्ख का अनुगामी है। यहाँ **पाराजिक** के ८ दोष हैं—मैथुन, चोरी, मानवहत्या, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, कामासक्ति के विविध कार्य, सघ से निष्कासित भिक्षु का अनुगमन तथा कामासक्ति से पुरुष का स्पर्श करना। **संघादिसेस** सम्बन्धी १७ दोष हैं—पुरुषो के साथ विहार करना, चोरनी या बध्या को भिक्षुणी बनाना, अकेले घूमना, संघ से निष्कासित भिक्षुणी का साथ करना, कामासक्ति

के कार्य, पाराजिक का दोषारोपण, धर्म का प्रत्याख्यान, भिक्षुणियों की निन्दा करना, दुराचारिणियों का सम्पर्क करना, संघ में मतभेद पैदा करना, सुनी बात को अनसुनी करना, और कुलदूषित करना। तीस अपराध निस्सग्गिय पाचित्तय सम्बन्धी हैं—पात्र-संचय, चीवर, वस्तुग्रहण, कठिन चीवर और चीवर, स्वर्ण, रजत पैसे आदि का व्यवहार, क्रय-विक्रय, पात्र बदलना, भैषज्य, चीवर, संघलाभ सम्बन्धी दोष। पाचित्तिय में १६६ दोषों का समाहार है। लहसुन भक्षण, कामासक्ति के कार्य, भिक्षु सेवा, कच्चा अनाज, मल-मूत्र विसर्जन, नृत्य-गान, पुरुष के साथ एकान्त में रहना, गृहस्थों के आवासों में जाना-बैठना, भिक्षुणी को सन्देहग्रस्त बना देना, अभिशाप देना, देहपीटकर क्रन्दन करना, स्नान, चीवर, दो भिक्षुणियों के साथ सोना, भिक्षुणी को तंग करना, रोगी शिष्या की सेवा न करना, उपाश्रय देकर निष्कासित करना, विचरना, तमाशा देखना, कुर्सी-पलंग का उपयोग करना, सूत कातना, गृहस्थों जैसे कार्यकलाप करना, विवादशान्त न करना, स्वयं भोजन देना, आश्रय की वस्तुओं में असावधानी करना, तिरच्छीन विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, भिक्षुवाले आराम में प्रवेश करना, निन्दा करना, तृप्ति के बाद भी खा लेना, गृहस्थों से डाह करना, भिक्षुओ रहित स्थान में वर्षावास करना, प्रवारणा, उपदेश-श्रवण और उपोसथ, गुह्यस्थान के गण्डक को भिक्षु से निकलवाना, भिक्षुणी बनाना, छाता, जूता, वाहन, आभूषण आदि का शृङ्गार, भिक्षु के समक्ष आसन पर बैठना, प्रश्न पूछना, कंचुक बिना गाँव मे जाना, भाषण की अनियमता, उपसंपदाहीन भिक्षुणी के साथ सोना, पुरुषों को धर्मोपदेश देना, दिव्यशक्ति का प्रदर्शन, अपराध प्रकाशन, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, संघ के पूछने पर चुप रहना, निन्दा करना, बिना छना पानी ग्रहण करना, भोजन सम्बन्धी दोष, सोना, मद्यपान, उपहास, आग तापना, स्नान, चीवर-पात्र, प्राणिहिंसा, कलहवृद्धि, यात्रा के साथ चलना, मिथ्यादृष्टि धारण करना, धार्मिक बातों को अस्वीकृत करना, प्रातिमोक्ष, मारना, धमकाना, संघादिसेस का दोषारोपण, छन्ददान, सूचीघर, चौकी, चारपाई, और वस्त्र सम्बन्धी दोष। पाटिदेसनीय दोष केवल चार हैं। इनमे भक्षणीय वस्तु को माँगकर रखना विशिष्ट है। सेखिय ७५ हैं ही। अधिकरण समथ भी चार ही हैं। इस प्रकार भिक्खुनी पातिमोक्ख के कुल ८+१७+३०+१६६+८+७५+७ = ३११ दोष-नियम बताये गये हैं।

तुलना—भिक्खु पातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख देखने से यह स्पष्ट है कि दोनों के विनय-नियमों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो भी अन्तर है, वह उनकी मर्यादा और स्थिति के कारण है। विनय पिटक के अध्ययन से

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक नियम किसी घटना विशेष की पृष्ठभूमि में स्थापित किया गया है। घटनाओं के आधार पर ही उनका उत्तरकाल में विकास हुआ है। कुछ नियम ऐसे भी हैं जो मात्र उसी समय के लिए थे। शायद इसीलिए तथागत ने कहा था "इच्छा होने पर संघ मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षापदों को छोड़ दें।[1] विनय पिटक में द्वितीय संगीति तक का विकसित विनय तो मिलता ही है। तृतीय संगीति के काल की परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले विनय नियमों की भी रूपरेखा विनय पिटक मे उपलब्ध है। पातिमोक्ख को विनय पिटक का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है अथवा उसे खन्धक के बाद का और परिवार के पूर्व का भी माना जा सकता है। बाद के भिक्षु सम्प्रदाय के लिए यही विनय पिटक प्रस्थानक ग्रन्थ बन गया। उत्तर कालीन सम्प्रदायों में भी हर नियम बुद्ध के मुख से निर्धारित कराया गया है।

पालि विनय पिटक के अतिरिक्त चीनी भाषा मे इसके छह संस्करण और मिलते हैं—१. जुजुरित्सु (सर्वास्तिवादी विनय), २. शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय), ३. मकसोगि-रित्सु (महासांघिक विनय), ४. कोन-पोन-सेत्सु-इस्से-उबु (सर्वास्तिवादी विनय), ५. गोबुन-रित्सु (महिंसासक विनय), और ६. विनय (सामान्य)। चीनी भाषा मे इनकी व्याख्यायें भी मिलती है—१. विनि-मो-रोन् (विनय मातिका वण्णना), २. मोतो-रोग-रोग (मातिका वण्णना) ३. जेन्-केन्-रोन् (पाकट वण्णना), ४. सब्बत-रोन् (विभाषा वण्णना), और ५. म्यो-र्यो-रोन् (पाकट वण्णना)। इनमे शिबुन-रित्सु (धर्मगुप्तिक विनय) चीनी और जापानी बौद्धधर्म विनय की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। आकार-प्रकार भी इसका बड़ा है। पालि विनय से इसी की तुलना की जा सकती है। शेष संस्करण तो अल्पकायिक हैं। इनके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियों के विनय का एक तिब्बती संस्करण (सो-सोर-थर्-पा) भी उपलब्ध है। इन तीनों संस्करणो मे उपलब्ध शिक्षापदों की तुलना इस प्रकार है[2]—

शिक्षापद	पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
१. पाराजिका	४	४	४
२. संघादिसेसा	१३	१३	१३
३. अनियत धम्मा	२	२	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०	३०	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२	९०	९२

१. दीर्घनिकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त।

२. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. ३४३-४४.

शिक्षापद		पालि सं०	चीनी सं०	तिब्बती सं०
६. पटिदेसनिया धम्मा		४	४	४
७. सेखिया धम्मा		७५	१००	१०६
८. अधिकरणसमथा धम्मा		७	७	७
	कुल	२२७	२५०	२५८

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि केवल शैक्ष्य सम्बन्धी (सेखिया धम्मा), और पातयन्तिक (पाचित्तिया धम्मा) विनय मे तीनों संस्करणों में अन्तर है। इनमें सेखिय धम्मा तो मात्र बाह्य शिष्टाचारों से सम्बन्धित नियम हैं। उनमे विभेद होना स्वाभाविक है। अतः यह विभेद विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। महाव्युत्पत्ति मे शायद इसीलिए इन नियमो को 'सबहुलाः शैक्ष्यधर्माः' कहा गया है। इनका निर्माण देश, काल, और परिस्थितियों के अनुसार होता है। पाचित्तिय धम्मा का विभेद अवश्य महत्वपूर्ण माना जा सकता है। इतनी लंबी परम्परा में यह विभेद होना स्वाभाविक भी है। वैसे कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध विनय मे उनके विभिन्न सम्प्रदायो के बीच विशेष अन्तर नही है। जो अन्तर है भी वह समय, सीमा और परिस्थितियों के सन्दर्भ मे अनपेक्षित नही कहा जा सकता। हाँ, वज्रयान आदि उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख बौद्ध सम्प्रदाय मूल विनय से अवश्य अधिक पतित हो गये थे।

सूत्रकृताग की टीका व विवरण मे बौद्ध धर्म व दर्शन की लगभग ९–१० वी शती तक की गतिविधियो का परिचय उपलब्ध होता है। इन गतिविधियों को हम स्थूल रूप से दो भागों मे विभाजित कर सकते है—

बौद्धाचार और बौद्ध विचार

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय मूल बौद्ध धर्म के आचार-विचार से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। आवश्यकता पड़ने पर आचार शिथिलता को बुद्ध ने क्षम्य माना था। यही शिथिलता अग्रिम आचार शिथिलता की जननी रही और एक दिन बौद्ध सम्प्रदायों के परस्पर आचार–विचार मे पूर्व–पश्चिम व उत्तर–दक्षिण जैसा भेद उत्पन्न हो गया। जैनाचार्य बौद्धों की इस शिथिलता के विरोधी प्रारम्भ से ही रहे हैं। सूत्रकृतांग मे भी इसी विरोध के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

सूत्रकृताग मे बौद्धों पर प्राणातिपात, अदित्तादान, मृषावाद, मैथुन व परिग्रह रखने का दोषारोपण किया गया है। इन दोषों का मुख्य कारण यह था कि बौद्ध अत्यन्त असंयत हो गये थे। उनका कहना था—सुख से सुख की प्राप्ति होती है, दुःख से सुख नही मिलता। अतः लुञ्चन आदि से मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नही। यह आचार धारणा बन जाने पर वे उक्त

पंच पापों में अभिरत हो जाते हैं।[१] जिनदास गणि और शीलांकाचार्य ने इस मत को एकमत से बौद्धमत माना है। शीलांक ने तो बौद्धों पर सावद्य अनुष्ठान करने तथा गो, महिष्यज, उष्ट्र, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पदादि परिग्रह रखने का दोषारोपण स्पष्ट रूप से किया है। आगे की गाथा में 'एवमेगे उपासत्था' में आये हुए पासत्थ शब्द का अर्थ पार्श्वस्थ किया गया है और इन पार्श्वस्थों में शीलांक ने बौद्धों को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ कुशील सेवक तथा स्त्री परिषह से पराजित बनाये गये हैं। इसलिए अनार्य कर्मकारी होने के कारण उन्हें अनार्य भी कह दिया गया। उनके अनुसार प्रियादर्शन सदैव बना रहे। उसके समक्ष अन्य दर्शनों की क्या आवश्यकता! उसी सराग चित्त से निर्वाण प्राप्ति होती है।

प्रियादर्शन मेवास्तु किमन्यै दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥[२]

आगे की गाथाओं में कहा गया है कि बौद्धों के अनुसार जैसे पके हुए फोड़े को फोड़ने पर राध, रुधिर निकालने से मुहूर्त मात्र मे आराम हो जाता है वैसे ही विषय भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सम्पर्क करने मे कौनसा दोष है? और भी अनेक उदाहरण दिए गये हैं। यथा—जैसे कंपिजल पक्षी आकाश में उड़ता हुआ जल-पान करता है, पर जल को कष्ट नहीं देता उसी प्रकार प्रार्थना करने वाली स्त्री से कामभोग सेवन करने में क्या दोष! जैसे भेड़ अपने घुटनों को पानी में झुकाकर पानी को गन्दा किये बिना ही धीरे-धीरे स्थिरता पूर्वक पीता है उसी प्रकार राग रहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित किये बिना स्त्री के साथ संभोग करता है। इसमें कोई दोष नहीं। वृत्तिकार ने यह मत नीले वस्त्र वाले बौद्ध विशेषों (बौद्ध विशेषा: नीलपटादयो) का माना है।[३] बौद्धों मे कौनसा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, अज्ञात है। सम्भव है कोई वज्रयानादि बौद्ध शाखा रही हो।

अन्यत्र कहा है कि वे शाक्यादिक सचित्त जलपान, (अप्रासुक जल) सचित्त बीजयक्षज तथा उद्दिष्ट भोजन कर आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म अवेदज्ञ तथा

---

१. इह मेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
   जे तत्थ अरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥ ३. ४. ६.
   पाणाइवाते वहंता, मुसावादे असंजता।
   अदिन्नादाणे वहंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥ ३. ४. ८.

२. सूत्र. वृत्ति, पृ. ९७।१ (शीलांकाचार्य कृत विवरण सहित
   आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित, १९१७)

३. वही, ३. ४. १०-१३ वृत्ति, पृ. ९७-९८; मिलाइये, चित्तविशुद्धिप्रकरण, ४७

असमाधिवन्त हैं ।[1] शीलांक ने लिखा है कि शाक्य भिक्षु मनोहर आहार, वसति, शय्यासनादिक राग के कारणों का ध्यान करते हैं, उपयोग करते हैं। संज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं ।[2] जैसे ढंक, कंक, कुरल, मंगु इत्यादि पक्षी मत्स्य गवेषण के लिए कलुषता युक्त ध्यान करते हैं वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु दुष्ट ध्यान करते हैं ।[3]

'सातं सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते है कि जिस प्रकार शालि बीज से शाल्यङ्कुर ही होता है, यवांकुर नही, उसी प्रकार सुख से ही मुक्ति मिल सकती है, दुख से नही। कहा है—मनोज्ञ भोजन कर मनोज्ञ शय्या पर सोकर तथा मनोज्ञ घर में रहकर मुनि ध्यान करता है—

मणुण्णं भोयण भोज्जा मणुण्ण सयणासणं ।
मणुण्णंसि अगारंसी मणुण्णं झायए मुणी ॥

यह उल्लेख किस ग्रन्थ से शीलांकाचार्य ने किया है, अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है तो और भी महत्वपूर्ण है। यह असंभव भी नही। उत्तरकाल मे बौद्धों ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत धम्मपद इसका प्रमाण है।

उक्त आलोचना जैसी आलोचना और भी की गई है कि बौद्ध भिक्षु अत्यन्त कोमल शय्या पर सोते हैं। प्रातःकाल उठकर दुग्धादि का पान करते, दोपहर मे भोजन करते, अपराह्न मे पुनः कोई पेय द्रव्य लेते तथा अर्धरात्रि में द्राक्षा खण्ड और शर्करा लेते। इसी दिनचर्या से शाक्यपुत्र मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया भक्त मध्ये पानक चापरान्हे ।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्द्ध रात्रे मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥[4]

आगे इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है और सम्यक्ज्ञान पूर्वक कृत तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है। परमार्थ चिन्तक महापुरुष के लिए यह कष्ट भी सुख का कारण है ।[5]

---

१. ते य बीओदकं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंत्ति, अखेयन्ना असमाहिया ॥ सूत्र. ११. २६

२. मणुण्ण भोयणं भुज्जे················ ।
मंसनिवत्ति काण्डं सेवइ दंतिक्क गंति धगिमेया ।
इय च चइउणारभं परववएसा कुणइ बालो । वही

३. वही, ११. २७. २८.

४. वही, १. ३. ४. ६. की वृत्ति पृ. ९६.

५. वही

तण संथारनिवण्णो वि मुनिवरो यढ रागमय ओहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ? ।।

तथा —

दुःखं दुष्कृत संशयाय महतां क्षान्ते पदं वैरिणा ।
कायस्याशुचिता विराग पदवी संवेग हेतुर्जरा ।।
सर्व त्याग महोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थान विपत्तेः कुतः ।।

बौद्ध भिक्षुओं की आचार-शिथिलता देखकर सूत्रकृतांग मे उन्हें अनार्य मिथ्यादृष्टि कहा गया है तथा यह कहा गया है कि जिस प्रकार जात्यन्ध पुरुष छिद्र वाली नौका में चढ़कर जब समुद्र पार करने की इच्छा करता है तो समुद्र मे ही डूब जाता है वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु कर्माश्रव की अधिकता से नरकादिक के दुःख प्राप्त करते हैं। वे मुक्ति पथ से विमुख हो जाते हैं।[1]

बौद्ध साधुओ का यह आचार निश्चय ही उत्तर कालीन बौद्ध भिक्षुओ का आचार रहा होगा जिसका उल्लेख शीलांकाचार्य ने विशेष रूप से किया है। यह नवी-दसवी शती के बौद्ध जीवन का आँखों देखा वर्णन होगा। उस समय बौद्ध धर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अत: यह आचार शैथिल्य असंभव नही। थेरगाथा मे भविष्य के भिक्षुओ की आस्था व दिनचर्या का वर्णन किया गया है जो उक्त वर्णन से मिलता-जुलता है। थेरगाथा के प्रणयन काल मे बौद्ध भिक्षुओं मे यह शिथिलता आ चुकी होगी जिसकी चरम परिणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि पुरुषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओ की चर्या दूसरी थी पर अब कुछ और ही हो गई है। पहिले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्माश्रव को दूर करने मे दत्तचित्त रहते, पर अब ऐसे भिक्षु अत्यल्प हैं।[2]

---

१. जहा आसावणं नावं जाई अंधो दुरुहिया।
इच्छई परमागं तु अन्तराय विसीयं ।।
एव तु समणा एगे मिच्छादिट्ठी अणारिया।
सोयं कसिणमावन्ना आगंतारो महाभ्यं ।। सू. १. ११. ३०-३१.

२. अञ्ञथा लोपनाथम्हि तिट्ठन्ते पुरिसुत्तमे।
इरिय असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानि दिस्सति। थेरगाथा ९२१
सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा ।। थेरगाथा ९२८

यहीं यह शंका भी व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जायगा। ये पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसों जैसी खेल रही हैं। वासनाओं के वश में होकर वे सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति मे यत्र तत्र दौड़ लगा रहे हैं। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते है। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं और गृहस्थों से अधिकाधिक प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। वे भिक्षु औषध के विषय में वैद्यो की तरह हैं, कामधाम मे गृहस्थो की तरह हैं, विभूषण में गणिकाओं की तरह हैं और प्रताप मे क्षत्रियों की तरह है। वे धूर्त हैं, वाञ्चनिक हैं, ठग हैं और असंयमी हैं तथा आमिष का उपभोग करने वाले हैं।[1] लोभ के वशीभूत होकर धनसंग्रह करते, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते, संघ के भीतर संघर्ष करते व परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नही होते।[2]

मांस भक्षण—सूत्रकृताग मे जिनदासगणि व शीलाक ने बौद्ध धर्म को क्रियावादी अथवा कर्मवादी दर्शन माना है। उनके इस दर्शन की कर्म विषयक मान्यता को दुःखस्कन्ध वर्धक माना है। कम्मचितायणट्ठाण ससारस्स पवड्ढणं (२. १. २४)। चूर्णिकार ने दुःखस्कन्ध का अर्थ कर्मसमूह माना व वृत्तिकार ने आसातोद परम्परा। दोनो व्याख्याओ मे कोई अन्तर नही है।

निर्युक्तिकार ने बताया कि परिज्ञोपचित (मनोव्यापार) अविज्ञोपचित (शरीर व्यापार) ईर्यापथ व स्वप्नान्तिक ये चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नही होते—"चतुर्विध कर्म नोपचीयते भिक्षु समय।" इसी प्रसंग मे उन्होने बताया कि प्राणी, प्राणिज्ञान, घातकचित, घातकक्रिया और प्राण वियोग ये पाँच कारण हिंसा के है। उक्त चतुर्विध कर्म मे ये पाँच कारण नही होते। अत हिसा नही।

जैसे दीवाल पर फेंकी गई धूलि स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन कर्मों का उपचय नही होता। कर्म बन्ध के तीन कारण है कृत, कारित व अनुमोदन। इनमे भाव-विशुद्धि के कारण कर्म का उपचय नही होता। इसके समर्थन मे एक उदाहरण दिया गया है कि जैसे राग द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बडी विपत्ति के समय उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर उसका माँस भक्षण

---

१. भेसज्जे सु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसायं इस्सरे खत्तिय यथा॥
नेकतिका वञ्चनिका कूटसक्खी अपाटुका।
बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे॥ वही. ६३८.६

२. वही, ६४०-६४२.

करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार साधु भी मांस भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता—

पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असं जये।
भुञ्जमाणो य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पई ॥[1]

संयुक्त निकाय में इस प्रकार की एक कथा मिलती है जहाँ शरीर सामर्थ्य बढ़ाने के उद्देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध कर उसका माँस भक्षण कर लेता है फिर भी बौद्ध धर्म की दृष्टि से पिता बधक (हिंसक) नही। यह आपपातिक नियम है। नायाधम्मा कहाओ के सुंसुमा अध्ययन में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख आता है। सूत्रकृतांग केवल मन: प्रद्वेषो अपि अनवद्य कर्मोपचयाभाव" इस मत का खण्डन किया गया है।[2] कहा गया है कि उसके चित का विकल्प व्यापार हिंसा का कारण है। परव्यापादित पिशितभक्षणे पर" हस्ताकृष्टाङ्‌गारिदाहाभावपन्न दोष' यह मत भी ठीक नही क्योंकि परोक्ष अनुमति तो इसमे रहती ही है।

मानसिक संकल्प ही बौद्ध मत मे हिंसा का कारण है। जैसे तिल अथवा सरसों की खली के पिण्ड को पुरुष मानकर कोई उसका नाश करे तो उसे हिंसा का दोष लगेगा इसके विपरीत पुरुष को खली समझकर अथवा कुमार को अलाबु समझकर उसका नाश करने वाला प्राणिबध का दोषी नही होता। इतना ही नहीं इस प्रकार की बुद्धि से पकाया गया पुरुष अथवा कुमार का माँस बुद्धो के भोजन के लिए विहित माना गया है। इस प्रकार पकाए हुए माँस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोग्य नामक देवयोनि मे जन्म लेते हैं। बौद्ध मतावलम्बियों की इस मान्यता को आद्रक कुमार खण्डित करते हुए कहते है कि खली को पुरुष समझना अथवा अलाबु को कुमार समझना कैसे सम्भव है? ऐसा समझने वाले अज्ञानी है। वे औद्देशिक माँस का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद मे आसक्त हैं।[3]

सूत्रकृतांग के क्रियास्थान नामक द्वितीयाध्यान मे विविध क्रियास्थानो का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का तात्पर्य है—प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रवृत्तियों के विविध काम होते हैं। इन्ही कारणों को क्रियास्थान कहा गया है। ये क्रियास्थान दो प्रकार के हैं—धर्मक्रिया स्थान और अधर्मक्रिया स्थान। अधर्मक्रिया के १२ व धर्मक्रिया का एक भेद है। इस प्रकार कुल भेद क्रियास्थान के १३ हैं।

---

१. सूत्र. प. २. २. २८।
२. वही, १. २. २. २९ वृत्ति भी देखिये।
३. वही, २. ६. २. ४२।

बौद्ध मत के अनुसार हिंसा ५ अवस्थाओं में संभावित है। अतएव अकस्मात दण्ड, अनर्थ दण्ड वगैरह को वहाँ हिंसा रूप नहीं गिना जा सकता।

सूत्रकृतांग के इन बौद्धाचार सम्बन्धी उल्लेखों के देखने से स्पष्ट है कि उत्तर कालीन बौद्ध सम्प्रदाय अत्यधिक शिथिल हो गये थे। अपने धर्म के परिपालन में माँस भक्षण उनमें अधिक प्रचलित था। भले ही वह त्रिकोटिपरिशुद्ध रहा हो। पालि साहित्य मे भी बौद्धों को माँस भक्षण करते हुए देखा गया है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्ध संघ के लिए माँस मिश्रित भोजन (सीहसुत्त) देता है जिसका तीव्र विरोध निगण्ठों ने किया इसका। मूल कारण यह है कि दोनों धर्मों में माँस-भक्षण अथवा अहिंसा की परिभाषा ही भिन्न रही है।

बौद्ध विनय की शिथिलाचार वृत्ति के इतिहास-दर्शन से यह स्पष्ट है कि विनय की विकास परम्परा महायान मे एकायक नही आयी प्रत्युत उसके सूत्र बुद्धकाल से ही जुटते रहे। भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख की संरचना जिन घटनाओं के आधार पर हुई है उससे यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि बौद्ध संघ मे आचारहीनता प्रारम्भ हो चुकी थी। वहाँ प्राय: षड्वर्गीय भिक्षु और सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं तथा थुल्लनन्दा, सुन्दरीनन्दा और षड्वर्गीय भिक्षुणियों के माध्यम से विनयशैथिल्य के प्रसग एकत्रित किये गये हैं। पर थेरगाथा के पारापरिय और फुस्स जैसे भिक्षुओं का भविष्य के बौद्ध भिक्षुओं के आचारदर्शन के प्रति अनुमान—कथन हमे यह कहने को बाध्य करता है कि तबतक संघ में पर्याप्त भ्रष्टाचार चल पड़ा था। वज्रयान आदि शाखाओं मे उसी आचार का वृद्धिङ्गत रूप उपलब्ध होता है।

स्थविरवाद के बाद सर्वास्तिवाद भी एक प्रभावक बौद्ध सम्प्रदाय हुआ है। महावस्तु उनका विनय ग्रन्थ माना जाता है (पृ. ३)। परन्तु पूरे ग्रन्थ के देखने से यह सही नहीं लगता। वह विनय नही बल्कि भगवान् बुद्ध की लोकोत्तरवादी जीवनगाथा है। इसका लेखक और काल भी एक नही माना जा सकता। इस महावस्तु (पृ. १) मे बोधिसत्व की चार प्रकार की चर्यायें कही गयी हैं—प्रकृतिचर्या (कुशलमूलों का अवरोपण), प्रणिधानचर्या (कुसलमूल प्रणिधान), अनुलोमचर्या (चक्रवर्तीभूत) और अनिवर्तनचर्या (तथागत होने की प्रतिज्ञा)। इसी प्रकार चार उपसम्पदाओं का भी उल्लेख है—स्वामी उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेन गणेन उपसम्पदा, और पञ्चवर्गेन गणेन उपसम्पदा।

स्थविरवाद की अपेक्षा मूलसर्वास्तिवाद मे विनय-नियमों की संख्या अधिक है। विनय पिटक (हिन्दी अनुवाद) की भूमिका मे श्री महा-राहुल सांकृत्यायनने स्थविर-वाद और मूलसर्वास्तिवाद में आगत विनय नियमों की तुलना से भी यह स्पष्ट है।

१. भिक्षु नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	४	४
२. संघादिसेस	१३	१३
३. अनियत	२	२
४. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३०
५. पाचित्तिय	९२	९०
६. पाटिदेसनिय	४	४
७. सेखिय	७५	११२
८. अधिकरण-समथ	७	७
	२२७	२६२

२. भिक्षुणी नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
१. पाराजिक	८	८
२. संघादिसेस	१७	२०
३. निस्सग्गिय-पाचित्तिय	३०	३३
४. पाचित्तिय	१६६	१८०
५. पाटिदेसनिय	८	८
६. सेखिय	७५	११२
७. अधिकरण-समथ	७	७
	३११	३७१

उक्त तुलना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भिक्खुणी विनय मे भिक्खुविनय की अपेक्षा नियमों की संख्या अधिक है। स्थविरवाद भिक्खुणी विनय में पाराजिक चार, संघादिसेस चार, पाचित्तिय चौहत्तर, और पाटिदेसनीय चार, नियम अधिक हैं। अनियत नियम भिक्खुणी विनय मे हैं ही नहीं। निस्सग्गिय-पाचित्तिय, सेखिय और अधिकरणसमथ दोनों में समान हैं। मूलसर्वास्तिवादी विनय मे नियमों की यह संख्या और अधिक हो गई है। लगता है, भिक्षुणियों के स्वतन्त्रता देने के बावजूद उन पर प्रतिबन्ध अपेक्षाकृत अधिक थे। निष्पक्ष रूप से यदि विचार किया जाय तो भगवान् बुद्ध भी नारी वर्ग के प्रति अधिक उदार नही हो सके। पार्श्वनाथ और महावीर भी नही हुए। इसका कारण शायद यही रहा हो कि नारी की जन्मजात कमजोरियों से ये महापुरुष अपरिचित नही थे।

बौद्ध विनय के अधिकांश नियम जैन विनय से प्रभावित जान पड़ते हैं। वर्षावास आदि के नियम स्पष्ट रूप से जैन नियमों को देखकर बनाये गये हैं। निसीथसूत्र और पातिमोक्ख की भाषा, शैली और विषय की समानता इस सन्दर्भ मे उपेक्षणीय नहीं है। आवश्यकता यह है कि जैन और बौद्ध विनय का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। श्रमण संस्कृति के विवेचन के समय हमने ऐसा प्रयत्न किया है।

१. उपासक विनय

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी विनय के साथ बौद्ध उपासक विनय के सन्दर्भ मे भी विचार करना आवश्यक है। अनेक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों का मत है कि बौद्धधर्म में उपासक का कोई स्थान नही। तथागत की धर्मोपदेशना तो मात्र सन्यस्तों के लिए ही रही। परन्तु बौद्ध साहित्य के देखने से यह विचारणा पूर्णतया भ्रान्तिकारी सिद्ध हो जाती है। गृहस्थ का कर्तव्य क्या है और उसके जीवन की उन्नति किन उपायों से हो सकती है, इन प्रश्नो का उत्तर भगवान् बुद्ध ने अपने व्यावहारिक दृष्टिकोण से बड़ी सरल शैली मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

उपासक का महत्त्व—कोई भी धर्म केवल भिक्षु-भिक्षुणियो पर जीवित नही रह सकता। उसके जीवन के लिए उपासक का दायित्व कही अधिक गुरुतर है। सघ, विहार आदि की व्यवस्था का सम्पूर्ण भार उपासक अथवा श्रावक पर ही अवलम्बित रहता है। बुद्ध ने अनाथपिण्डिक से कहा कि आर्य श्रावक को यशो-लाभ व स्वर्ग की प्राप्ति होती है क्योंकि वह भिक्षुसघ का चीवरदान, पिण्डदान (भोजनदान), शयनासन तथा औषधिदान से परिपालन करता है—

गिहिसामीचिपटिपद पटिपज्जन्ति पण्डिता।
सम्मगते सीलवन्ते चीवरेन उपट्ठिता॥
पिण्डिपातसयनेन गिलानप्पच्चयेन च।
तेस दिवा च रत्तो च सदा पुञ्ञं पवड्ढति॥
सग्गं च कमतिट्ठानं कम्मं कत्वान भद्दकं॥[1]

भिक्षु की आचारिक व वैचारिक शिथिलता को दूर करने का भी दायित्व उपासक के कन्धों पर है। वर्षाकाल मे भिक्षुओं द्वारा तृणस्कन्ध के कुचले जाने पर प्राणातिपात होता था। उनके इस दुष्कृत्य की आलोचना कर उपासको ने उन्हे हिंसा से बचाया। और भी अनेक ऐसे उदाहरण है, जहाँ उपासको ने भिक्षु व संघ को सन्मार्ग दिखाया[2]। इसीलिए शायद यह विधान किया गया है कि भिक्षु गृहस्थों के प्रति क्रोधित न हो और यदि क्रोधित हो जाये तो वह प्रतिसारणीय कर्म करे तथा गृहस्थ से क्षमायाचना करे[3]।

---

१. गिहिसामीचिसुत्त, अंगुत्तर निकाय।
२. वर्षोपनायिका स्कन्धक, विनयपिटक।
३. चुल्लवग्ग, विनयपिटक।

कुछ शिलालेखों में बौद्धगोठी[1] और सीहगोठी[2] (सिंहगोष्ठी) के उल्लेख आते हैं। ऐसी गोष्ठियों के अध्यक्ष व सदस्यों के नाम भी प्राप्त होते हैं[3]। साँची बोटिम लेखों में (द्वितीय-प्रथम शती ई० पू०) बोधगोठी[4] तथा विदिशा लेख में बकुलमिसानगोठी[5] का भी उल्लेख मिलता है। डॉ० बूलर के अनुसार ये गोष्ठियाँ विहारों आदि की व्यवस्था किया करती थीं[6]। डॉ० अजयमित्र शास्त्री का मत है कि इन बौद्ध गोष्ठियों मे एक भिक्षु भी सदस्य के रूप में रहता था जो विहारादि धार्मिक संस्थानो की व्यवस्था में सहयोग देता था[7]। यह सम्भव भी है इसलिए कि एक भिक्षु अपने धर्मायतनों की जितनी अच्छी व्यवस्था कर सकता है, उतनी अच्छी व्यवस्था और कोई दूसरा नही कर सकता। अस्तु, इन उद्धरणों[8] से यह स्पष्ट है कि संघ के लिए उपासक की उपयोगिता कम न थी।

तथागत के अधिकाश उपदेश भिक्षुओं को सम्बोधित कर दिये गये हैं। फिर भी चूंकि सभी जन घर-परिवार नही छोड सकते थे, इसलिए उन्होंने कुछ धर्मदेशना गृहस्थो के लिए भी दी है। बौद्ध गृहस्थो की यह धर्मदेशना जैन गृहस्थो के लिए निर्धारित जैसी सुव्यवस्थित आचार-विचार देशना नहीं है। बौद्ध भिक्षु के निमित्त दिया गया उपदेश तो गृहस्थों के लिए भी कार्यकारी होता है, परन्तु यहाँ हम उन्ही कुछ विचारों को रक्खेंगे जो विशेष रूप से एक साधारण व्यक्ति के उत्थान से सम्बद्ध रहे हैं। इस दृष्टि से सिगालोवाद आदि सुत्त अधिक महत्वपूर्ण हैं। सुत्तनिपात मे भी गृहस्थ धर्म का वर्णन मिलता है।

बौद्ध उपासक के कर्तव्य—बौद्ध उपासक का प्रमुख कर्तव्य यह है कि वह निम्नलिखित चार प्रकार के पाप कर्मों से विमुख रहे[9]—

---

१. एपिग्राफिया इन्डिका, भाग २, पृ. २२६।
२. धगणि निगमपुतानं राजपामुखो भ्र इषपुतो कुबिरको राजा सिंहगोठिया पामुखो [।] तेष अन्न नजुसं फालिगषमुगो च पषाणषमुगो च । वही, पृ. २२८।
३. गोठि हिरञबधवा बुडालको कालहो विसको..........उपोसथपुतो उतरो कारहपुतो, वही पृ. ३२८।
५. वही, पृ. ९९-१००। ४. वही, पृ. १०२।
६. डॉ० अजयमित्र शास्त्री, Early Budhism, पृ. १२६।
७. वही, १२७। ८. वही, पृ. १२६-१२७।
९. पाणातिपातो अदिन्नादानं मुसावादो च वुच्चति।
परदारगमनञ्चेव नप्पसंसन्ति पण्डिता ॥ सिगालोवादसुत्त, दी. ८. १. ४

१. पाणातिपात (हिंसा करना) ।
२. अदिन्नादान (चोरी करना) ।
३. कामेसु मिच्छाचार (स्त्री सम्बन्धी दुराचार करना) ।
४. मुसावाद (असत्य बोलना) ।

जैनधर्म में श्रावक के लिए पञ्चाणुव्रत पालने का विधान किया गया है। इस विधान मे उक्त चार पापकर्मो के साथ परिग्रह से भी विरत रहना सम्मिलित है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने 'कामेसु मिच्छाचार' के स्थान पर 'परिग्रह' की गणना की थी जिसमे मिथ्याचार भी गर्भित था। इसे चातुर्याम कहा गया है। बौद्ध साहित्य मे इसके पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। बुद्ध ने अशुद्ध तपस्या को बताते हुए शुद्ध तपस्या का व्याख्यान किया और वास्तविक तपस्या में चार भावनाओ का परिपालन प्रशंसनीय माना। इन चारों भावनाओं को 'चातुर्याम सवर' कहा गया है। इसके अनुसार तपस्वी प्राणातिपात, अदत्तादान, मृषावाद तथा कुशील (कामगुणों मे मिथ्याचार) से कृत, कारित व अनुमोदन पूर्वक दूर रहता है[1]।

उक्त चारों पापकर्म हिंसा मे अन्तर्भूत हो जाते हैं अत: स्थूल रूप से हिंसा का त्याग करना उपासक का मुख्य कर्तव्य है। सुत्तनिपात मे प्राणिमात्र के प्रति प्रेम करने का उपदेश दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि शान्त पद (निर्वाण) की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह योग्य तथा अत्यन्त सरल बने। उसकी बात मृदु, सुन्दर और विनम्रता से आपूर हो। वह सन्तोषी हो, अल्पकृत्य व अल्पवृत्तिवान् हो, इन्द्रियसंयमी व अप्रगल्भ हो। सदैव निर्दोष रहने का प्रयत्न करे। उसकी यह प्रयत्नमय भावना रहे कि सभी प्राणी सुखी हों, सभी का कल्याण हो और सभी सुखपूर्वक रहे, (सुखिनो वा खेमिनो होन्तु सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता) जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पत्स्यमान् जितने भी प्राणी हैं, सभी सुखपूर्वक रहे[2]। एक दूसरे की प्रवञ्चना न करे, अपमान न करे, वैमनस्य के कारण परस्पर मे दुःख देने की भावना न करे। माता

---

१. उदम्बरिकसीहनाद सुत्त, दीघनिकाय।
विशेष देखिये, मेरा प्रबन्ध–Jainism in Budhist Literature.

२. ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीघा वा ये महन्ता वा मज्झिमा रस्सकाणुकथूला ॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सब्बे सत्ता भवन्ति सुखितत्ता ॥ मेत्तसुत्त, ४-५

जिस प्रकार स्वयं की चिन्ता न कर अपने इकलौते पुत्र का संरक्षण करती है उसी प्रकार का असीम प्रेम व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति करे[1]। शत्रुता को छोड़ कर अखिल संसार के प्रति असीम प्रेम बढ़ाये। खड़े रहते, चलते, बैठते, सोते व जागृत रहते समय इसी प्रकार की स्मृति सजग रखनी चाहिए। यही ब्रह्मविहार है। ऐसा प्रेमभावी व्यक्ति विशुद्ध शीलवान् हो पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है[2]।

कितना विशुद्ध व सात्विक प्रेम बनाये रखने के लिए निर्देशन दिया गया है ! संयुक्तनिकाय मे "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" से मिलते जुलते विचार उपलब्ध होते हैं। वहाँ कहा गया है कि जो शरीर, मन व वचन से हिंसा नही करता व पर को नहीं सताता वही अहिंसक है[3]। अहिंसक की यह परिभाषा बड़ी व्यापक व मानवता से भरपूर है। चतुःशतक (१२.२३) में कहा है—"धर्मो समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता।"

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ व बलिकर्म का घोर विरोध किया था। उनके अनुसार अश्वमेध, पुरुषमेध, वाजपेय्य आदि महारम्भी यज्ञ महाफलदायी नही होते। ऐसे यज्ञों मे गायों, बकरी-भेड़ो आदि पशुओ की घनघोर हिंसा होती है। इस प्रकार के यज्ञो मे सम्यग्मार्गगामी महर्षिजन नही जाते। यज्ञ ऐसे हो जिनमे किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। दानपुण्य करना सबसे बड़ा यज्ञ है। यही प्रशंसनीय है। बुद्ध ने ऐसे ही यज्ञ को करणीय माना है[4]। संयुत्तनिकाय के यञ्ञसुत्त मे भी इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये गये है।

हिंसा, चौर्य, असत्यभाषण, मिथ्याचार तथा सुरा, मेरय, मद्य आदि नशीली चीजो से विरत रहना—ये उपासको के पञ्चशील माने गये है। इन्ही को पञ्चशिक्षापद भी कहा गया है। इन पचशिक्षापदो की पृष्ठभूमि मे दस उद्देश्य निहित हैं—१. संघ की भलाई, २. सघ की सुविधा, ३. दुष्ट व्यक्तियों का निग्रह, ४. शीलवान् भिक्षुओं का सुखपूर्वक विहार, ५. आश्रमो का संयमन, ५. श्रद्धावानो में अधिक श्रद्धा की जाग्रति, ७. अश्रद्धावानों मे अधिक श्रद्धा सम्पन्नता, ८. भावी जन्मो के आश्रवों का प्रतिघात, ९. सद्धर्म की स्थिति तथा १०. विनय पर अनुग्रह। इन दस उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रातिमोक्ष के भी नियम बनाये गये हैं[5]।

---

१. माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनुरक्खे।
एवं पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरियाणं ॥ वही, ७

२. मेत्तसेत्त, सुत्तनिपात, १-१०। ३. अहिंसक सुत्त।

५. दसमनिपात, उपालिसुत्त, अंगुत्तरनिकाय। ४. चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय।

पंचशिक्षापदों के माध्यम से पंच शैक्ष्यबल की प्राप्ति होती है—श्रद्धाबल, लज्जाबल, पापभीरुताबल, वीर्यबल और प्रज्ञाबल। इन पाँचों बलों से कुशल कर्मों में दृढ़ आस्था हो जाती है। काम भोगों के प्रति लालसा समाप्त हो जाती है। चार आर्यसत्य, भावना, चार स्मृति प्रस्थान भावना, चार सम्यक्प्रधान भावना, चार ऋद्धिपाद भावना, पंचेन्द्रिय भावना, सप्तबोध्यंग भावना, आर्य अष्टाङ्गिकमार्ग भावना, आठ विमोक्ष भावना, आठ अभिभू आयतन भावना, दस कृत्सनायतन भावना एवं चार ध्यान भावना का अभ्यास उपासक करने लगता है। इस अभ्यास से उपासक का चित्त अत्यन्त निर्मल और ऋजु हो जाता है[1]। श्रावक इन भावनाओं को भाकर चार प्रत्यक्ष सुखानुभव स्वरूप चैतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है तथा बुद्ध, बुद्धधर्म, बुद्धसंघ मे निश्चल श्रद्धा कर श्रेष्ठ शीलों से युक्त हो जाता है।

भगवान् बुद्ध का प्रथम उपासक वाराणसी का यश गृहपति था जिसे उन्होंने दान, शील, स्वर्गकथा, काम वासनाओ का दुष्परिणाम, निष्कामना का माहात्म्य तथा चार आर्य सत्य का उपदेश दिया था। वत्सगोत्र परिव्राजक को दस कुशल और दस अकुशल धर्मों का व्याख्यान दिया। प्राणातिपात, अदत्तादान, मिथ्याचार मृषावाद, पिशुनवचन, परुषवचन, संप्रलाप अभिध्या (लोभ), व्यापाद व मिथ्यादृष्टि—ये अकुशल धर्म हैं और इनके विपरीत धर्म कुशल धर्म कहे गये हैं। उपासकों को अकुशल धर्मों का परित्यागकर कुशल धर्मों को धारण करना चाहिए। इसी प्रसंग मे यहाँ यह भी कहा गया है कि बुद्ध के भिक्षु, भिक्षुणियाँ, ब्रह्मचारी उपासक, सुब्रह्मचारिणी उपासिकायें, कामभोगी उपासक, कामभोगिनी उपासिकायें आदि सभी आराधक हैं। इसलिए बौद्धधर्म अपने आप मे परिपूर्ण है[2]।

कौसलवासियों के बीच एक बार बुद्ध ने उपदेश देते हुए कहा था कि अधर्माचरण से दुर्गति प्राप्त होती है और धर्माचरण से सद्गति मिलती है। इस धर्माचरण व अधर्माचरण के मुख्य तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। प्राणातिपात, अदत्तादान व मिथ्याचार ये तीन भेद कायिक अधर्माचरण के हैं। मिथ्यावाद, पैशून्य, परुषभाषण, एवं प्रलाप ये चार वाचिक अधर्माचरण हैं। अभिध्या (लोभ), व्यापन्नचित्त, मिथ्यादर्शन ये तीन मानसिक अधर्माचरण हैं। इस अधर्माचरण के कारण प्राणी नरकगामी होते हैं। इनसे

---

१. महासकुलदायिसुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. महावच्छगोत्तसुत्त, मज्झिमनिकाय।

विरत होकर जीवन यापन करने से स्वर्ग प्राप्ति होती है। बुद्ध के मुख से इस प्रकार उपदेश सुनने के बाद सभी गृहस्थ उनके उपासक बन गये[१]।

बुद्ध ने प्रज्ञा की वृद्धि के चार कारण दिये हैं—सत्पुरुषो की सेवा, सद्धर्म का श्रवण, तथा योग्य विचार और धर्मानुसार आचरण। ये चार बातें सर्वसाधारण के लिए भी अत्यन्त उपकारी हैं। साथ ही यह भी आवश्यक है कि कोई अदृष्ट को दृष्ट न कहे, अश्रुत को श्रुत न कहे। अनाघ्रात, अनास्वादित व अस्पृष्ट को आघ्रात, आस्वादित तथा स्पृष्ट न कहे व अज्ञात को ज्ञात न कहे[२]। उसका चित्त किसी से वैर करने वाला न हो, अक्रोधी हो, असंक्लिष्ट हो और शुद्ध हो। इससे आर्य श्रावक को सद्गति, सुख-साधन, पाप कर्मो से विदूरता तथा हर दृष्टि से विशुद्धि प्राप्त होती है। कालाम यही उपदेश सुनकर बुद्ध का उपासक बन गया था[३]। बुद्ध ने जीवन की अवनति के कारणों मे साधारणत: तीन प्रकार के मद माने हैं—यौवनमद, आरोग्यमद और जीवनमद। तीनों मद दुर्गति, पतन और नरक के कारण हैं[४]।

भगवान् बुद्ध ने सदैव संयम पर बल दिया है। मागन्दिय परिव्राजक को उन्होंने स्वयं भुक्त भोगों का आख्यान करते हुए काम, तृष्णा आदि से दूर रहने का उपदेश दिया। यह प्राणी विषय सुखो मे निमग्न रहकर उनमे सुख है ऐसी विपरीत धारणा रखता है। परन्तु यह वस्तुत: संसार-भ्रमण का कारण है। कामगुणों का सुख वास्तविक सुख नही। वह तो मात्र सुखाभास है। इस मार्मिक और तथ्ययुक्त उपदेश को श्रवणकर मागन्दिय गद्गद हो गया और तत्काल बुद्ध का शिष्य बन गया[५]।

भगवान् बुद्ध व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक चिन्तन करते थे। यही कारण था कि जनता को उनकी बात रुचिकर हुआ करती थी। कौसलवासियो को अपर्णक (द्विविधारहित) धर्म के सन्दर्भ मे बताते हुए उन्होने मुख्य रूप से अन्य तीर्थङ्करो के दो मतो का उल्लेख किया। प्रथम वह जिसमे सत्य भाषण आदि पुण्य क्रियाओ मे पुण्यबन्ध नही माना गया और द्वितीय वह जिसके अनुसार दान, यज्ञ आदि की मान्यता सही है। प्रथम मत मे सत्कर्मो के स्थान पर असत्कर्मों का बाहुल्य है और द्वितीय मत उसके प्रतिकूल है। द्वितीय मत

---

१. सालेय्यक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. आपत्तिभयवग्ग, चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
३. तिकनिपात, अंगुत्तरनिकाय।
४. तिकनिपात (अंगुत्तरनिकाय)।
५. मागन्दिय सुत्त, मज्झिमनिकाय।

के पोषक बुद्ध स्वयं है। उन्होंने परलोक की अपेक्षा इहलोक को सुधारने पर अधिक जोर दिया है। तदर्थ अष्टाङ्गिक मार्ग का उपदेश वर्तमान जीवन को अधिकाधिक सक्षम और कुशल कर्मयुक्त बनाने के निमित्त एक सफल प्रयास है। ऐहिक जीवन में सुधार हो जाने से पारिलौकिक जीवन स्वतः सुधर जाता है[१]।

अंगुत्तर निकाय में चार चक्र बताये गये हैं, जिनसे देव व मनुष्यों का जीवन अल्प समय में ही भोग्य पदार्थों से आपूर हो जाता है। ये चार चक्र हैं— अनुकूल देशवास, सत्पुरुष आश्रय, चित्त की स्थिरता तथा पूर्वजन्मकृत पुण्य। इसी प्रसंग में बुद्ध ने लोकसंग्रह की भावनाओं का भी उल्लेख किया है और यह निर्देशन दिया है कि उपासक व भिक्षु को दान, प्रियवचन, उपकार तथा समानता का व्यवहार करना चाहिए। ये चारों लोकसंग्रहमयी भावना पुत्र, माता-पिता आदि परिजनों के साथ मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में कारणभूत रहती हैं।

दानं च पेय्यवज्जञ्च अत्थचरियाय च या इध।
समानता च धम्मेसु तत्थ तत्थ यथा रहं॥
एते खो सङ्गहा लोके रथस्सानीव यायते।[२]

महानाम शाक्य ने भगवान् से पूछा कि उपासक का प्रधान कर्तव्य क्या है? भगवान् ने उत्तर दिया कि बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण ग्रहण करना उपासक का प्राथमिक कर्तव्य है। उसके उपरान्त उसे प्राणातिपातादि से विरत रहना चाहिए। उसका यह भी दायित्व है कि वह स्वयं प्रज्ञा, श्रद्धा, शील, समाधि, त्याग आदि भावनाओं को स्वयं धारण करे तथा दूसरे को भी धारण कराये। आत्महित तथा परहित दोनो मे उसे रहना चाहिए[3]। उपासक व भिक्षु सर्वोत्तम दर्शन, श्रवण, लाभ, शिक्षा, परिचर्य्या और अनुश्रुति का अभ्यास करे। बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग तथा देवता की अनुस्मृति करे। अनित्य संज्ञा का, अनित्य के प्रति दुःख संज्ञा का, दुःख के प्रति अनात्म संज्ञा का, प्रहाण संज्ञा का, वैराग्य संज्ञा का तथा निरोध संज्ञा का अभ्यास करे। इस अभ्यास से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, मात्सर्य आदि दोष परिक्षीण हो जाते हैं[४]। जीवन की सफलता के लिए मेधावी व्यक्ति को बुद्धानुशासन का ध्यान कर धर्मदर्शी बनना चाहिए।

---

१. अपण्णक सुत्त, मज्झिमनिकाय।
२. चतुत्थ निपात, अगुत्तर निकाय।
३. गहपतिवग्ग, अगुत्तरनिकाय।
४. रागपेय्याल, वही।

यस्स सद्धा तथागते अचला सुप्पतिट्ठिता ।
सीलञ्च यस्स कल्याणं अरियकन्तं पसंसितं ।
सङ्घे पसादो यस्सत्थि उजुभूतञ्च दस्सनं ।
अदलिद्दो ति तं आहु अमोघं तस्स जीवितं ।।
तस्मा सद्धञ्च सीलञ्च पसादं धम्मदस्सनं ।
अनुयुञ्जेथ मेधावि सरं बुद्धानसासनं ।।[1]

भगवान् बुद्ध विविध प्रकार से जनसमुदाय को सद्धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते थे। अनाथपिण्डिक से उसके पूछने पर बुद्ध ने कहा कि संसार में चार वस्तुएँ दुर्लभ हैं--१. धर्मानुसार योग्य वस्तुओं की प्राप्ति, २. यश प्राप्ति, ३. दीर्घायु तथा ४. सद्गति। इन चारो श्रेय वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, शील, त्याग और प्रज्ञा सम्पत्ति से युक्त होना चाहिए। प्रज्ञा सम्पत्ति से करणीय-अकरणीय का भेद स्पष्ट हो जाता है। वह विषयलोभ, थीनमिद्ध (आलस्य) व चित्त के उपक्लेशों से दूर रहता है। स्वयं अर्जित सम्पत्ति से परिवारादि का सम्यक्परिपालन करता, आत्मरक्षा करता, पञ्चबलिकर्म करता, क्षमाशील होता और परसेवा करता[2]। भिक्षु और उपासक के सात धन भी प्राय: उक्त सम्पत्तियों से मिलते-जुलते हैं। सात धन ये हैं—श्रद्धा, शील, लज्जा, पापभीरुता, श्रुति, त्याग तथा प्रज्ञा[3]। दुश्शीलता, ईर्ष्या व मात्सर्य ये तीनो दुर्गुण नरक तुल्य है[4]।

तृष्णा जन्म मरण को बढाने वाली है। उसके होने से वस्तुओं की खोज व प्राप्ति की जाती है। प्राप्ति होने से तृष्णा का निश्चय होता है। निश्चय होने से आसक्ति, आसक्ति से ममत्व, ममत्व से मात्सर्य, मात्सर्य से सुरक्षा, सुरक्षित वस्तु के लिए खींचतान, दण्डादण्डी, शस्त्रप्रयोग, कलह, विवाद, पैशून्य तथा असत्य भाषण जैसे दोष पैदा हो जाते है[5]।

अवनति के कारण—भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के कारणो पर भी अत्यन्त व्यावहारिक बुद्धि से विचार किया है। उन्होंने कहा है कि कार्यबहुलता, वचन-बहुलता, निद्रा-बहुलता, मण्डली-बाहुल्य (अत्यधिक सामाजिक होना), दुर्वचनीयता व कुसंगति ये छ: कारण हैं जिनसे व्यक्ति की उन्नति नहीं हो पाती। (छक्क निपात, अगुत्तर निकाय)। इसी प्रकार भिक्षुओं का दर्शन छोड़ना, सद्धर्म में प्रमाद करना, पंचशीलों का अभ्यास न करना, अश्रद्धावान् होना, भिक्षुओं की

---

१. चतुक्कनिपात, वही।
२. चतुक्कनिपात, वही।
३. सत्तकनिपात, धनवग्ग, वही।
४. तिकनिपात, वही।
५. नवमनिपात, तण्हामूलकसुत्त, वही।

निन्दा करना, छिद्रान्वेषी होना एव औद्धतर साधुओ को दान देना ये सात अवनति के कारण हैं (सत्तक निपात, अंगुत्तर निकाय)। दरिद्रता, ऋण, सूद, दोषारोपण आदि भी जीवन के लिए अत्यन्त दुःखदायी होते हैं (छक्क निपात, अंगुत्तर निकाय)। भिक्षुओं को हानि पहुँचाना, उनका अहित करने का प्रयास करना, निवास स्थान से हटाना, अशिष्ट शब्द कहना, परस्पर मे वैमनस्य पैदा करना, धर्म की निन्दा करना तथा संघ की निन्दा करना ये आठ दुर्गुण जिस उपासक मे होते है, उसकी अवनति अवश्यम्भावी है,, (अट्ठकनिपात, अंगुत्तरनिकाय)।

श्रावस्ती मे भगवान् ने व्यक्ति की अवनति के और भी कारण प्रदर्शित किए हैं जिनमें प्रमुख हैं—१. धर्मद्वेष, २. असत्पुरुष प्रियता, ३. निद्रा, अधिक सम्पर्क, अनुद्योग, क्रोध, ४. वृद्ध माता-पिता की अशुश्रूषा, ५. मिथ्या भाषण, ६. मात्र स्वादिष्ट भोजन, ७. जाति, धन तथा गोत्र का गर्व व बन्धुओं का अपमान ८. मिथ्याचार व मद्यपान, ९. पर-स्त्री संसर्ग, १०. अनमेल विवाह, ११. लालची भृत्य तथा १२. अल्पसाधन सम्पन्न पर महालालची पुरुष द्वारा राज्य की इच्छा। ये पराभव के कारण ऐसे हैं, जिन्हे कोई भी अस्वीकार नही कर सकता[1]।

धर्म व कर्तव्य मे सुप्रतिष्ठित रहने के लिए व्यक्ति बडो का आदर करे, ईर्ष्यालु न हो, सम्मान के साथ धर्मकथा सुने, धृष्टता को दूर कर विनम्र भाव से गुरुजनों के पास पहुँचे और अर्थ, धर्म, सयम तथा ब्रह्मचर्य का स्मरण कर उनका आचरण करे, धर्मोपदेश को सुस्थिर हो श्रवण व मनन करे, अट्टहास, विलाप, कपट, लोलुपता, अभिमान, मोह आदि दुर्गुणो से दूर रह कर स्थिरचित्त हो विचरण करे, ज्ञान और श्रुति की वृद्धि करे[2]।

इन व्यक्तियों के अतिरिक्त बुद्ध ने प्रतिदिन के जीवन मे उपस्थित होने वाली बातो पर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उदाहरणार्थ, समागत अतिथि का प्रसन्न मन से उठकर स्वागत करना, अभिवादन करना, बैठने के लिए आसन देना, किसी रखी हुई वस्तु को नही छिपाना, बहुत रहने पर थोड़ी नही देना, प्रणीत (उत्तम कोटि का) पदार्थ रहने पर भी रूक्ष (घटिया) न देना, जो भी दे आदरपूर्वक देना। जिस गृहस्थ कुल मे ये सात बातें न हों वहाँ कभी नही जाना चाहिए[3]।

---

१. वसल सुत्त, सुत्तनिपात।
२. किसील सुत्त, सुत्तनिपात।
३. सत्तक, अंगुत्तर निकाय।

उपासक दो प्रकार के बताये गये हैं—चाण्डाल उपासक और मलिन उपासक। चाण्डाल, मलिन अथवा निकृष्ट उपासक वह है जो अश्रद्धावान् हो, दुश्शील हो, भले-बुरे शकुनों में विश्वास करने वाला हो, भले-बुरे शकुनों की ओर देखता रहता हो तथा दक्षिणा के पात्रों को बौद्धेतर दर्शनों में खोजता हो। जिस उपासक में ये पाँच बातें नही रहतीं, वह उपासकरत्न कहलाता है। उपासकरत्न के लिए पाँच प्रकार के व्यापार वर्जित हैं—अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार, माँस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार। ऐसा उपासक संयतेन्द्रिय होता है तथा चेतसिक ध्यानों को प्राप्त करता है[१]। उपोसथ प्रकारों में से उसे भगवान द्वारा निर्दिष्ट आर्य उपोसथ का पालन करना चाहिए जिससे उसका मलीन चित्त निर्मल हो सके।[१] इसके पाणातिपात वेरमण आदि आठ अंग होते हैं।[२]

चार प्रकार के सहवास—मधुरा व वरेंजा के किनारे चलते समय भगवान् से कुछ गृहपतियों-गृहपत्नियों की भेंट हुई। भगवान् ने उन्हें चार प्रकार के सहवास बताए—

१. दोनों पति-पत्नी दुश्शील होते हैं, कृपण होते हैं व कृपण ब्राह्मणों को भला-बुरा कहने वाले होते हैं। इसे लाश-लाश के साथ रहने वाला दम्पति वर्ग कहा है।

२. पति दुश्शील होता है और पत्नी सदाचारिणी। इसे पत्नी का पतिरूपी लाश के साथ रहना कहा है।

३. पति शीलवान होता है और पत्नी दुराचारिणी। इसे स्वयं लाश रूप होकर देवता पति के साथ रहना कहा है। और

४. दोनों पति-पत्नी श्रद्धावान, उदार व संयत होते हैं। धर्मानुसार आचरण करने वाले व प्रियभाषी होते हैं।

इनमे दुश्शील व्यक्ति पंच पापों का कर्ता, मिथ्यादृष्टि तथा मात्सर्य आदि दोनों से संयुक्त रहता है और सदाचारी इन दोषो से विमुक्त रहता है। उक्त चार प्रकार के सहवासों में स्पष्टत: अन्तिम सहवास सर्वोत्तम है। परस्पर सुखी व समृद्ध होने का उपाय यही है कि दम्पति समान श्रद्धावान् हो, शीलवान् हो, त्यागी हो व प्रज्ञावान् हो।[३]

---

१. पंचकनिपात, वही।

२. अंगुत्तर, तिकनिपात।

३. वही, चतुक्कनिपात (हिन्दी अनुवाद)।

उभो च होन्ति दुस्सीला कदरिया परिभासका ।
ते होन्ति जानिपतयो छवासंवासमागता ॥
सामिको होति दुस्सीलो कदरियो परिभासको ।
भरिया सीलवती होति वदञ्ञू वीतमच्छरा ॥
सापि देवी संवसति छवेन पतिना सह ॥[1] इत्यादि

सात प्रकार की भार्यायें—अनाथ पिण्डिक से भगवान् ने पूछा—हे गृहपति ! तुम्हारे घर में इतना अधिक शोरगुल क्यो हो रहा है मानों मछुवे मछलियों के लिए संघर्ष कर रहे हो ? गृहपति ने कहा—भन्ते ! वह सुजाता पुत्रवधू धनी घर की है । न वह सास का आदर करती है और न श्वसुर का, न स्वामी का आदर करती है और न भगवान् का । तब भगवान् ने सुजाता को प्रतिबोध दिया और उसे भार्याओ के सात प्रकार बताये—

१. प्रथम प्रकार की भार्या दूषित चित्तवाली होती है, अहित चाहने वाली होती है, पति की उपेक्षा कर अन्यो के प्रति अनुरक्त रहती है, धन द्वारा क्रीत के बध के लिए उत्सुक रहती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या बधक जैसी भार्या कहलाती है । (वधा च भरिया)

२. दूसरे प्रकार की भार्या वह है जो शिल्प, वाणिज्य व कृषि से प्राप्त स्वामी के धन मे से कुछ नही छोडती । पुरुष की इसी प्रकार की भार्या चोरिणी जैसी भार्या कहलाती है । (चोरीया भरिया)

३. निकम्मी रहने वाली, आलसी, अधिक खाने-पीने वाली, कठोर स्वभाव वाली, प्रचण्ड अपशब्द बोलने वाली तथा पति के उत्साह को दबाने वाली भार्या मालकिन जैसी भार्या है । (अय्या च भरिया)

४. जो सदैव हित चाहने वाली होती है, जो पति की इस प्रकार देखभाल रखती है जैसे माता पुत्र की, जो पति के कमाये हुए धन का संरक्षण करती है । (माता च भरिया)

५. जो छोटी या बडी बहिन के समान अपने स्वामी के प्रति गौरव का भाव रखती है, लज्जाशील होती है, पति की आज्ञा मे रहने वाली होती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या बहन जैसी भार्या (भगिनी च भरिया) कहलाती है ।

६. जैसे चिरकाल के अनन्तर सखा को देखकर कोई सखी प्रसन्न होती है, उसी प्रकार जो कुलीन, शीलवान् पतिव्रता नारी अपने पति को देखकर प्रमुदित होती है । पुरुष की इस प्रकार की भार्या सखी जैसी भार्या (सखी च भरिया) कहलाती है ।

---

१. वही, चतुक्कनिपात ।

७. जो मारने-पीटने का डर दिखाये जाने पर भी क्रोधित न होने वाली, शान्त रहने वाली, निर्द्वेष चित्त से पति की हर बात को सहन करती है, जिसे क्रोध नहीं आता, जो स्वामी के वश मे रहने वाली है—पुरुष की इस प्रकार की भार्या दासी जैसी भार्या कहलाती है (दासी च भरिया)।

इनमें प्रथम तीन प्रकार की भार्यायें भाषा मे दुश्शील व कठोर स्वभाव की होती हैं। वे पति का आदर नही करती। ऐसी भार्यायें नरकगामिनी होती हैं। शेष प्रकार की भार्यायें शीलवती होती हैं व दीर्घकाल तक संयत जीवन व्यतीत करने के कारण स्वर्गगामिनी होती हैं।[1]

उग्गह ने भगवान् से यह निवेदन किया कि मेरी ये लड़कियाँ पति के कुल जाएँगी। भगवान् इन्हे ऐसा उपदेश दें जो दीर्घकाल तक इनके हित तथा सुख का कारण हो। भगवान् ने कहा—कुमारिओ! माता-पिता तुम्हे जिस किसी भी पति को सौंपे, उसके सोकर उठने से पूर्व उठो, उसके सोने के बाद सोओ, आज्ञाकारिणी रहो, अनुकूल व्यवहार करो तथा प्रियवादिनी बनो। पति के गौरव भाजन जनों—माता-पिता, श्रमणों ब्राह्मणो—का सत्कार करो। स्वामी का जो भी शिल्पकार्य हो, चाहे ऊन का हो या कपास का हो, उसमे पूर्ण दक्षता प्राप्त करो, अप्रमादी होकर उसकी व्यवस्था करने मे यथोचित सहयोग करो। स्वामी के भृत्यगणो के कार्य की पूर्ण जानकारी रखो। रोगियों की भरपूर सेवा-सुश्रूषा करो। स्वामी के धन-धान्य आदि का यथाशक्य संरक्षण करो। ऐसी नारी धर्मस्थिता, सत्यवादिनी, शीलवती कहलाती है।

योन भरति सब्बदा निच्च आतापि उत्सुको।
सब्बकामहरं पोसं भत्तार नातिमञ्ञति ॥
न चापि सोत्थि भत्तार इच्छाचारेन रोसये।
भत्तु च गरुनो सब्बे परिपूजेति पण्डिता ॥
उट्ठाहिका अललसा सगहीत परिज्जना।
भत्तु मनापा चरति सम्भतं अनुरक्खति ॥
या एवं वत्तती नारी भत्तु छन्दवसानुगा।
मनापा नाम ते देवा यत्थ सा उप्पज्जति।[2]

नकुल के पिता का अन्तिम समय आ जाने पर नकुल की माता उससे निश्चित हो जाने को कहती है। इस सन्दर्भ मे गृहपत्नियो के विशेष रूप से पति के काल कवलित हो जाने पर क्या कर्तव्य होना चाहिए, इसकी अच्छी झांकी मिलती है।

---

१. वही. सत्तकनिपात। २. वही, पंचक-अट्ठकनिपात।

१. गृहपत्नियाँ कपास कातने में कुशल हों व भेड़ के बालों की बेड़ियाँ बनाने में दक्ष हों, ताकि पति के न रहने पर वे बच्चों का पालन-पोषण कर सकें।
२. द्वितीय विवाह न करे।
३. बुद्ध तथा संघ का दर्शन करे।
४. शीलों का परिपालन करे।
५. शान्तचित्त हो।
६. धर्मविनय मे प्रवेश करे।

जिस प्रकार भगवान् ने यहाँ पत्नियो के लिए कर्त्तव्य बोध दिया उसी प्रकार सन्तान के लिए भी माता-पिता के प्रति क्या उत्तरदायित्व है, इसका अनेक बार स्पष्टीकरण किया है। भगवान् ने कहा है कि वह कुल सब्रह्मकुल है जिसमें माता-पिता का आदर-सम्मान होता है क्योकि उन्होने सन्तान पर बड़ा उपकार किया है। सन्तान के लिए माता-पिता ही ब्रह्मा हैं, माता-पिता ही पूर्वाचार्य हैं और माता-पिता ही पूज्य हैं। इसलिए बुद्धि सम्पन्न सन्तान को चाहिए कि उन्हें नमस्कार करे, उनका सत्कार करे। अन्न, पान, वस्त्र, शयनासन, मालिश, स्नान पादप्रक्षालन आदि क्रियाओ से उनकी सेवा करे। जो पण्डित परिचर्या से माता-पिता को सन्तुष्ट करता है, उसकी यहाँ भी प्रशसा होती है और मृत्यु होने पर वह स्वर्ग मे भी आनन्दित रहता है।

ब्रह्मा ति माता-पितरो पुब्बाचर्य्या ति वुच्चरे।
आहुणेय्या च पुत्तानं पजाय चानुकम्पका ॥
तस्मा हि ते नमस्सेय्य सक्करेय्याथ पण्डितो।
अन्नेन अथ पानेन वत्थेन सयनेन च ॥
उच्छादेन न्हापनेन पादान धोवनेन च।
नायं नं परिचरियाय माता पितुसु पण्डिता ॥
इधेव न पसंसन्ति पेच्च सग्गे पमोदति ॥[1]

दो व्यक्तियों का प्रत्युपकार करना सहज नही—माता का और पिता का। भगवान् ने कहा है कि सौ वर्ष तक एक-एक कन्धे पर माता को ढोए तथा एक-एक कन्धे पर पिता को ढोए और उनकी उबटन, मर्दन, स्नान आदि से सेवा करे, और वे भी उसके कन्धे पर ही मल-मूत्र करें तो भी उसके माता-पिता का न कोई उपकार होता है और न कोई प्रत्युपकार। इसके अतिरिक्त जो कोई

---

१. वही, तिकनिपात।

अश्रद्धावान् माता-पिता को श्रद्धा मे प्रतिष्ठित करता है, दुराचारी माता-पिता को सदाचारी बनाता है, कृपण माता-पिता को त्यागमार्ग मे प्रतिष्ठित करता है, दुष्प्रज्ञ माता-पिता को प्रज्ञावान् बनाता है, यही यथार्थ मे उसका उपकार व प्रत्युपकार है। अर्थात् माता-पिता को सम्यकमार्ग पर आरूढ़ करना पुत्र या सन्तान का मुख्य कर्तव्य है। तथा उनके प्रति अनुचित व्यवहार करने वाला मूर्ख, अव्यक्त, असत्पुरुष वा अवगुणी, सदोष, निन्दनीय और अपुण्य का हेतु होता है।[1]

ऐश्वर्य प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य—ऐश्वर्य प्राप्ति संसार को बढ़ाने वाली है। और वह ऐहिक सुख प्रदान करने का एक साधन है। भगवान् ने अनाथपिण्डिक को उस ऐश्वर्य-प्राप्ति के मुख्य उद्देश्य बताए—अपने व अपने परिवार को सुखी बनाना, मित्रों को सुखी बनाना, आत्मरक्षा करना, पंचबलिकर्म (ज्ञानबलि, अतिथिबलि, पूर्वप्रेतबलि, राजबलि तथा देवता बलि) करना व सत्पात्र मे दान देना। यह ऐश्वर्य सम्पत्ति अपने ही पुरुषार्थ से धार्मिक विधि पूर्वक अर्जित की जानी चाहिए।

मुत्ता भोगा भता भच्चा वितिण्णा आपदासु मे।
उद्धग्गा दक्खिणा दिन्ना अथो पंचबलीकता॥
उपट्ठिता सीलवन्तो सञ्जता ब्रह्मचारयो।
यदत्थ भोगं इच्छेय्य पण्डिता घरमावसं॥ इत्यादि[2]

व्यापारी के सफल होने के उपाय—भगवान् ने व्यापारी को भी व्यापार मे सफलता प्राप्ति के साधन बताए हैं। उनके अनुसार व्यापारी मे तीन बाते होनी आवश्यक हैं—चक्षुमत्ता, विधुरता और आश्रययुक्तता। चक्षुमत्ता से तात्पर्य है कि व्यापारी को इस बात का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि वस्तु किस भाव आयी है और उसे किस भाव बेचने से लाभ होगा। विधुरता का अर्थ है कि व्यापारी वस्तु के खरीदने-बेचने में अत्यन्त दक्ष हो। तथा आश्रययुक्तता का यह आशय है कि व्यापारी अपने लेन-देन अधिक स्पष्ट रखे। वह दूसरे को ऐसा विश्वास पैदा कर सके कि वह सव्याज पैसा वापिस करने मे समर्थ है।[3]

सम्पत्ति के विनाश के कारण—गृहस्थ की सम्पत्ति के विनाश के कुछ कारण भगवान् ने इस प्रकार दिये हैं :—

---

२. वही, तिकनिपात।

१. वही, पंचकनिपात, मुण्डराजवर्ग।

२. वही, तिकनिपात।

१. नशीले पदार्थों का सेवन—नशीले पदार्थों के सेवन से अनेक दुष्परिणाम हैं—अ. तत्काल सम्पत्ति की हानि, आ. कलह-वृद्धि, इ. रोग-वृद्धि, ई. अयशकारी, उ. लज्जा निवारक तथा, ऊ. प्रज्ञानाशक।

२. चौरस्ते की सैर—विकाल मे गृहपति को चौरस्ते की सैर नही करनी चाहिए। उसके छह दुष्परिणाम हो सकते हैं—१. स्वयं अरक्षित होना। २. स्त्री-पुत्र आदि परिवार जनों का अरक्षित होना, ३. धन सम्पत्ति का संरक्षण न होना, ४. बुरी बातो की शंकाएँ होना, ५. मिथ्यारोपण की सम्भावना और, ६. दु:खदायी अन्य कारणो का उपस्थित हो जाना।

३. समज्याभिचरण (नृत्य, तमाशा)—नृत्य, तमाशा आदि देखने मे छह दोष है—कहाँ नृत्य है ? कहाँ गीत है ? कहाँ वाद्य है ? कहाँ आख्यान है ? कहाँ पाणिस्वर है ? कहाँ कुम्भथूण है ? इसकी चिन्ता दर्शक को बनी रहती है।

४. द्यूत—द्यूतक्रीड़ा को प्रत्येक धर्म में वर्जित माना गया है। भगवान् बुद्ध ने उसमे छह दोष दिये हैं—१. जय होने पर वैर की उत्पत्ति होती है, २. पराजित होने पर हारे धन का शोक होता है, ३. तत्काल सम्पत्ति की हानि, ४. वचन मे अविश्वस्तता, ५. मित्रों व अमात्यों द्वारा तिरस्कार, ६. कन्या देने-लेने मे बाधाएँ।

५. दुष्ट की मित्रता—दुष्ट प्रकृति वाले मित्र के साथ मित्रता रखने मे छह दोष हैं—जो धूर्त, शौण्ड, पियक्कड़, कृतघ्न, वचक और गुण्डे (साहसिक, खूनी) होते हैं, वही इसके मित्र होते हैं। (सिगालोवादसुत्त, दीघनिकाय)

६. आलस्य—आलसी व्यक्ति में निम्नलिखित दोष उत्पन्न हो जाते हैं—१. इस समय बहुत ठण्डा है, सोचकर वह काम नहीं करता, २. बहुत गर्म है, सोचकर काम नही करता, ३. बहुत शाम हो गई, सोचकर काम नही करता, ४. बहुत सुबह है, ५. बहुत भूखा है, ६. बहुत भोजन किया है, इत्यादि प्रकार से अनेक करणीय कार्यों को उपेक्षित कर देता है प्रमादी व्यक्ति। इससे अनुत्पन्न सम्पदा उत्पन्न नही होती और उत्पन्न सम्पदा नष्ट हो जाती है।

मित्र और अमित्र—भगवान् ने शृगाल गृहपति को बताया कि निम्नलिखित चार प्रकार के व्यक्ति यदि मित्र हों तो उनकी मित्रता शत्रुता के रूप मे समझना चाहिए—१. परधनहारक, २. केवल बात बनाने वाला, ३. सदा प्रिय वचनवादी (चाटुकारिता), ४. हानिकारक कृत्यों मे सहायता करने वाला। परधनहारक व्यक्ति अल्प सम्पत्ति द्वारा बहुत अधिक सम्पत्ति पाना चाहता है, भय (विपत्ति) से आपूर कार्य करता है तथा स्वार्थ के लिए परसेवा करता है। वावदूक व्यक्ति विगत व भविष्य मे सम्भावित वस्तु की प्रशंसा करता है और उसकी यह प्रशंसा तथ्य हीन रहती है। इसके अतिरिक्त उसके कारण वर्तमान कार्यों मे विपत्तियों

के आने की भी सम्भावना बनी रहती है। चाटुकारिता से व्यक्ति बुरे कार्यों में भी अनुमति प्रदान करता है, अच्छे कार्यों मे अनुमति देता है, सामने प्रशंसा के पुल बाँधता है और पीठ पीछे निन्दा करता है। जो मद्यपान, असमय भ्रमण, समज्याभिचरण व द्यूतक्रीड़ा करते हैं, वे सम्पत्ति के विनाश का कारण उपस्थित करते हैं।

निम्नलिखित चार प्रकार के मित्रों को सच्चा मित्र समझना चाहिए— उपकारी, समान सुख-दुःखभागी, अर्थ प्राप्ति मे सहायक व अनुकम्पक। जो व्यक्ति प्रमत्त (भूल करने वाले) की रक्षा करता है, उसकी सम्पत्ति की रक्षा करता है, भयभीत का रक्षक होता है और समय आने पर दुगुना लाभ उत्पन्न करवाता है। समान सुख-दु:खी वह है जो गोप्य बात बतलाये। गोप्य बात को छिपाकर रखे, आपत्काल मे उसे न छोड़े तथा यथावसर प्राण निछावर करने के लिए भी तैयार रहे। जो पाप का निवारण करे व पुण्य मार्ग मे ले जाये तथा अश्रुत व श्रुत को स्वर्ग का मार्ग दिखाये, वह हितवादी है। अनुकम्पक मित्र वह है जो मित्र की धन-सम्पत्ति होने पर प्रसन्न नहीं होता, मित्र की निन्दा करने वाले को सहता नहीं तथा मित्र की प्रशंसा करने पर प्रशंसा करता है।

अंगुत्तरनिकाय मे कहा है जो प्रिय हो, अनुकूल हो, गौरव-भाजन हो, पूज्य हो, वक्ता हो, वचनक्षम हो, गम्भीर बात करने वाला हो तथा अनुचित मार्ग से दूर करने वाला हो, उसकी संगति करनी चाहिए।

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गम्भीर च कथ कत्ता नो चट्ठाने नियोजको॥
यम्हि एतानि ठानानि, संविज्जन्तीध पुग्गले।
सो मत्तो मित्तकामेन, भजितब्बो तथाविधो॥[1]

सेवा करना—उपासक का कर्तव्य है कि वह माता-पिता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा साधु की सेवा करे। माता-पिता ने हमारा भरण-पोषण किया, काम किया, कुल परम्परा बनाये रखी, दायज्ज (विरासत) दी, श्राद्ध दान दिया, यह सोचकर उपासक उक्त सभी कार्य माता-पिता के प्रति करे क्योंकि माता-पिता पुत्र को पाप से निवारित करते हैं, पुण्य पथ पर आरूढ़ करते है, शिल्प शिक्षण देते हैं, योग्य विवाह सम्बन्ध करते है, दायज्ज निष्पादन करते हैं।

आचार्य की सेवा के सन्दर्भ में उत्थान (तत्परता) उपस्थान (उपस्थिति), सुश्रूषा, परिचर्या व सत्कारपूर्वक शिल्प प्रशिक्षण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आचार्य

---

१. वही, सत्तनिपात।

शिष्य को विनीत बनाता, सुन्दर शिक्षा देता, सभी प्रकार शिल्प सिखाता, मित्र का सुप्रतिपादन करता व दिशा की सुरक्षा करता।

पत्नी की सेवा उसके सम्मान से, अपमान न करने से, मिथ्याचार न करने से, ऐश्वर्य प्रदान करने से तथा अलंकार प्रदान करने से करनी चाहिए। क्योंकि भार्या द्वारा कर्मान्त भले प्रकार के होते है, परिजन वश में रहते हैं, वह स्वयं अनाचारिणी नहीं होती, अर्जित सम्पत्ति आदि की रक्षा करती है तथा सभी कार्मों में निरालस और दक्ष होती है।

मित्रों की सेवा दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या, समानता तथा विश्वास प्रदान करने से होनी चाहिए। क्योंकि वे प्रमाद कर देने पर रक्षा कर देते हैं, भय के समय शरण देने वाले होते हैं, प्रमत्त की सम्पत्ति की रक्षा करते हैं, आपत्काल में नहीं छोड़ते तथा दूसरे लोग भी ऐसे मित्र का सम्मान करते हैं।

सेवक की सेवा करके उसके बल के अनुसार कार्य देने से, भोजन-वेतन प्रदान करने से, रोगि-सुश्रूषा से, उत्तम संरक्षक पदार्थ देने से, और समय पर अवकाश (वोसग्ग) देने से करनी चाहिए। सेवक स्वामी से पूर्व बिस्तर से उठ जाने वाले होते हैं, प्रदत्त वस्तु को ही ग्रहण करने वाले होते हैं, सुव्यवस्थित कार्य करने वाले होते हैं तथा कीर्तिविस्तारक होते हैं।

साधु-ब्राह्मण की सेवा मैत्री भावयुक्त कायिक, वाचिक व मानसिक कर्म से, उनके लिए द्वार खुला रखने से, खाद्य वस्तु प्रदान करने से होती चाहिए। ये श्रमण-ब्राह्मण गृहस्थों को पाप कार्यों से दूर रखते हैं, कल्याण-पथ दिखाते हैं, कल्याण प्रदान करते हैं, विद्यादान देते हैं तथा स्वर्ग का पथ-दर्शन कराते हैं।

पुण्य का मूल—उपासक के लिए पुण्य का मूल स्रोत यह है कि वह सर्वप्रथम बुद्धधर्म और संघ की शरण जाय तथा पाँच प्रकार का दान करे क्योंकि श्रावक के दान पर ही भिक्षु-संघ आधारित है—अतिथि को दान देना, पथिक को दान देना, रोगी व दरिद्र को दान देना तथा नई उपज व नये फल शीलवानों को भेंट करना।[२] दान देने से बहुजनप्रिय, सत्संगति, वंशवृद्धि, गृहस्थधर्म का परिपालन तथा सुगति प्राप्त होती है। (वही)। दाता दायक के लिए आयु, वर्ण, सुख, बल और प्रतिभा का दान करता है—

> आयुदो बलदो धीरो वण्णदो पटिभाणदो।
> सुखस्स दाता मेधावी सुखं सो अधिगच्छति ॥
> आयु दत्वा बलं वण्णं सुखं च पटिभाणकं।
> दीघायु यसवा होति यत्थ यत्थुप पज्जति ॥[१]

---

१. वही, पंचक निपात। २. पंचक निपात, अंगुत्तर।

मांगलिक बातें—बौद्ध साहित्य के हर पृष्ठ में मांगलिक बातें भरी हुई हैं। परन्तु मैं यहाँ सुत्तनिपात का महामङ्गलसुत्त ही उद्धृत कर रहा हूँ जिसमें भगवान् बुद्ध ने 'उत्तम मंगल क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर दिया है।

मूर्खों की संगति न करना, पण्डितो की संगति करना और पूज्यों की पूजा करना, यह उत्तम मंगल है। अनुकूल स्थानों में निवास करना, पूर्व जन्म का संचित पुण्य होना, स्वयं को सन्मार्ग पर लगाना, बहुश्रुत होना, शिल्प सीखना, शिष्ट होना, सुशिक्षित होना, मिष्टभाषी होना, माता-पिता की सेवा करना, स्त्री-पुत्र का पालन करना, निराकुल होकर कार्य करना, दान देना, धर्माचरण करना, बन्धु-बान्धवों का आदर-सत्कार करना, निर्दोष कार्य करना, मन, वचन व काय से पापकृत्यों को त्यागना, मद्यपान न करना, धार्मिक कार्यों मे तत्पर रहना, विनम्र रहना, सन्तुष्ट रहना, कृतज्ञ होना, यथावसर धर्मश्रवण करना, क्षमाशील होना, आज्ञाकारी होना, श्रमणो का दर्शन करना, धार्मिक चर्चा करना, तप, ब्रह्मचर्य का पालन करना, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल है। प्रत्येक जीवन के उत्थान की दृष्टि से ये मांगलिक बातें यथार्थ में अत्यन्त कल्याणकारी हैं।

असेवना च बालासं पण्डितान च सेवना।
पूजा च पूजनीयान तं मंगलमुत्तमं ॥
पटिरूपदेसवासो च, पुब्बे च कतपुञ्ञता।
अत्तसम्मा पणिधि च एतं मङ्गलमुत्तमं ॥
बाहुसच्चं च सिप्प च, विनयो च सुसिक्खितो।
सुभासिता च या वाचा एत मगलमुत्तमं ॥ इत्यादि

उपासक इन सब बातो का पालन कर श्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त कर लेता है। भगवान् के उपदेशों का मनन-चिन्तन कर उस पर दृढ़ आस्थावान होना स्रोतापत्ति का प्रमुख साधन है। इससे प्राणातिपातादि पंच पापों से निवृत्ति हो जाती है तथा नरकगमन, तिर्यञ्चयोनि प्रेतयोनि मे जन्मग्रहण करना क्षीण हो जाता है।[१] स्रोतापत्ति अवस्था का परिणाम यह होता है कि वह सद्धर्म में स्थिर हो जाता है, पतनोन्मुख नही होता, मर्यादित जीवन होने से दुःख को प्राप्त नहीं होता, तथा प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म का ज्ञान हो जाता है।[२]

---

१. दसमसुत्त, अंगुत्तरनिकाय।
२. वही, छक्कनिपात, अनिसंसवग्ग।

लोभ, राग और मोह रूप दोषों के दूर हो जाने पर सकदागामि अवस्था प्राप्त हो जाती है। इससे जीव को एक बार जन्म-ग्रहण करने के बाद निर्वाण प्राप्ति हो जाती है। अनागामि अवस्था में यह जन्म-ग्रहण भी दूर हो जाता है। अश्रद्धा, निर्लज्जता, पाप कार्यों मे निर्भयता, आलस्य, मूढ़स्मृति तथा दुष्प्रज्ञता को छोड़ना अनागामि अवस्था प्राप्त करने के लिए अपेक्षित है।

उक्त तीन श्रेणियों को पार करने पर व्यक्ति श्रमण बनता है और बाद में अर्हत्व अवस्था उसे प्राप्त हो जाती है। तदर्थ उसे सुस्ती, आलस्य, उद्धतपन, कौकृत्य, अवरुद्ध तथा प्रमाद को छोड़ना पड़ता है। साथ ही मान, हीनमान, (ओमान), अतिमान, अधिमान, स्तब्धता तथा अतिनिपात (स्वयं को तुच्छ समझना) से दूर रहना भी अत्यावश्यक है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म मे उपासक की दैनन्दिनी उसके साधारण जीवन के उत्थान से अधिक सम्बद्ध है। बौद्धधर्म के अनुसार धर्म चूँकि सांदृष्टिक है इसीलिए भगवान् ने व्यक्ति के ऐहिक जीवन को सुधारने की ओर ध्यान अधिक दिया है। उपासिकाओं के लिए भी इन्हीं धर्मों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गई है।

परिवर्त २

बौद्ध योग-साधना की उत्पत्ति और विकास

स्थविरवादी अथवा हीनयानी साधना

१—(क) योग का स्वरूप

विनय और योग-साधना का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा हुआ है। भारतीय सास्कृतिक साधना मे योग का विशेष महत्त्व है। वैसे योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में मिलता है पर प्रस्तुत सन्दर्भ मे योग वह साधना है जो मोक्ष की प्राप्ति का कारण हो। जैन, बौद्ध एव वैदिक सम्प्रदाय में इस प्रकार की योग-साधना प्रचलित रही है। ऋग्वेदकाल मे योग को सम्भवत: मोक्षप्रापक नही माना गया। उत्तरकाल मे जो योग-प्रक्रिया मिलती है वह मूलत: श्रमण संस्कृति की मूल शाखा जैन साधना से अधिक प्रभावित दिखाई देती है। अतएव योग को पूर्ववैदिक और आर्येतरजन्य माना जाना चाहिए। मोहिंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननो मे प्राप्त योगियो और साधको का अंकन और चित्रण योग परम्परा के अस्तित्व को ईसा पूर्व के लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सिद्ध कर देते हैं। ऋग्वेद (१०. १३६, २–३) का "मुनियो वातरशना: पिशंगा वसते मला" और भागवतपुराण (५, ३, २०) का "वातरशनाना श्रमणानां ऋषीनाम्" उल्लेख इसी का सूचक है।

बौद्ध धर्म मे योग शब्द का प्रयोग चित्त चेतसिक क्रियाओ को केन्द्रित करने के अर्थ मे हुआ है। मूलत: पालि त्रिपिटक मे इस शब्द का उपयोग इस अर्थ मे नही हुआ। अरियपरियेसेन सुत्त (म.२६) में आलारकालाम और उद्दकरामपुत्त की योग साधना का वर्णन अवश्य हुआ है पर बुद्ध ने उसे अनुपयोगी मानकर छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त जैन सच्चक के माध्यम से जैनयोग साधना का भी उल्लेख हुआ है, जहाँ कामभावना और चित्तभावना को विवाद का विषय बनाया गया है। बौद्ध ध्यान का उद्देश्य सम्मासमाधि की प्राप्ति करना है। यह सम्मासमाधि अष्टाङ्गिक मार्गों की उपलब्धि से होती है जो धम्मचक्कपवत्तन के नाम से भी प्रचलित है। इसे "मज्झिम पटिपदा भी कहा गया है। सील, समाधि और पञ्ञा मे इसके आठो अंग विभक्त हैं। "तिविधा सिक्खा" भी

इसे कहा गया है। समाधि और विपस्सना के आधार पर विकसित होनेवाला बौद्धयोग जैनधर्म के समान मानसिक और चारित्रिक शुद्धि पर आधारित है।

बौद्ध योग के सन्दर्भ मे अनेक पारिभाषिक शब्द पालि वाङ्मय मे प्रयुक्त हुए हैं। उनमें कुछ प्रमुख ये हैं[1]—

१. समाधि—सम् + आ + धा एकत्रित करने के अर्थ में। धम्मदिन्ना और विसाखा के बीच हुए संवाद मे इसका स्पष्ट रूप मिलता है। धम्मदिन्ना ने यहाँ "चित्तस्य एकग्गता" समाधि का स्वरूप दिया है।[2] धम्मसंगणि (१०) मे इसका स्वरूप इस प्रकार मिलता है—ये चित्तस्स ठिति, स्थिति, अवट्ठिति, अविसाहारो, अविक्खेपो, अविसाहटमनसता, समथो, समाधिन्द्रियं, समाधिबलं सम्मा समाधि। अट्ठसालिनी (११८) मे बुद्धघोष ने इसकी व्याख्या में चित्तस्स एकग्गभावो लिखा है।

२. चित्तेकग्गता—'समाधिस्स एतन्नाम' भी इसका समानार्थक है। विसुद्धिमग्ग मे उन्होंने 'कुशल' शब्द देकर और अधिक स्पष्टता ला दी है—"कुसल चित्तेकग्गता समाधि"। अट्ठसालिनी में इसे 'सम्मासमाधि' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धसाधना मे मन की पवित्रता को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह समाधिभावना सम्मावायाम और सम्मासति पूर्वक मिलती है। समाधि विपस्सना का पूर्व रूप है। यह विपस्सना चित्त की एकाग्रता का क्रमिक अन्तिम विकास है।

३. चेतोसमाधि—(दी–१, १३) इसमे पुब्बेनिवासानुस्मृति आ जाती है। अत: यह सम्मासमाधि के बाद की स्थिति है। चेतो विमुत्ति अथवा फलसमाधि समाधि की अंतिम स्थिति है। महालिसुत्त (दी. २-२६५) में इसे अर्हत् के चित्त से सम्बद्ध किया गया है। चेतो समथ (दी–३, २७३, म. १, ४६४), चित्तभावना, चित्तविसुद्धि और अधिचित्त संज्ञाओं का प्रयोग भी इस सन्दर्भ मे हुआ है। विपस्सना (विविध प्रकार से देखना) पञ्ञा, ञाण–दस्सन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। अनिच्च, दुक्ख और अनत्ता को दूर करने पर इसकी प्राप्ति होती है।

४. झान—इस शब्द का प्रयोग ध्यान अर्थ मे आया है। बाद मे यह पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं (ध्यान की प्रतिकूल अवस्थाओं को भस्म करने) के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यह झान दो प्रकार का है—आरम्मण–उप–निज्झान और लक्खण उप–निज्झाण। आरम्मण मे चार रूप और चार अरूप की स्थितियाँ आती हैं। इन्हे समापत्ति और उपचार भी कहा गया है। लक्खण तीन प्रकार का है—विपस्सना, मग्ग और फल।

---

१. बुद्धिस्ट मेडीटेसन, पृ. १७–३४

५. **भावना**—भाने के अर्थ में आया है—कुसलं चित्तं भावेति, झानं भावेति, समाधिं भावेति। बुद्धघोष ने भावेति शब्द को भू धातु से निष्पादितकर उसका अर्थ उप्पादन और वद्धन किया है। मज्झिमनिकाय के महास-कुलदायीसुत्त में भी इसी अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। संयुत्त की अट्ठकथा में पुनप्पुनं जनेति के अर्थ मे 'भावेति' का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः भावना का अर्थ सद्भाव अथवा सद्गुणों से आया है जो समाधि के लिए आवश्यक है।

६. **योग**—त्रिपिटक मे योग शब्द का प्रयोग जोड़ने के अर्थ मे आया है—पटिसल्लानयोग। बाद मे योग का प्रयोग ध्यान के सन्दर्भ मे प्रयत्न करने के अर्थ मे किया गया है। योगा वे जायति भूरि, अयोगा भूरि संख्यो (धम्मपद, २८२) मे योग से ज्ञानप्राप्ति बतायी है। इसकी अट्ठकथा मे इसका सम्बन्ध ३८ प्रकार के कर्मस्थानो से किया गया है (धम्म. अट्ठ. ३·४२१)। योगी और योगाचार शब्दो का प्रयोग अट्ठकथा मे ध्यान करने वाले के अर्थ मे आया है।

७. **पधान**—मज्झिमनिकाय मे विशिष्ट आध्यात्मिक प्रयत्न के अर्थ मे इसका प्रयोग मिलता है। बुद्धवस मे इसका प्रयोग ध्यान के अर्थ में हुआ है। इसके अतिरिक्त कम्मट्ठाण, आरम्मण, निमित्त, अभिञ्ञा, समापत्ति, विमोक्ख, अभिभायतन आदि शब्दो का भी प्रयोग हुआ है।

जैन सस्कृति मे भी योग, भावना, समाधि, चित्तेकग्गता, ध्यान, भावना आदि जैसे शब्दो का प्रयोग ध्यान के प्रसंग मे आता है। उमास्वामी ने मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा है। यह योग शुभ रूप और अशुभ रूप होता है। प्रवचनसार मे अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये तीन भेद किये गये हैं। मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्रमण भिक्षु को शुद्धोपयोगी होना आवश्यक है।[1]

ध्यान और समाधि—झान का अर्थ ध्यान करना और बाधायें दूर करना (झायेति) है। सामञ्ञफलसुत्त मे वितक्क, विचार, पीति, सुख और एकग्गता ये ५ श्रेणियाँ ध्यान की है। सांसारिक व्यामोह के कारण मन एकायक केन्द्रित नही किया जा सकता। अतः सर्वप्रथम आवश्यक है कि योगी पञ्चनीवरणों को दूर करे। वितक्क (सम्मासंकप्प, विभंग, २५७) सम्यक् संकल्प के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। विचार अनुपेक्खनता (बारम्बार परीक्षण अथवा चिन्तन) के अर्थ मे आया है। इससे साधक संदेहविमुक्त हो जाता है और प्रीति (वस्तु

---

१. विस्तार से देखिये, लेखक का निबन्ध—जैन योग साधना, जैन मिलन १९७१।

के प्रति रुचि) जाग्रत हो जाती है। विसुद्धिमग्ग में इसके पाँच भेद किये गये हैं—खुद्दकापीति, खणिकापीति, अवेक्कंतिकापीति, उब्बेगापीति एवं फरणापीति। सुख को "सुखिनो चित्तं समाधियति" (दी. १·७५) कहा गया है। इस प्रकार नीवरणों को दूर कर एकग्गता प्राप्त होती है।

पञ्चनीवरणों और वितक्क आदि को दूर करने पर **प्रथम ध्यान** की प्राप्ति होती है। इस स्थिति में साधक रूपावचर (ब्रह्मलोक) मे उत्पन्न होता है। निकायों में प्रथम ध्यान में एकग्गता की प्राप्ति नही बतायी, परन्तु विभंग (पृ. २५७) मे स्पष्टत: पाँचों अंगों का होना बताया है। सारिपुत्त और महाकोट्टित (मज्झिम. २९४) के बीच हुए संवाद मे भी यही झलक मिलती है।

प्रथम ध्यान की प्राप्ति के बाद ध्यान के विषय (कसिण) पर चिन्तन का अभ्यास झायी (ध्यानी) करता है। इसे वसिता कहते हैं। यह पाँच प्रकार का है—आवज्जना (प्रतिबिम्ब), समापज्जना (प्रवेश), अधिट्ठान (प्रस्थापना), वुट्ठान (उत्थान) और पच्चवेक्खना (अनुवीक्षण)। चित्त की एकाग्रता की प्राप्ति के लिए वितक्क और विचार जब बाधक लगते हैं तब **द्वितीय ध्यान** की प्राप्ति होती है। 'एकोदिभाव' से वितक्क, विचार दोनो नष्ट हो जाते हैं और एकग्गता स्थायी हो जाती है। इससे भी आगे बढ़ने पर **तृतीय ध्यान** प्राप्त होने पर झायी सुखविहारी हो जाता हैं। **चतुर्थ ध्यान** पाने पर चेतोविमुत्ति प्राप्त होती है और इससे ध्याता तटस्थ हो जाता है तथा दु:ख और प्रसन्नता का भाव समाप्त हो जाता है। संयुत्तनिकाय (४·२१७) के अनुसार झायी प्रथम ध्यान में वचन से दूर होता, द्वितीय ध्यान में वितक्क-विचार से दूर होता (वचीसंखार) तृतीय ध्यान में सांसारिक मोह से दूर होता और चतुर्थ ध्यान मे अस्सासपस्सास से दूर होता। इसे कायसंखार कहा गया है। इसके बाद झायी **अत्तनि धम्मं सम्पस्समानो विहरति** (अ. ५.२०९) हो जाता है। इस चतुर्थ ध्यान को अट्ठकथाओं में 'पादक' कहा गया है। इस स्थिति मे आसवों से विमुक्ति होती है।

अभिधम्म मे वितक्क और विचार को पृथक् कर देने पर पाँच ध्यान हो जाते हैं। बुद्ध ने यहाँ तीन प्रकार की समाधि बतायी है—(१) वितक्क विचारयुक्त समाधि, (२) वितक्क रहित और विचारयुक्त समाधि, और (३) वितक्क विचार रहित समाधि। इनमे प्रथम और तृतीय समाधि का समाहार चार ध्यानों मे हो जाता है, द्वितीय का नही। यह अरूपध्यान है, जहाँ विचार तो रहता है, पर वितक्क नही। अभिधम्म मे ध्यान का विकास हुआ। वहाँ पाँच ध्यान वितक्क और विचार से युक्त होकर १५ ध्यान रूपावचर मे और ४० ध्यान लोकुत्तर में हो जाते हैं (अभिधम्मत्थसंगह, पृ. ३–४)। बाद में

चार प्रकार का अरूपावचर ध्यान प्राप्त होता है। इस प्रकार आठ प्रकार का भी ध्यान हो जाता है।

जैन संस्कृति—मे ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। बौद्ध साधना मे पञ्चनीवरणों से दूर होने पर प्रथम ध्यान प्राप्त होता है, पर जैन साधना ने पञ्चनीवरणों की प्राप्ति के प्रयत्नों में ही प्रथम दो ध्यानों को लगा दिया—आर्त और रौद्र ध्यान। इसलिए यहाँ दोनों मे कोई समानता नही दिखती। धर्मध्यान सर्व प्राणियो के प्रति करुणाभाव, पंचेन्द्रियक विषयो से दूर, उपशान्त भाव, बन्ध और मोक्ष, गमन और आगमन के हेतुओ पर विचार, पञ्चमहाव्रतों का ग्रहण आदि धर्मध्यान है। यह चार प्रकार का है—आज्ञाविचय (जिनाज्ञा के गुणो का चिन्तन), अपायविचय (रागद्वेषादिजन्य दोषों की पर्यालोचना करना), विपाकविचय (कर्मफल का चिन्तन करना), और सस्थानविचय (जीवलोक आदि के संस्थान पर विचार करना)। शुक्ल ध्यान के चार लक्षण है—विवेक, व्युत्सर्ग, अव्यथा और असंमोह। यह ध्यान चार प्रकार का है—पृथक्त्ववितर्कसविचारी, एकत्ववितर्क अविचारी, सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति, और समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती। धर्म और शुक्लध्यान को ध्यानतप कहा गया है।

बौद्धधर्म मे ध्यान के फल की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। उसकी सूक्ष्मता पर उतना गहन चिन्तन नही किया, गया जो जैनधर्म मे मिलता है। जैनधर्म मे ध्यान के प्रकार, लक्षण, अवलंबन और अनुप्रेक्षाओ के माध्यम से ध्यान का सुन्दर और गम्भीर विश्लेषण उपलब्ध होता है। वितर्क शब्द दोनो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। कुल मिलाकर धर्मध्यान को प्रीति के समकक्ष रखा जा सकता है और शुक्लध्यान के अन्तर्गत बौद्धधर्म के शेष ध्यान समाहित हो जाते हैं। जैनधर्म मे अन्तिम दो ध्यान तप के अग हैं, परन्तु बौद्धधर्म में चारों ध्यान तप के अंग माने गये हैं।

निकायों मे **समाधि** की परिभाषा "चित्तस्स एकग्गता" की गई है। अभिधम्म मे जब इसका विकास हुआ तो इसका प्रयोग पंचेन्द्रियजन्य विषय भोगों को मन से दूर करने के अर्थ मे होने लगा। व्याख्यात्मक भागों में एकग्गता के साथ कुशल और अकुशल शब्दों का उपयोग हुआ—कुशलचित्तेकग्गता और अकुशलचित्तेकग्गता। समाधि हमेशा अनुचिन्तन से प्राप्त होती है—योनिसो मनसिकारा। इसके अभ्यासकाल मे बोधिपक्षीय धर्मों का अभ्यास करना अपेक्षित है। समाधि का समुचित अर्थ है—सम्+आ+धान अर्थात् मन को एक पदार्थ पर केन्द्रित करना।

समाधि के दो भेद हैं—उपचार और अर्पणा। अर्पणा और ध्यान लगभग समानार्थक हैं। धम्मसंगणि में अर्पणा और वितर्क को समानार्थक माना गया है। समाधि के अन्य दो भेद भी मिलते हैं—लौकिय और लोकुत्तर। लोकुत्तर का सम्बन्ध निर्वाण से है। समाधि प्रीति से उत्थित होती है। सप्पीतिक और निप्पीतिक भेद भी समाधि के किये गये हैं। इसके चार, पाँच आदि भेदों का भी वर्णन विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में मिलता है।

जैनधर्म में समाधि शब्द का उपयोग चित्त की चंचलता पर संयमन करने के अर्थ मे हुआ है। नायाधम्मकहाओ (८.६९) की अभयदेवटीका मे समाधि का अर्थ चित्तस्वास्थ्य किया गया है। दसवैकालिक (९.४.७–९) मे समाधि के दो भेद मिलते हैं—तपसमाधि और आचारसमाधि। कर्मक्षय के लिए किया गया तप तपसमाधि है, और कर्मक्षय के लिए ही किया गया आचार का पालन आचारसमाधि है। ये भेद बौद्धधर्म मे प्राप्त समाधि के अर्थ से भिन्न नहीं। चित्त की एकाग्रता से दोनों संस्कृतियों का सम्बन्ध है। बोधिपक्षीय धर्मों का पालन जैनधर्म के आचार–तपसमाधि की समकक्षता में आता है। तप के माध्यम से ही उपचार–अर्पणात्मक स्थिति जैनधर्म में बताई गई है।

(ख) समाधि के विषय और प्रणालियाँ

१. **समाधि का विषय**—समाधि का मूल आधार चित्त की विशुद्धि है जो विचारों पर आधारित रहती है। विचारों के विषय (आरम्मण) जैसे होंगे, चित्त की प्रकृति भी वैसी ही होगी। अत: समाधिस्थ व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसका लक्ष्य और लक्ष्य-प्राप्ति का मार्ग पूर्णत: शुद्ध हो। बौद्ध साहित्य मे इस पर विविध दृष्टियों से विचार किया गया है। यह वैविध्य हम पालि निकाय, अभिधम्म, विसुद्धिमग्ग और परवर्ती ग्रन्थों के माध्यम से देखने का प्रयत्न करेंगे।[१]

१. **निकाय**—निकायों मे दो प्रकार से विचार किया गया है—प्रथमत: व्यक्तिगत रूप से समाधि के विषय और उसकी उपलब्धि की प्रणालियों का निर्देशन है और द्वितीयत: सर्वसाधारण व्यक्तित्व की दृष्टि से इस पर विचार किया गया है। ये दोनों दृष्टियाँ कहीं पृथक् और कही समन्वित रूप मे उपस्थित की गई हैं। अंगुत्तर निकाय का एककनिपात इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यहाँ निकायों मे उपलब्ध समाधि के विषयों का उल्लेख किया गया है—

१. चार ध्यान—योगी वितर्क-विचार, प्रीति, सुख और समाधि को प्राप्त करता है।

---

१. बुद्धिस्ट मेडीटेसन, पृ. ५७-७६

२. चार ब्रह्मविहार—मेत्ता, करुणा, मुदिता और उपेक्खा।

३. चार सतिपट्ठान—कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना और धम्मानुपस्सना।

४. चार सम्मप्पधान।

५. चार इद्धिपाद—छन्द, विरिय, चित्त और वीमंसा।

६. पाँच इन्द्रियाँ—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

७. पाँच बल—सद्धा, विरिय, सति, समाधि और पञ्ञा।

८. सात बोज्झंग—सतिसंबोज्झंग, धम्मविचयसंबोज्झंग, विरियसं. पीतिसं. पस्सद्धिसं. और समाधिसंबोज्झंग।

९. अरिय अट्ठङ्गिकमग्ग—सम्मादिट्ठि, संकप्प, वाचा, कम्मन्त, आजीव, वायाम, सति, और समाधि।

चार ध्यान और चार ब्रह्मविहार को छोडकर शेष सभी धर्म बोधिपक्खिय धम्म कहे जाते हैं—आनापानसति।

१०. आठ विमोक्ख।

११. आठ अभिभायतन।

१२. दस कसिण—पठवी, अप, तेजो, वायो, नील, पीत, लोहित, ओदात, आकास, विञ्ञाण।

१३. बीस सञ्ञा—असुभ, आलोक, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अनिच्च, अनिच्चे दुक्ख, दुक्खे अनत्त, पहाण, विराग और निरोधसञ्ञा। ये संज्ञायें बाह्य विषय हैं जिन पर योगी ध्यान करता है। अनिच्च, अनत्त, मरण, आहारे पटिक्कूल, सब्बलोके अनभिरत, अट्ठिक, पुलवक, विनीलक, विच्छिद्दक, और उद्धमातक संज्ञायें हैं—जिन पर योगी चिन्तन करता है।

१४. छः अनुस्सति और चार सति बुद्ध, धम्म, संघ, सील, चाग और देवतानुस्सति, तथा अनायात मरण, कायगत, और उपसमानुस्सति इन छः स्मृतियों का ध्यान करना।

निकायों में योगी के लिए यत्र तत्र १०१ विषयो पर मनन करने को कहा गया है। महासकुलदायी सुत्त (मज्झिमनिकाय) मे एक वृहत् सूची दी गई है जिसमे ७५ विषयों को उन्नीस मार्गों में वर्गीकृत किया गया है। ये विषय ध्यान की प्रणालियों से सम्बद्ध हैं—सैतींस बोधिपाक्षिक धर्म, आठ विमोक्ख, आठ अभिभायतन, दस कसिणायतन, चार ध्यान, विपस्सना, पञ्च अभिञ्ञा, आसवक्खयञाण, और चेतोविमुत्तिञाण।

१. विपस्सना ञाण—मज्झिमनिकाय के रथविनीत सुत्त में पुण्ण को सात प्रकार से विसुद्धि (निर्वाण) प्राप्त करने का मार्ग बताता है—सील, चित्त, दिट्ठि, कंखावितरण, मग्गामग्गञाणदस्सन, पटिपदाञाणदस्सन, और आणदस्सन विसुद्धि। विसुद्धिमग्ग और अभिधम्मत्थसंगह में भी इसका वर्णन आया है।

२. अभिधम्म साहित्य—अभिधम्म साहित्य मे चित्त के आधार पर समाधि के विषयों एवं प्रणालियों पर विवेचन किया गया है—आठ कसिण, आठ अभिभायतन, विमोक्ख (प्रथम तीन), चार ब्रह्मविहार, दस असुभ—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खायितक, विक्खित्तक, हेतुविक्खत्तक, लोहितक, पुलवक, और अट्ठिक तथा चार अरूप ध्यान (शेष विमोक्ख)। इनमें दस कसिण के स्थान पर आठ कसिण का उल्लेख आया है। इसलिए कि अन्तिम दो कसिण अरूप से सम्बन्धित हैं। दस अशुभों का उल्लेख भी यहाँ है जो निकाय की सूची मे नही दिखते। उनमे पाँच अशुभ पाँच संज्ञाओं (१६–२०) के समानान्तर हैं। महासतियट्ठानसुत्त मे भी शव के सन्दर्भ में विविध रूप से चिन्तन करने का निर्देशन मिलता है। इस तरह इस विषय सूची मे ध्यान के ३७ विषय, रूप ध्यान के ३३ विषय और अरूप ध्यान के चार विषयों का आख्यान है।

३. विसुद्धिमग्ग—विसुद्धिमग्ग मे बुद्धघोष ने कम्मट्ठान के रूप मे चालीस विषयों का निर्धारण किया है—दस कसिण, दस असुभ, दस अनुस्मृतियाँ, चार ब्रह्मविहार, चार अरूपआकास, विञ्ञाण, आकिञ्चन, और नेवसञ्ञा नासञ्ञायतन, आहारे पटिक्कूल सञ्ञा एव चतुधातुववत्थान। यहाँ बुद्धघोष ने दस कसिणों मे विज्ञान कसिण के स्थान पर आलोक कसिण को रखा है और आकास कसिण के स्थान पर परिच्छिन्नाकास शब्द का उपयोग किया है। चतुधातुववत्थान का वर्णन महाहत्थिपदोपम धातु विभंग आदि जैसे सुत्तों में उपलब्ध होता है। विमोक्ख और अभिभायतनों को बुद्धघोष ने पृथक् स्थान नहीं दिया। विपस्सना के विकास के सन्दर्भ मे पञ्ञाभावना के प्रकरण मे पाँच विसुद्धियों का विवेचन किया है। पटिपदा आणदस्सना नामक छठी विसुद्धि में नव प्रकार का अन्तर्ज्ञान होता है—उदय वयानुपस्सना, भंगानुपस्सना, भयतुपट्ठान, आदीनवानुपस्सना, निब्बदानुपस्सना, मुञ्चितुकम्यताञाण, पटिसंखानुपस्सना, संखारुपेक्खा एवं अनुलोमञाण। पटिसंभिदामग्ग मे दस प्रकार का ज्ञान बताया गया है। वहाँ आणदस्सनविसुद्धि का स्थान पृथक् वर्णित है।

बुद्धघोष ने अट्ठसालिनी (१६८) मे ३८ प्रकार के कर्मस्थान बताये हैं। थेरवाद परम्परा में ४० कर्मस्थानों का वर्णन आता है जो समाधि-प्राप्ति के लिए

सहायक होते हैं। धम्मसंगणि मे अन्तिम दो कसिणों को स्थान नही दिया गया। शायद इसीलिए बुद्धघोष ने ३८ कर्मस्थान कहे हों। अभिधम्मत्थ संगह मे अनुरुद्ध ने भी प्राय: विसुद्धिमग्ग का ही अनुसरण किया है।

४. उत्तरवर्त्ती साहित्य—सिंहली भाषा में लिखे गये विदर्सणापोत नामक उत्तरवर्त्ती ग्रन्थ मे विसुद्धिमग्ग का ही अनुकरण दिखाई देता है पर विषय विभाजन मे कुछ अन्तर है पारिभाषिक शब्दावली भी कुछ भिन्न है। दसकसिण, (प्रथम चार भूतकसिण और शेष वण्ण कसिण), दस असुभ, कायगतासति (३२ प्रकार), दस अनुस्सति, चार अरूप, चार ब्रह्मविहार। इन १८ प्रकारों मे आनापानसति को प्रथम स्थान दिया गया, कायगतासति को ३२ प्रकारों में सम्मिलित कर दिया गया तथा आहारेपतिक्कूलसंजा और चतुधातुववत्थान को अनुस्सति के रूप मे स्वीकार किया गया।

२. शीलविसुद्धि

शील अथवा चारित्रिक विसुद्धि बौद्धधर्म की आधारशिला है। संयुक्तनिकाय में इसी को पूर्ण विशुद्धि के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इसकी दो प्रमुख विशेषतायें हैं (१) समाधान—चित्त को केन्द्रित करना और (२) उपधारण—श्रेष्ठ गुणो को धारण करना। विधेयात्मक प्रवृत्तियो का पालन करना और निषेधात्मक प्रवृत्तियों को दूर करना योगी का विशिष्ट कर्तव्य है। शील का प्रारम्भ भी यही से होता है।

श्रमण को सर्वप्रथम सील विसुद्धि, इन्द्रिय संवरण, सति संप्रज्ञा, और सन्तुष्टि का अभ्यास करना चाहिए। निकायो का वर्णन विशेषत. इन्हीं गुणो पर आधारित है। विसुद्धिमग्ग मे इन्ही को पातिमोक्खसंवरण, इन्द्रियसंवरण, आजीवपरिसुद्धि, और पच्चयसन्निसित के नाम से व्याख्यायित किया गया है।

१. पातिमोक्ख—जैसा हम पिछले अध्याय मे देख चुके हैं, श्रमण भिक्षु के लिए निर्धारित नियम पातिमोक्ख कहलाते हैं। इनकी संख्या २२७ है। इनका सम्बन्ध, शब्दों, कृत्यों और विचारो की पवित्रता से है। आचार-गोचर की सम्पन्नता भिक्षु की विशेषता है।

२. इन्द्रिय संवरण—निर्धारित नियमो मे शुद्धि प्राप्त करने के बाद भिक्षु का कर्तव्य है कि वह चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन रूप द्वारो के क्रमश: रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म रूप आलम्बनों पर संयमन करे।

३. आजीवपारिसुद्धि—पातिमोक्ख नियमों का पालन करते हुए जो भिक्षु इन्द्रिय संयमन करता है उसकी आजीव-भरण-पोषण विषयक परिशुद्धि

आवश्यक है । इस दृष्टि से भिक्षु को पाराजिक (अलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन), संघादिशेष (स्त्री-पुरुष के प्रेम के बीच दूतकार्य करना), थुल्लच्चय (अर्हत् न होने पर भी अर्हत् बताना), पाचित्तिय (अस्वस्थ का बहाना कर उत्तम कोटि का भोजन ग्रहण करना), पाटिदेसनीय, और दुक्कट दोषों से विनिर्मुक्त रहना चाहिए । कुहन (प्रवञ्चना), लयन (चाटुकारिता), नैमित्तिकता (किसी का बहाना लेकर कहना), निप्पेसिकता (अवज्ञा करना), और निजिगिसनता (आमिष से आमिष की खोज करना—लाभ से लाभ खोजना) लाभ, सत्कार आदि की प्राप्ति के लिए ही प्राय: किये जाते है । इन कारणो से स्वयं को दूर रखना बौद्ध भिक्षु का कर्तव्य है । उलाहना, उक्काचना, अक्कोसना, सम्पापना आदि दोष भी इन्ही कारणों के अन्तर्गत आते हैं ।

४. पच्चय सन्निस्सित सोल—चीवर आदि पर विचार करना । भिक्षु यह विचार करे कि वह चीवर का उपयोग मात्र इसलिए करता है कि उससे शीत, डास, मच्छड़ आदि से अपने को बचाया जा सके तथा गुप्तागों को ढाका जा सके । इसी प्रकार पिण्डपात का उपयोग द्रव (क्रीडा), मद, मण्डन, विभूषण के लिए नही प्रत्युत रूपकाय की स्थिति के लिए, यापन और बुभुक्षा-शान्ति के लिए किया जाता है । शयनासन का प्रयोग ऋतु-परिश्रम को विगलित करने तथा गिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खार का उपयोग रोग की शान्ति के लिए किया जाता है ।

इस प्रकार बौद्धधर्म में भिक्षु अपने जीवन को अधिक से अधिक शुद्ध और आलम्बनविहीन बनाने का प्रयत्न करता है । चीवर, पिण्डपात, शयनासन तथा भैषज्य का ग्रहण उसे वर्जित नही ।

चीवर—प्राचीन काल मे वैदिक भिक्षु वल्कल पहनते और जैन भिक्षु नग्न रहते । बुद्ध ने इन दोनों प्रकारो को अस्वीकार किया और बौद्ध भिक्षु के लिए पांसुकूल धारण करने का नियम निर्धारित किया । बाद मे इस नियम को ढीला किया गया । बुद्ध ने चिथडो से निर्मित काषाय अथवा गेरुय वस्त्र धारण करने को कहा । इन वस्त्रो मे दो अधर वस्त्र (उत्तरासंग और अन्तर-वासक) और एक संघाटी सम्मिलित है । इन्हे कासाव कहा जाता है । भिक्षु के पास कुल आठ चीजें होनी चाहिए—तीन वस्त्र, कमरबन्ध, पिण्डपात्र, रेजर, सुई, और जलपात्र । यही उनकी सम्पत्ति है । अपवाद की स्थिति मे यष्टिका, चप्पल, चटाई, छतरी भी वे धारण कर सकते हैं । परन्तु इन सभी का उपयोग चित्तज्ञानपूर्वक होना चाहिए ।

पिण्डपात—भोजन अथवा आहार ग्रहण करने का उद्देश्य जीवन की स्थिति और प्रवाह को बनाये रखना है । इस दृष्टि से पिण्डपात की महती

उपयोगिता है। रोग की शान्ति, जीवन यात्रा की सुसंगति, निर्दोष प्रांशुविहार, और ईर्यापथ को अनुकूल बनाना पिण्डपात ग्रहण का लक्ष्य है।

शयन और आसन ऋतु-परिश्रम को दूर करने तथा चित्त को एकाग्र करने के लिए (उतुपरिस्सयविनोदनपटिसल्लानारामत्थ) उपयुक्त होता है। परिश्रय (उपसर्ग) दो प्रकार के होते हैं—प्रगट परिश्रय और प्रतिच्छन्न परिश्रय। प्रगट परिश्रय सिंह, व्याघ्र आदि द्वारा कृत उपसर्ग है और प्रतिच्छन्न परिश्रय में राग, द्वेष आदि भावों द्वारा उत्पन्न विघ्न आते हैं। उत्पत्तिजन्य या व्याधिजन्य (धातु प्रकोप से उत्पन्न होने वाले रोग) एवं वेदनाजन्य दुःखों से मुक्त होने के लिए ग्लान, प्रत्यय और भैषज्य सेवन से भिक्षु परिरक्षित होता है।

इस प्रकार चीवर, पिण्डपात आदि का उपयोग प्रज्ञापूर्वक निरासक्त भाव से किया जाना चाहिए। जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी अपने पूँछ की, माता अपने एकलौते प्रिय पुत्र की और एक नेत्रविहीन अपनी अकेली शेष एक आँख की मनोयोग पूर्वक रक्षा करती है उसी प्रकार शील की भलीभाँति रक्षा करते हुए भिक्षु को सदैव कोमल, प्रेम और गौरववान् होना चाहिए—

किकीं व अण्डं चमरीव वालधिं, पिय व पुत्तं नयन व एककं।
तथेव सीलं अधनुरक्खमानका सुपेसला होथ सदा सगारवा॥

प्रातिमोक्ष-संवर-शील की प्रपूर्ति एवं संरक्षण की दृष्टि से अथवा उसे चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से शील का परिपालन किया जाना चाहिए। एतदर्थ इन्द्रियों का संयमन उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार गोपुरों के सुसंवृत्त हो जाने से नगरवासी संरक्षित हो जाते हैं।

कुछ नियमों में विनयधर और सूत्रधर अथवा विनयपिटक और सूत्रपिटक के बीच मतभेद भी दिखाई देते हैं। उदाहरणतः प्रत्यय, निमित्त, अवभास अथवा परिकथा के माध्यम से प्राप्त भैषज्य आदि को ग्रहण करना विनयधरों की दृष्टि से अनुचित नही। परन्तु सूत्रान्तिक इसे स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार अपेक्षित सामग्री को इन माध्यमो से एकत्रित करने मे आजीव की परिशुद्धि नही होती। उन्हें मृत्यु प्राप्त करना स्वीकार है परन्तु आजीव को निन्दित करने का कार्य स्वीकार्य नही—

वची विञ्ञत्ति विप्फारा उप्पन्नं मधुपायासं।
सचे भुत्तो भवेय्याहं साजीवो गरहितो मम॥
यदिपि मे अन्तगुणं निक्खमित्वा बहि चरे।
नेव भिन्देय्यमाजीव न च जमानोपि जीवितं॥[1]

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृ. २८, मिलिन्दपञ्ह, ६. १. ५

परिभोग चार प्रकार का होता है—स्तेय, ऋण, दायाद और स्वामी परिभोग। इनका परिभोग करते समय भिक्षु को प्रत्यवेक्षण करना अपरिहार्य है। प्रत्यवेक्षण के साथ ही उसे चार शुद्धियों का भी ध्यान रखना चाहिए—देशनाशुद्धि, पर्येष्टिशुद्धि, संवरशुद्धि और प्रत्यवेक्षणशुद्धि। इनके अतिरिक्त अपर्यन्तशुद्धि और प्रतिप्रश्रब्धिपारिशुद्धि का भी उल्लेख है। प्रतिप्रश्रब्धि-पारिशुद्धि की प्राप्ति के लिए पञ्चशीलों का अनुकरण, पञ्चनीवरणों से दूरीकरण चतुर्ध्यान की प्राप्ति आदि आवश्यक है। इस प्रकार के शील का परिपालन पश्चात्तापकारी नही होता। उससे तो वस्तुत: प्रमोद, प्रीति, प्रश्रब्धि, सोमनस्य, ध्यानाभ्यास; भावना, आधिक्य, अलंकार, परिष्कार, परिवार, परिपूर्ति, एकान्त निर्वेद, विराग, निरोध, उपशमन, अभिज्ञा, ज्ञात और निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जिस प्रकार जैनाचार मे व्रतों के अतिचार गिनाये जाते हैं, उसी प्रकार बौद्धाचार मे ऐसे अतिचारों की गणना की गई है जिनसे व्रत खण्डित हो जाते हैं। इसे 'संक्लेस' शब्द कहा गया है। लाभ, यश अथवा सप्तप्रकार के मैथुन भोग से शील खण्डित हो जाता है। शील के खण्डन से भिक्षु को अप्रेम, निन्दा, पश्चात्ताप, दुर्वर्ण, संताप, जन्म-मरण की परम्परा, नरक गमन आदि से उत्पन्न दु:खों को भोगना पड़ता है।

३. विघ्न-निवृत्ति

शील परिशुद्धि के बाद योगी का यह प्रयत्न हो कि लक्ष्यप्राप्ति मे समुपस्थित विघ्न (पलिबोध) उसे किसी भी प्रकार विचलित न कर सकें। पालि साहित्य मे ऐसे दस प्रकार के विघ्नों का उल्लेख आया है—आवास, कुल, लाभ, गण, कम्म, अद्धान, ञाति, आबाध, गन्थ, और इद्धि।[1]

आवास—का तात्पर्य है गृह, परिवेण अथवा संघाराम। सांसारिक पदार्थों के इच्छुक योगी के लिए यह आवास एक विघ्न ही है। योगी के लिए एकान्तवास अपेक्षित है, जो इस प्रकार के आवास मे सम्भव नहीं। ब्रह्मचर्य की पूर्ति भी यहाँ नही हो पाती। अत: योगी आवास को छोडकर परिव्राजक बन जाता है। बुद्धवंस (३२–३४) में गृहावास के आठ दुर्गुण बताये गये हैं—निर्माण, पुनर्नवीनीकरण, आतिथ्य, सुकुमारता, अशुभकर्मग्रहणता, ममत्वबुद्धि, दु:खदायित्व और सामाजिकता। इन दोषों के कारण योगी केशादि मुड़ाकर एकान्त में वृक्ष के नीचे रह कर ध्यान करता है। जातक अट्ठकथा (पृ. ९-१०) में वृक्ष के नीचे रहने के दस गुण प्रस्तुत किये गये हैं—सुलभता, सहजता,

---

१. अवासो च कुलं लाभो गणो कम्मञ्च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. ९१

निर्बाधता, अकुशल कर्मों की असंभाविता, शरणप्राप्ति, निर्ममत्व, गृहहीनता, असंरक्षण, संतोष एवं नि:शङ्कत्व। योगी के लिए शान्त और निश्चिन्त वातावरण अपेक्षित है जो निस्परिग्रही होने के कारण उसे यहाँ उपलब्ध हो जाता है।

कालान्तर में बिहारों का निर्माण होने लगा। बुद्ध ने विविध प्रकार के बिहार बनाने की अनुमति दी। यह शायद इसलिए कि एकाएक वृक्षावास छोड़कर आने वालों को कठिनाई न हो। विहार-निर्माण से निर्वाण की प्राप्ति में सहयोग एवं भिक्षुणियों को भिक्षुओं से शिक्षा लाभ होता है। इसके बावजूद वृक्षावास को ही प्राधान्य दिया गया है।[1]

कुल—का तात्पर्य सम्बन्धियों से है। सम्बन्धियों के सुख-दु:ख मे योगी का सुख-दु:ख बंधा रहता है। जब कभी उसे बुद्धोपदेश सुनने का भी अवकाश नही मिल पाता। इसके लिए बुद्ध ने रथविनीत (मज्झिम. १-३-४) नालक (सुत्त. ३-११), तुवटक (सुत्त. ४-१४) और महार्यवंश (अंगु. ४-३-८) का उपदेश दिया है। फलस्वरूप योगी का ममत्व नि:शेष हो जाता है। इसी प्रकार लाभ—सामाजिक संसर्ग भिक्षुत्व अवस्था मे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए बाधक बना रहता है। गण से तात्पर्य है उन श्रमण भिक्षुओं से जो सुत्त, अभिधर्म आदि की शिक्षा-ग्रहण करने आये। उनको पढ़ाने मे स्वभावत: धर्मपालन के लिए समय कम मिल सकेगा। बिहार आदि के सुधारने का काम, दीक्षादि देने के लिए की गई यात्रा, रोगग्रस्त होने वाले ज्ञातिजन, रोग, ग्रन्थ-स्वाध्याय, और ऋद्धियाँ शमथ भावना की प्राप्ति मे विघ्नकारी होती हैं। अत: योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह ये सभी परिबोध दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

४. कल्याण मित्र की खोज

योगी परिबोधों से दूर रहकर कर्मस्थान को देने वाले कल्याण मित्र की पर्येषणा करता है। कल्याण मित्र वह है जो प्रिय, गौरवनीय, आदरणीय, वक्ता, वचन सहने वाला, गम्भीर उपदेश देने वाला और अनुचित कार्यों से दूर करने वाला हो।

पियो गरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।[2]
गम्भीरञ्च कथं कत्ता नो चट्ठाने नियोजये॥

भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने आपको कल्याण मित्र माना है।[3] मेघियसुत्त मे कल्याण मित्र की प्राप्ति, चित्तविशुद्धि, निर्वाण-प्राप्ति मे सहायक पविवेकवाद,

---

१. मिलिन्दपञ्ह, ३-१२

२. अंगुत्तर, ४-३२; विशुद्धि पृ. ६१

कवड्डिकार विमुक्ति, और असम्बद्धि—ये छः साधन योगी के लिए ध्यान-प्राप्ति में साधक बताये गये हैं।[1] प्रथम साधन के प्राप्त होने पर शेष साधन स्वतः उपलब्ध हो जाते हैं। एतदर्थ दोषादि दूर करने के लिए अशुभ, मैत्री, आनापानस्मृति और अनित्यसंज्ञा की भावना करनी चाहिए। विसुद्धिमग्ग में बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ कल्याण मित्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके बाद क्रमशः अस्सी महाश्रावक, क्षीणाश्रवप्राप्त व्यक्ति, अनागामी, सकदागामी, स्रोतापन्न, ध्यान प्राप्त पृथग्जन, त्रिपिटकधारी, द्विपिटकधारी, एकपिटकधारी, एकनिकायधारी स्थविर, और स्वयंलज्जी परम्परापालक आचार्य को सर्वश्रेष्ठ कल्याणमित्र समझना चाहिए। उस कल्याण मित्र के पास जाकर कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद उसे व्रत-प्रतिव्रत करना चाहिए।[2]

चरित भेद—व्यक्ति के छः प्रकार के व्यक्तित्व होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित और वितर्कचरित। ये चरित प्रकार पूर्वकर्म पर आधारित रहते हैं। इसके साथ ही निम्नलिखित विशेषताओं के माध्यम से उनके व्यक्तित्व को पहचाना जाता है[3]—

(१) चलना, खड़े होना, बैठना और सोना जैसी क्रियायें।

(२) शारीरिक क्रियायें—स्वच्छ करना, झाड़ना अथवा वस्त्र धारण करना।

(३) भोजन का चुनाव और भोजन करने की प्रक्रिया।

(४) दर्शन प्रकार—प्रशंसा, निन्दा आदि।

(५) मानसिक क्रियायें—क्रोध, ईर्ष्या, राग, धर्मोपदेशश्रवण।

इन सभी चरित प्रकारों के विशिष्ट लक्षणों का भी उल्लेख मिलता है जिनसे वे पहचाने जा सकते हैं।[4]

(ग) कर्मस्थान का चुनाव

कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं—अभिप्रेत और परिहरणीय। भिक्षुसंघ के प्रति मैत्री और मरणस्मृति आदि प्रथम वर्ग में आते हैं तथा वर्जनीय कार्य द्वितीय वर्ग में आते हैं। विसुद्धिमग्ग में इस सन्दर्भ में सुन्दर विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ कर्मस्थान का विनिश्चय दस प्रकार से बताया गया है—संख्या, उपचार

---

१. अंगुत्तर, निकाय, ४.३५४–३५८

२. विसुद्धिमग्ग, पृ. ६६–६७

३. पपञ्चसूदनी, मज्झिमनिकाय।
इरियापथतो किच्चा भोजना दस्सनादितो।
धम्मप्पवत्तितो चेव चरियायो विभावये। विसुद्धिमग्ग, पृ. ७१

४. विसुद्धिमग्ग पृ. ७१–७४

अर्पणा ध्यान (समाधि), ध्यान, समतिक्रमण, परिवर्धनपरिहीन, आलम्बन, भूमि, ग्रहण, प्रत्यय एवं चर्या।

१. संख्या के निर्देश से चालीस कर्मस्थानों को सात भागों में विभाजित किया गया है—

(१) दस कसिण—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात आलोक और परिच्छिन्नाकाश।

(२) दस अशुभ—उर्ध्वमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्रक, विक्खायितक, विक्षिप्तक, हत-विक्षिप्तक, लोहितक, पुलुवक, एवं अस्थिक।

(३) दस अनुस्मृतियाँ—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता मरण, कायगता, आनापान और उपशम।

(४) चार ब्रह्मविहार—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

(५) चार आरूप्य—आकाश, विज्ञान, आकिञ्चन्य, और नैवसंज्ञानासंज्ञा।

(६) एक संज्ञा—आहार में प्रतिकूलता, एवं

(७) एक व्यवस्थान—चारों धातुओं का व्यवस्थान।

२. उपचार अर्पणा ध्यान (समाधि)—कर्मस्थान के विषय दो प्रकार के हैं—उपचार समाधि से सम्बन्धित और उपचार तथा अर्पणा समाधि से सम्बन्धित। उक्त ४० विषयों मे दस उपचार से सम्बन्धित हैं—कायगता और आनापान स्मृति को छोड़कर शेष आठ स्मृतियाँ तथा आहार मे प्रतिकूलता की संज्ञा और चारो धातुओं का व्यवस्थान। शेष ३० कर्मस्थान अर्पणा से सम्बन्धित हैं।

३. ध्यान—अनापान स्मृति के साथ दस कसिण, चार ध्यान वाले होते हैं। कायगता स्मृति के साथ दस अशुभ विषय प्रथम ध्यान से सम्बन्धित हैं। प्रथम तीन ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा एवं मुदिता) तृतीय ध्यान से सम्बन्धित हैं। चतुर्थ ब्रह्मविहार तथा चारों आरूप्य चतुर्थ ध्यान से सम्बन्धित हैं।

४. समतिक्रमण—समतिक्रमण दो प्रकार का होता है—अङ्ग का समतिक्रमण और आलम्बन का समतिक्रमण। उनमे सभी तीसरे चौथे ध्यान वाले कर्मस्थानों मे अङ्ग का समतिक्रमण होता है। चारों आरूप्यो मे आलम्बन का समतिक्रमण होता है।

५. परिवर्धन-परिहीन—मे दस कसिणों का परिवर्धन करना चाहिए और कायगता स्मृति तथा अशुभ को नहीं बढ़ाना चाहिए। दस कसिण, दस अशुभ, अनापान स्मृति, कायगता स्मृति ये बाईस प्रतिभाग निमित्त वाले आलम्बन हैं। इसी प्रकार अन्य निर्देशों के विषय में विवेचन मिलता है।[1]

---

१. विस्तार से देखिये—विसुद्धिमग्ग, पृ. ७८

(घ) धुताङ्ग

उक्त प्रकार से शील का परिपालन करने वाले योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अल्पेच्छा, सन्तोष, संलेख, प्रविवेक, क्लेशक्षय, अक्षोभ, सुभरता आदि गुणों से मण्डित हो। शील की परिशुद्धि के लिए उसे लोकामिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना भावना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी प्रपूर्ति के लिए बौद्धधर्म में तेरह धुताङ्गों का पालन करना उपयोगी बताया गया है।[1]

१. पांसुकूलिकाङ्ग—श्मशानिक, पार्पणिक, रथियचोल, संकारचोल स्वस्तिवस्त्र, स्नानवस्त्र, तीर्थकवस्त्र, गतप्रत्यागत, अग्निदग्ध, गौभक्षित, दीमकभक्षित ध्वजाहृत तथा स्तूपगतव स्त्रों को लेकर उन्हें यथोचित फाड़कर अपना चीवर बनाना चाहिए। यह चीवर तीन प्रकार का होता है—उत्कृष्ट, मध्यम और मृदु। पांशुकुलिक चीवर धारण करने से स्वतन्त्रता, निर्भयता, तृष्णाभाव, अल्पेच्छा, सन्तोष आदि गुणों की उपलब्धि होती है। काम को दग्ध करने के लिए उसे कवच माना गया है।[2]

२. चीवरिकाङ्ग—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरवासक, ये चीवर के तीन अङ्ग हैं। इन्हें धारण करना चाहिए। इससे लोभादि दोषों का विनाश होता है।

३. पिण्डपातिकाङ्ग—भिक्षावृत्ति के माध्यम से उदर-पूर्ति करना। इसके भी कुछ नियम हैं। बौद्ध भिक्षु के लिए उद्देश्य भोजन, निमन्त्रण, शलाका भोजन, पाक्षिक भोजन, उपोसथ भोजन, प्रतिपदा भोजन, आगन्तुक भोजन, गमिक भोजन, ग्लान भोजन, ग्लान सेवक भोजन, विहार भोजन, गृह भोजन, एवं क्रमिक भोजन से विरक्त रहना चाहिए। इससे प्रमाद, तृष्णा, अनुग्रहवृत्ति, मान आदि दोषों का नाश होता है।

४. सापदानचारिकाङ्ग—बिना अन्तर दिये प्रत्येक घर से भिक्षाग्रहण करना तथा विघ्नादि पर विचार न करना। इससे समान अनुकम्पा, कुलूपक से उत्पन्न दोषों का अभाव, सन्तोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है।

५. एकासनिकांग—यथायोग्य एक आसन पर बैठकर भोजन करना। इससे निरोग, स्फूर्ति, बल, रसास्वादन की तृष्णा का अभाव आदि गुण उत्पन्न होते हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग, धुतङ्गनिद्देस

२. मारसेनविघाताय पंसुकूलधरो यति।
सन्नद्ध कवचो युद्धे खत्तियो विय सोभति॥ विसुद्धिमग्ग, पृ. ४३

६. पात्रपिण्डिकांग—दूसरे बर्तन को छोड़कर एक ही पात्र मे लिये गये भोजन को ग्रहण करना।

७ खलुपच्छाभत्तिकांग—अतिरिक्त भोजन का त्याग करना। इससे अधिक खाने की वृत्ति दूर हो जाती है।

८. आरण्यकांग—गाँव के शयनासन को त्यागकर अरण्यवास करना। अरण्य का प्रारम्भ कहाँ से मानना चाहिए, इस विषय में अनेक मत हैं। साधारणत: गाँव के बाहर अरण्य का प्रारम्भ मानते हैं। एकान्तचिन्तन मे लीन, संसर्ग रहित भिक्षु चित्त को वश में करने के योग्य हो जाता है।

९. वृक्षमूलिकांग—सदन अथवा प्रासाद को छोड़कर वृक्ष के नीचे आवास ग्रहण करना। अनित्यता का चिन्तन एवं तृष्णा का उच्छेद इसका फल है।

१०. अभ्भपकाशिकांग—छाये हुए वृक्ष को त्यागकर उन्मुक्त आकाश में रहना। वर्षा आदि का काल इस व्रत का अपवाद है। आवास की बाधाओं का उपच्छेद तथा मानसिक और शारीरिक आलस्य से विनिर्मुक्ति इस व्रत के गुण हैं।

११. श्मशानिकांग—श्मशान मे वास करना। मरण का ध्यान बना रहना, अप्रमाद के साथ विहार करना, अशुभ निमित्त का लाभ, कामराग का दूरीकरण, शरीर-स्वभाव का चिन्तन, संवेग का आधिक्य, आरोग्यता आदि मदों का त्याग, भय और भयानकता की सहनशीलता, मनुष्येतरों के गौरवनीय होना, अल्पेच्छ वृत्ति आदि गुणो का विकास होता है।

१२. यथसंस्थरिकांग—शयनासन का त्यागकर जो उपलब्ध हो उसमे सन्तुष्ट होना। हीन–उत्तम, अनुरोध–विरोध आदि भावों से निरासक्त हो जाना इस व्रत का उपयोग है।

१३ नेषद्यकांग—शयनासन को त्यागकर बैठने के आसन को स्वीकार करना। शय्यासुख, निद्रासुख, आदि सुखों से असक्ति का अभाव होना इसका फल है।

धुताङ्ग का तात्पर्य है—क्लेशावरण को दूर करने की ओर ले जाने वाला मार्ग (किलेसधुननतो वा धुतं)। राग और मोह चरित वालों के राग, मोह आदि को दूर करने की दृष्टि से इनका उपयोग निर्दिष्ट है। इन तेरह धुताङ्गों का समावेश चार आर्यवंश में हो जाता है—चीवर से सन्तोष, पिण्डपात से सन्तोष, शयनासन सन्तोष, और भावना रमण। दीघनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं विनयपिटक में इसका विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

(क) बोधिपाक्षिक भावना

समाधिस्थ व्यक्ति के लिए विपस्सना-आदि की दृष्टि से कुछ विशेष भावनाओं का अनुग्रहण करना चाहिए। इन्हीं विशिष्ट भावनाओं को बोधिपक्खिय भावना कहा जाता है। इनकी संख्या सैंतीस है। महासकुलदायीसुत्त (मज्झिम. ७७) में उन्हें योगी के अभ्यास-योग्य विषयों में गिनाया गया है और महावग्ग (संयुत्तनिकाय) में पृथक् रूप से उनकी गणना की गई है। 'बोधिपक्खिय धम्म' शब्द इस अर्थ में त्रिपिटक में नहीं मिलता। विभंग (पृ. २४४) में "बोधिपक्खियानं भावनानुयुत्तो विहरति" के रूप में इस शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है परन्तु वह सात बोध्यंगों के लिए आया है। वस्तुतः समूचा बौद्धधर्म सैंतीस बोधिपाक्षिक भावना के अन्तर्गत आ जाता है। उपकारक होने के कारण उनको बोधिपाक्षिक कहा जाता है—पक्खे भवत्ता ति उपकार भावे ठितत्ता। बोधिपाक्षिक धर्म इस प्रकार है—

१. चार स्मृति प्रस्थान—(सतिपट्ठान)—काय, वेदना, चित्त और धर्मों में अशुभ, दुःख, अनित्य और अनात्म रूप तत्वों पर चिन्तन करना।

२ चार सम्यक् प्रधान—(सम्मापधान)—श्रेष्ठ प्रयत्न होने के कारण सम्यक् प्रधान कहा जाता है। यह प्रयत्न चार प्रकार का है—उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलों को दूर करना, तथा उत्पन्न न होने देने के कृत्य और अनुत्पन्न एवं उत्पन्न कुशलों को उत्पन्न करने और बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करना। इन्हें 'समाधिपारिक्खार' भी कहा गया है। योगी को राग, द्वेष आदि से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

३. चार ऋद्धिपाद—(इद्धिपाद)—ऋद्धि प्राप्त होने के आधारभूत कारण होने से इन्हें ऋद्धिपाद कहा गया है। ये चार हैं—छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा। इनको प्रधान रूप से मानकर चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

४. पाँच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

५. पांच बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

६. सात बोध्यंग—(सत्त बोज्झङ्ग)—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा।

७. आर्याष्टांगिक मार्ग—(अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो)—सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्प, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्त, सम्मा आजीव, सम्मा वायाम, सम्मा सति और सम्मा समाधि।

सम्मासम्बोधि प्राप्त करने के लिए इन बोधिपाक्षिक धर्मों का अनुसरण आवश्यक है। अभिधम्मत्थ संगह में अन्य प्रकार से इनका वर्गीकरण किया गया है—स्मृति, वीर्य, छन्द, चित्त, प्रज्ञा, श्रद्धा, समाधि, प्रीति, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, और सम्यक् अजीविका ये चौदह प्रकार हैं। भाग से ये सात प्रकार के हैं—स्मृति प्रस्थान, सम्यक् प्रधान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय बल, बोध्यंग और मार्ग। प्रभेद से बोधिपाक्षिकधर्म सेंतीस प्रकार के हैं।

(च) समाधि का समय और आसन

समाधि का सर्वोत्तम समय ब्रह्ममुहूर्त माना गया है। उसके बाद योगी को दोपहर तथा सायंकाल का समय भी समाधि के लिए देना चाहिए। चित्त को एकाग्र करने की दृष्टि से ये समय अधिक उपयोगी हैं। इसके लिए योगी बुद्धासन अथवा वज्रासन का उपयोग करे। दीघनिकाय (भाग १, पृ. ७१) में कहा है—पल्लकं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा। पल्लङ्क को हम पद्मासन कह सकते हैं। अट्ठकथा में उसकी व्याख्या पर्यङ्कासन के रूप में की गई है।

(छ) कसिण भावना

कसिण का अर्थ है—कृत्स्न अर्थात् समस्त। समाधि के सन्दर्भ में उसका प्रयोग विशेषण और संज्ञा के रूप मे हुआ है। उदाहरणार्थ-कसिणायतन, पृथ्वीकसिण आदि। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के लिए भी प्रतीकात्मक रूप मे उसका प्रयोग किया गया है। अट्ठकथाओं मे 'सकलट्ठेन कसिणं' कहा है जिसका अर्थ है कि प्रतीक पूर्ण प्रतिबिम्बित करने वाला है। इसका अर्थ मण्डल, निमित्त और ध्यान भी है।

कसिण शब्द आयतन के साथ आया है। सुत्तपिटक में आयतन का अर्थ है क्षेत्र) जिसका सम्बन्ध चित्त और विचारों से है। उसका उपयोग कारण, आवास आदि के अर्थ मे भी हुआ है। उनकी संख्या दस है। धम्मसंगणि (२०२) के अनुसार रूप ध्यान मे आठ कसिण साधन है, अन्तिम आकाश और विज्ञानायतन नहीं। विसुद्धिमग्ग में इन दो कसिणों के स्थान में आलोक और परिच्छिन्नाकाश शब्द आये हैं। मण्डल वृत्ताकार को कहते हैं।

आरम्मण का अर्थ है—आलम्बन अथवा निमित्त। अभिधम्मत्थसंगह में निमित्त को तीन भागों मे विभाजित किया गया है—परिकम्म, उग्गह और पटिभाग। कम्मट्ठान के विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है। उग्ग निमित्त को चित्त में वस्तु का अधिष्ठान करना बताया है। यहाँ कसिण दोष— (नीला, पीला, लाल, श्वेत) विद्यमान रहते हैं। पटिभाग निमित्त में बार-बार

निमित्त ग्रहण कर ध्यान करने से नीवरण दूर हो जाते हैं और उपचार समाधि से चित्त एकाग्र हो जाता है। यह परिशुद्ध निमित्त की प्राप्ति प्रतिभाग निमित्त कही जाती है। विसुद्धिमग्ग के अनुसार चालीस कर्म स्थानों (समाधि के विषयों) में से बत्तीस विषय प्रतिभाग निमित्त बन जाते हैं—दस कसिण, दस अशुभ, आनापानसति और कायगता सति। अट्ठकथाओं में प्रथम चार कसिण को भूतकसिण, और उसके बाद के चार को वण्णकसिण कहा है। अंगुत्तरनिकाय में दस कसिण ध्यान, विपश्यना, अभिज्ञान एवं निरोध को उत्पन्न करने वाले कहे गये हैं।

विसुद्धिमग्ग में कसिण भावना की सुन्दर व्याख्या की गई है। उसके आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत है—

पृथ्वी—(पठवि) कसिण—साधक कर्मस्थान को बनाकर आचार्य की अनुमति पूर्वक योग्य बिहार में वास करे। योग्य बिहार वे हैं जो गाँव से न बहुत दूर हों और न पास हों, शयनासन आदि उपलब्ध हों, मच्छड़ आदि की बाधायें न हों। अठारह दोषों से युक्त बिहार अयोग्य होते हैं—महाबिहार, नया बिहार, पुराना बिहार, मार्गवर्ती, प्याऊ के पास वाला, पत्ती, पुष्प, फलयुक्त, पूजनीय स्थान, नगरवाला, दारुवाला, खेतों से घिरा, अनमेल व्यक्तियों वाला, बन्दरगाह और स्टेशन, निर्जन प्रदेश, राज्यसीमा, अननुकूल स्थान और कल्याणमित्र का अभाव।

अनुकूल बिहार पाने के बाद योगी केश और नख काटे, भोजन के बाद भोजन से उत्पन्न परिश्रम को दूरकर एकान्त स्थान में आराम के साथ बैठ गोल बनाये हुए या नहीं बनाये हुए पृथ्वी के निमित्त को ग्रहण करे। अरुण रंग की मिट्टी से कसिण को निर्मित करे। आकार में वह गोल हो। उसे खूंटों को गाड़कर लताओं से बाँधकर स्थापित करे। उससे ढाई हाथ की दूरी पर स्थित चौकी पर स्वयं बैठे और चिन्तन करे। चिन्तन करते समय वह पृथ्वी आदि शब्दों का उच्चारण करे। प्रतिभाग निमित्त तक पहुँच कर योगी उपचार समाधि से चित्त एकाग्र करे। इसके लिए वह आवास, गोचर, वार्तालाप, व्यक्ति, भोजन, ऋतु एवं ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करे। तदन्तर अर्पणा समाधि (अपत्तनीय समाधि) को वह प्राप्त करेगा। कदाचित् वह प्राप्त न हो तो साधक अर्पणा की कुशलता को दस प्रकार से प्राप्त करे—

(१) वस्तुओं को स्वच्छ करना, (२) पञ्चेन्द्रियोंको एक समान करना, (३) निमित्त की कुशलता, (४) चित्त को यथासमय वश में करना, (५) चित्त को यथासमय दबाना, (६) चित्त को यथासमय हर्षित करना, (७) यथासमय

उपेक्षा करना, (८) चंचल चित्तवान् व्यक्ति का त्याग करना, (९) एकाग्रचित्त वाले व्यक्ति की संगति करना, और (१०) समाधि में चित्त लगाये रखना।

वीर्य—सम्बोध्यंग की उत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—अपाय आदि के भय का सम्यक् विचार करना, लौकिक एवं लोकोत्तर विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना, बुद्ध द्वारा प्रतिपादित मार्ग को देखना, भिक्षा का सत्कार करना, शास्ता के महत्व पर विचार करना, उत्तराधिकार के महत्व को समझना, प्रमाद दूर करना, आलसी व्यक्ति का मनन, योगाभ्यासी की संगति करना, सम्यक् प्रधान को भली प्रकार देखना, वीर्य में चित्तसंगति करना।

प्रीति सम्बोध्यंग प्राप्ति का मार्ग—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता और उपशम अनुस्मृतियों का पालन, निर्दयी व्यक्ति का त्यजन, स्निग्ध व्यक्ति का साहचर्य, हर्षोत्पादक सुत्तों का श्रवण, और प्रीति में चित्त का विष्फालन। इन भावनाओं से चित्त एकाग्र कर लिया जाता है।

प्रश्रब्धि सम्बोध्यङ्ग की उत्पत्ति के मूल कारण हैं—उत्तम भोजनग्रहण, ऋतु-सुख-सेवन, ईर्यापथसुखसेवन, त्रियोग, परितप्त चित्तवान् व्यक्ति का त्याग, शान्तकाय व्यक्ति का साहचर्य, प्रश्रब्धि (शान्ति) में चित्त की अनुरक्ति। समाधि बोध्यंग की उत्पत्ति ग्यारह कारणों से होती है—वस्तु की पवित्रता, निमित्त की कुशलता, इन्द्रियों का वशीकरण, चित्त को यथासमय वश मे करना, उसे पकड़ना, उसे श्रद्धा, संवेग युक्त करना, उपेक्षा करना, विक्षिप्त चित्तवान् का त्याग, एकाग्र चित्तवान् का साहचर्य, ध्यान और विमोक्ष का दर्शन तथा समाधि में चित्त को एकाग्र किये रखना। उपेक्षा सम्बोध्यंग की प्राप्ति के मूल कारण ये हैं—समस्त प्राणियों के प्रति तटस्थ भाव रखना, ममत्ववान् व्यक्ति का त्याग, तटस्थ चित्तवान् व्यक्ति का साहचर्य, और उपेक्षा मे चित्त को झुकाना।

आठ कारण ऐसे हैं जिनसे संवेग उत्पन्न होता है—जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अपाय दुःख, भूतकालीन जन्म-मरण दुःख, भविष्यत्कालीन जन्म-मरण दुःख, एवं वर्तमान में आहार अन्वेषणज दुःख।

इन निमित्तों की ओर मनको केन्द्रित कर, भवाङ्गचित्त को काटकर, पृथ्वी कसिण का आलम्बन करे। इसमें रूप और अरूप मे भवाङ्ग का परिमाण नहीं है। इसके बाद एक चित्तक्षणवाली अर्पणा, भवाङ्गपात, आवर्जन और ध्यान का प्रत्यवेक्षण किया जाता है। तदनन्तर साधक क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम ध्यान प्राप्त करता है।

इसके उपरान्त साधक अप, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक, परिच्छिन्नाकाश, और प्रकीर्णक कर्मस्थानों का आधार लेकर भी ध्यान करता है।

बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप

जैनधर्म के समान बौद्धधर्म में भी ध्यान का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। साधना ध्यान से विलग होकर नहीं की जा सकती। बौद्ध साधना में ध्यान के साथ ही समाधि विमुत्ति, समथ, भावना, विसुद्धि, विपस्सना, अधिचित्त, योग, कम्मट्ठान, पधान, निमित्त, आरम्मण आदि शब्दों का भी उपयोग और विश्लेषण किया गया है। इनमें ध्यान और समाधि प्रधान पारिभाषिक शब्द माने गये हैं। वस्तुत: ध्यान का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत है कि उसमें समाधि का विषय भी अन्तर्भूत हो जाता है।

ध्यान का अर्थ—ध्यान (पालि-झान) का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—झायति उपनिज्झायतीति झानं अथवा इमिना योगिनो झायन्ती ति झानं अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—पच्चनीकधम्मे झायेतीति झानं अथवा "पच्चनीकधम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थे।" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मों का दहन करना (क्षापन करना) भी किया गया है।[1]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) के सन्दर्भ में किया गया है।[2] बुद्धघोष ने इस परिभाषा में कुसल शब्द और जोड़ दिया है—कुसलचित्तेकग्गता। यहाँ "सम्मा समाधी ति यथा समाधि, कुसलसमाधि"[3] कहकर बुद्धघोष ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावों को एकाग्र करने से है।

ध्यान और समाधि की उक्त व्याख्या से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जहाँ समाधि मात्र कुशल (शुभ) कर्मों से ही सम्बद्ध है वहाँ ध्यान कुशल और अकुशल (शुभ और अशुभ) दोनों प्रकार के भावों को ग्रहण करता है। अत: समाधि की अपेक्षा ध्यान का क्षेत्र बड़ा है।

ध्यान के भेद और उनकी व्याख्या—बौद्धधर्म मे ध्यान के मूलत: दो भेद किये गये हैं—आरम्मण उपनिज्झान (आलम्बन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)[4] आरम्मण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूपावचर।

---

१. समन्तपासादिका, पृ. १४५-६
२. धम्मसंगणि, पृ. १०
३. विसुद्धिमग्ग,
४. दीघनिकाय, ३. पृ. २७३; मज्झिम, १, पृ. ४६४; संयुत्त, पृ. ३६० इत्यादि।

इन्हें समापत्ति भी कहा जाता है। उपचार समाधि की प्रारम्भिक भूमिका है और शेष उसकी विकसित अवस्थायें हैं।

लक्खण उपनिज्झान के तीन भेद हैं—विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना में प्रज्ञा, ज्ञान और दर्शन होता है। साधारणत: त्रिपिटक में विपस्सना का प्रयोग समथ के साथ मिलता है—समथो च विपस्सना।[1] इसमें विषय-वस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है, मार्ग में उसका कार्य पूर्ण होता है और उसकी निष्पत्ति फल में होती है। इसी को लोकोत्तर ध्यान कहते हैं जो निर्वाण का विशिष्ट रूप माना गया है।[2] विपस्सना मे सात प्रकार की विशुद्धि पायी जाती है—शीलविशुद्धि, चित्त विशुद्धि, दृष्टि विशुद्धि, काङ्क्षावितरण विशुद्धि, मार्गामार्ग ज्ञान दर्शन विशुद्धि, पतिपदाज्ञान दर्शन विसुद्धि तथा ज्ञान दर्शन विशुद्धि।[3]

ध्यान का भेद-भेदाङ्ग विवाद का विषय रहा है।। सुत्त पिटक में ध्यान के चार भेद मिलते हैं, जबकि अभिधम्म पिटक में उसे पाँच भागों मे विभाजित किया गया है। रूपालम्बन पर चित्त की ये विभिन्न अवस्थायें है जिन्हें वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि कहा गया है।

वितर्क का अर्थ है—तर्क-वितर्क करना, चित्त का अभिनिरोपण करना तथा सम्यक् संकल्प करना। आरम्मण में चित्त का आरोपण करना इसका मुख्य विषय है। ध्यान में इसका उसी प्रकार का उपयोग है जिस प्रकार भूपति के पास पहुँचने के लिए उसके किसी निकट सम्बन्धी का उपयोग होता है।[4]

आलम्बन के विषय मे विचार करना विचार है। चित्त बार-बार विचार करता हुआ विषय के पास अनुमज्जन करता रहता है और वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन के समीप रखकर उसी के पास घूमता रहता है।[5] अर्थात् आलंबन मे चित्त का संयुक्त हो जाना वितर्क है और उसका वहीं बना रहना विचार है। वितर्क का जन्म विचार के पूर्व होता है और वह विचार की अपेक्षा स्थूल भी है। विचार का स्वभाव भ्रमण करना है, सूक्ष्म होने के कारण। उदाहरणार्थ-पक्षी का आकाश में उड़ना वितर्क है तथा आकाश में पंख फैला देना विचार है।

---

१. सद्धम्मपकासिनी, पृ. १६६

२. अभिधम्मत्थ संग्रह, कम्मट्ठान संग्रह।

३. धम्मसंगणि, पृ. १६, अट्ठसालिनी, पृ. ६४

४. अट्ठसालिनी, पृ. ६४

प्रीति का अर्थ प्रफुल्लित होना है ।[1] प्रीति होने पर चित्त विकसित कमल की तरह प्रसन्न हो जाता है । यह प्रीति पाँच प्रकार की है—खुद्दिका प्रीति, क्षणिका प्रीति, आवक्रान्तिका प्रीति, उद्वेगा प्रीति, और स्फुरणा प्रीति ।[2]

सुख भी एक मानसिक आनन्द की अनुभूति का नाम है । उसमें सभी प्रकार की मानसिक और शारीरिक बाधायें दूर हो जाती हैं । इस विषय की उपलब्धि से समुत्पन्न तृप्ति से प्रीति होती है और उस प्रीति से उत्पन्न सुख होता है ।

कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है । इसे एकाग्रता, समाधि अथवा उपेक्षा भी कहा जाता है । यहाँ कुशल चित्त का सम्बन्ध रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकुत्तर चित्तों से ही है । कुशल चित्त के आलम्बन को कम्मट्ठान भी कहा गया है । कम्मट्ठानों (कर्मस्थानो) की संख्या बौद्धधर्म मे चालीस कही गयी है—दस कसिण (कृत्स्न), दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान तथा चार आरूप्य हैं । इनकी प्राप्ति मे बाधक तत्त्व हैं पाँच—कामच्छन्द, व्यापाद, थीनमिद्ध, उद्धच्च, कुक्कुच्च एवं विचिकिच्छा ।[3] इनका उपशम क्रमशः समाधि, प्रीति, वितर्क, सुख और विचार से होता है ।[4]

नीवरणों के उपशमन और ध्यान की प्राप्ति में, साधक चित्त को एक निश्चित आरम्मण मे केन्द्रित करता है । उस विषय को परिकम्म निमित्त कहा गया है और उस अभ्यास को परिकम्म समाधि कहा जाता है । अभ्यास के बल पर परिकम्म निमित्त के बिना भी मात्र अन्तर्मन मे प्रतिष्ठापित उसकी प्रतिकृति पर चित्त एकाग्र किया जाता है । इस अवस्था को उग्गह निमित्त कहा गया है । निमित्त का अनुचिन्तन–अनुमनन करने पर नीवरणों और क्लेशों का उपशमन होने लगता है तथा उपचार समाधि से चित्त एकाग्र होने लगता है । तब प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है । उग्गह निमित्त और प्रतिभाग निमित्त

---

१. धम्मसंगणि, पृ. २२
२. अट्ठसालिनी, पृ. ६५
३. अभिधम्मत्थ संगह, नवनीत टीका
४. नीवरणानि हि झानंगपच्चनीकानि तेसं झानंगा नेव पटिपक्खानि । विद्धंसकानि विघातकानी ति वुत्तं होति । तथाहि समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति व्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स विचारो विचिकिच्छाया ति पेटके वुत्तं, विसुद्धिमग्ग, पृ. ६५

में अन्तर यह है कि उग्गह निमित्त में कसिण का दोष बना रहता है जबकि प्रतिभागनिमित्त दर्पण के समान सुपरिशुद्ध होता है।

बौद्धधर्म में समाधि के दो भेद हैं—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। इन्हें चित्त को एकाग्र करने के दो साधन भी माने जा सकते हैं। उपचार मे नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और अर्पणा में ध्यान प्राप्ति हो जाती है। उपचार ध्यान में चित्त कभी निमित्त का आलम्बन करता है और कभी भवांग में उतर जाता है परन्तु अर्पणा (ध्यान) मे यह स्थिति दूर हो जाती है। उसकी प्राप्ति होने पर चित्त की एकाग्रता मे स्थिरता आ जाती है। इसके लिए साधक को आवास, गोचर, संलाप (भस्सं), व्यक्ति, भोजन, ऋतु और ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करना चाहिए।

> आवासो गोचरो भस्सं पुग्गलो भोजनं उतु।
> इरियापथो ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये॥[1]

अर्पणा (ध्यान) का संस्कार करने वाला परिकर्म (पकिरोति अप्पन अभिसंखरोति ति परिकम्मनं) होता है। परिकर्म हो जाने पर हमारा चित्त ध्यान की ओर प्रवृत्त हो जाता है। अर्पणा के बाद उपचार, अनुलोम और गोत्रभू होता है। इसके बाद चित्त एकाग्र हो जाता है।

१. रूपावचर ध्यान

प्रथम ध्यान—चित्त जब रूप का ध्यान करता है, तब उसे रूपावचर चित्त कहा जाता है। इस अवस्था में ध्यान के बाधक तत्त्व नीवरणों का प्रहाण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचों अंग चित्त को अपने आलम्बन पर स्थिर बनाये रखते हैं। इसी को द्वितीय ध्यान कहा जाता है (विविच्चेव कामेहि विविच्च अकुसलेहि धम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसंपज्ज विहरति)[२]। नीवरणों और अकुशल धर्मों से दूर चित्त वितर्क के माध्यम से रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है। विचार से वह अनुसचरण करता है। प्रीति से तृप्ति और सुख से हर्षातिक पैदा करता है। इन सभी के माध्यम से वह अपने को चचलता से दूर किये रखता है। यही यह चित्त कायप्रश्रब्धि और चित्त प्रश्रब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिक समाधि, उपचार समाधि और अर्पणा

---

१. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश

२. विसुद्धिमग्ग, पृथ्वीकसिण निर्देश; वितक्क विचार पीतिसुखेकग्गता सहितं पठमज्झानं कुसलचित्तं, अभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १६

समाधि को प्राप्त करता है। साधक ध्यान की इस प्रथम अवस्था में पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करता है—आवर्जन, सम, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण। साधक इन पाँचों अंगों से चित्त को ध्यान के पूर्वोक्त पाँचों अंगों मे निरन्तर लगाये रखने की शक्ति एकत्रित कर लेता है।

द्वितीय अध्याय—प्रथम रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक स्मृति और संप्रजन्य से युक्त होकर ध्यानांगों का प्रत्यवेक्षण करता है। उसे वितर्क-विचार स्थूल जान पड़ने लगते हैं और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्तिदायी प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में पृथ्वी कसिण पर अनुचिन्तन के द्वारा भवाङ्ग को काटकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न हो जाता है। उसी पृथ्वीकसिण में चार-पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचार का है और शेष कामावचर के होते हैं। ध्यान की इस द्वितीय अवस्था में वितर्क और विचारों का उपशम हो जाता है। इसी को वितर्क और विचारों के उपशम होने से आन्तरिक, प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाला द्वितीय ध्यान कहा जाता है। इसके प्रमुख तीन अंग है—प्रीति, सुख और एकाग्रता। इस ध्यान को सम्पसादन अर्थात् श्रद्धा और प्रसाद युक्त तथा एकोदिभाव कहा गया है—वितक्कविचारानं वूपसमा अज्झत्तं सम्पासनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहारति।[1] वितर्क और विचार का अभाव हो जाने से उत्पन्न होने वाला सम्पसादन और एकोदिभाव इस ध्यान की विशेषता है।

तृतीय ध्यान—साधक की ध्यान अवस्था जब विशुद्धत्तर हो जाती है तो उसे द्वितीय ध्यान भी दोषग्रस्त प्रतीत होने लगता है। वितर्क विचार प्रथम दो ध्यानों मे शान्त हो जाते हैं। और प्रीति चूँकि तृष्णा सहगत होती है अतः उसे भी छोड़ दिया जाता है। प्रीति यहाँ स्थूल होती है और सुख-एकाग्रता सूक्ष्म होती है। प्रीति रूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिए योगी पृथ्वी कसिण का पुनः पुनः चिन्तन करता है और उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ाते हैं जिनके अन्त मे एक रूपावचार तृतीय ध्यान वाला और शेष कामावचर ध्यान होते हैं। इस ध्यान में प्रीति तो होती नहीं, मात्र सुख और एकाग्रता शेष रह जाती है। उपेक्षा स्मृति और संप्रजन्य इसके परिष्कार है—पीतितया च विरागा उपेक्खको च विहरति, सतो च सम्पजानो सुखञ्च कायेन पटिसंवेदेति, यं तं अरिया आचिक्खन्ति, उपेक्खको सतिमा सुखविहारी ति ततियं झानं उपसंपज्ज विहरति। साधक इस ध्यान की प्राप्ति

---

1. विसुद्धिमग्ग : दी, नि, १, पृ. ६५-६

के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण करने वाला होता है, समभावी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा वीर्योपेक्षा, संस्कारोपेक्षा, वेदनोपेक्षा, विपश्यनोपेक्षा, तत्रमाध्यस्थ्योपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा।

क्षीणास्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्व प्रथम छः इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय आलंबनों के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षा भाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना ब्रह्मविहोपेक्षा है। अपने साथ संप्रयुक्त धर्मों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षासदन वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणों के प्रहाण हो जाने पर संस्कारों के ग्रहण करने मे उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारोपेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार अरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यताविहार और अनिमित्तकविहार) प्रकार की हैं। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पंचस्कन्धों आदि के विषय मे उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द, अधिमोक्ष आदि येवापनक धर्मों में उपेक्षा वृत्ति तत्रमध्यस्थोपेक्षा है। तृतीय ध्यान मे अग्र सुख मे उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्ध्युपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्युपेक्षा अर्थतः एक है, मात्र अवस्थाओं का भेद है। संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसी ही हैं। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था में तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमें भी पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य भाग दुर्बल है और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचारकर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तनकर उसे आलम्बन बनाकर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौड़ते हैं, जिनके अन्त मे एक रूपावचर चतुर्थध्यान का रहता है।

विसुद्धिमग्ग में चतुर्थ ध्यान का लक्षण इस प्रकार मिलता है—सुखस्स च पहाना दुक्खस्स च पहाना पुब्बेव सोमनस्सदोमनस्सानं अत्थङ्गमा अदुक्खमसुखं उपेक्खासतिपारिसुद्धिं चतुत्थं झानं उपसंपज्ज विहरति। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति

के पूर्व ही कायिक सुख–दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण में प्रहीण होता है और दुःख, दौर्मनस्य, सुख प्रथम उपचार के क्षण में।

विविध आवर्जनों में प्रथम ध्यान के उपचार में क्लान्त हुई दुखेन्द्रियों की उत्पत्ति डांस मच्छड़ आदि के काटने से हो सकती है, पर अर्पणा से नहीं होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण में यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति संभव है। पर अर्पणा मे प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी संभावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार क्षण में अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भलीभाँति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति संभव है पर अर्पणा मे इसकी संभावना नहीं है।[1]

यह चतुर्थ ध्यान अदुःख और असुख रूप है। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति में परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनों ध्यानों में भी यह उपेक्षा रहती है, पर परिशुद्ध अवस्था में नहीं रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान में सुखपरम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचों अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान मे वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। तृतीय ध्यान मे प्रीति नहीं रहती और चतुर्थ मे सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

ध्यान भेद की एक अन्य परम्परा—बौद्ध साहित्य में ध्यान के भेदों की एक अन्य परम्परा भी मिलती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पाँच भेद होते हैं। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नहीं है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पञ्चक ध्यान परम्परा में द्वितीय और तृतीय भेद में विभक्त हो जाता है। इस तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पञ्चक ध्यान का चतुर्थ और पञ्चम ध्यान है।

२. अरूप ध्यान

रूपावचार ध्यान की चतुर्थ अथवा पञ्चम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है फिर भी साधक निर्वाण और

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ. ७४; विसुद्धिमग्ग (हिन्दी), भाग १, पृ. १४९

निराकार आकाशादि पर ध्यान करता है यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था में अनन्त आकाश को स्थूल प्रतीत होने लगता है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। अरूप ध्यान की विज्ञानायतन रूप यह द्वितीय अवस्था है। तृतीय अवस्था मे आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेवसञ्ञानासञ्ञायतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमशः पूर्वतर आलंबन को स्थूल और पश्चात्तर आलंबन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

३. लोकोत्तर ध्यान

उपर्युक्त रीति से रूपध्यान और अरूपध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ मे लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियापन्न का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान में संयोजन के बीजों का सद्भाव संभावित रहता है जो लोकोत्तर ध्यान मे उसका प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा शीलव्रतपरामर्श, कामच्छन्द, प्रतिघ, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन हैं। यद्यपि उनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान मे ही क्रमशः स्रोतापत्ति सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। लोकोत्तर भूमि में चित्त की आठ अवस्थाओं मे प्रत्येक अवस्था मे पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास साधक करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

जैन एवं बौद्धमतों के ध्यान-स्वरूप की तुलना—बौद्धधर्म में वर्णित उक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है। जैनधर्म में भी यद्यपि ध्यान के चार भेद किये गये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लध्यान, पर ये संसार और निर्वाण दोनों के साधक हैं। प्रथम दो ध्यान, संसार के परिवर्धक है और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्मध्यान शुभध्यान है और शुक्ल ध्यान शुद्ध ध्यान है।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवर्ति। प्रथमकत्ववितर्क ध्यान मन, वचन और

काय, इन तीन योगों के धारी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। द्वितीय एकत्व वितर्कध्यान तीनों में से किसी एक योग के धारी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होता है। तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यान मात्र काय योग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है। और चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यान योग- रहित (अयोगी) जीवों के चौदहवें गुणस्थान में होता है।

तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामि ने वितर्क को श्रुतज्ञान कहा है[१] और अर्थ व्यञ्जन और योग का बदलना विचार बताया है।[२] प्रथम पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्ववितर्क विचार रहित और वितर्क सहित मणि की तरह अचल है। प्रथम भेद शुक्लध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनों होता है। बौद्धधर्म मे वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्लध्यान मे वितर्क और विचार दोनो का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्लध्यान मे विचार नही है। बौद्धधर्म मे सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये है। जबकि जैनधर्म मे प्रथमध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाति, दोनो हैं।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति की जैन एव बौद्धधर्म इन दोनों शाखाओ मे ध्यान को साधना के क्षेत्र मे पर्याप्त महत्व दिया गया है। जैनधर्म मे ध्यान को संसार तथा निर्वाण, इन दोनो के क्षेत्र मे नियोजित किया गया है पर बौद्धधर्म मे उसे निर्वाण प्राप्ति तक ही सीमित रखा है। इसके बावजूद दोनो साधनाओ मे ध्यान की परिपूर्ण उपयोगिता और उसका विश्लेषण किया गया है।

(ज) अशुभ कर्मस्थान

संसारी जीव संसार से जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता है। राग, द्वेष, मोह आदि दोषो के वश से उसका चित्त और कलुषित होता रहता है। चित्त की उस कलुषता को दूर करने के लिए अशुभ वस्तुओं पर तात्त्विक ध्यान किया जाता है। विनय पिटक के अनुसार अशुभ कर्मस्थानों की भावना पर प्रारम्भ से ही ध्यान किया गया है। धम्मसंगणि मे इसके १० भेद बताये गये हैं—उद्धमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्दक, विक्खित्तक, हतविक्खित्तक, लोहितक, पुलवक, एवं अट्ठिक। ये मृत एवं जीवित शरीर की स्थिति के विषय में विविध रूप से चिन्तन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ—यह काय दुर्गन्धित है, अपवित्र है

१. वितर्कः श्रुतम्, तत्त्वार्थसूत्र, ६-४३

२. वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः, वही, ६-४४

मलगृह के समान है, प्रज्ञावानो से निन्दित है, आद्र चर्माच्छादित है, नवद्वारों से महाव्रण वाला यह काय चारों ओर से दुर्गन्ध प्रवाहित करता है—

> दुग्गन्धो, असुचि कायो कुणयो उक्करूपमो ।
> निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो ॥
> अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो ।
> समन्ततो पग्घरति असुचि पूति गन्धियो ॥[1]

(५) अनुस्मृति भावना

साधक अशुभ कर्मस्थानो की अनुस्मृति के पश्चात् पूर्व निर्दिष्ट बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता, मरण, कायगता, आनापान एवं उपशम के विषय मे बार-बार चिन्तन करता है। यही अनुस्मृति है। जैनधर्म मे इसे अनुप्रेक्षा शब्द दिया गया है।

बुद्धानुस्मृति—मे अर्हत्, सुगत, लोकवित्, अनुत्तर, पुरुषदम्यसारथी, शास्ता, बुद्ध, भगवान्, सम्मासम्बुद्ध, विज्जाचरण सम्पन्न, सुगत, तथागत, आदि शब्दों पर विशेष चिन्तन किया जाता है। विसुद्धिमग्ग (परिच्छेद ६) मे इन शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं। इसी प्रसंग मे लोक की जो परिकल्पना बौद्ध दृष्टि से की गई है वह जैन गणना से मिलती-जुलती है। योजन आदि शब्दो का भी यहाँ उपयोग मिलता है।

भगवान् का धर्म स्वाख्यात (आरम्भ, मध्य एवं अन्त मे कल्याण कारक) है, सान्दृष्टिक (तत्कालफलदायक) है, समयानन्तर मे नहीं, यही दिखाई देनेवाला है, निर्वाण तक पहुँचाने वाला है, और विज्ञों द्वारा स्वत: जानने योग्य है—स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको एहिपस्सिको ओपनेय्यको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही ति। इसी प्रकार अन्य स्मृतियों के विषय में भी साधक चिन्तन करता है।

इसके बाद योगी मरण पर अनुचिन्तन करता है। जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद मरण है। भवचक्र का निरोध समुच्छेद मरण है। संस्कारों का क्षणभंगुर हो जाना क्षणिकमरण है। वृक्ष मर गया आदि में संवृतिमरण है। पुण्य अथवा आयु का क्षय होना कालमरण है तथा चित्तप्रवाह अथवा कर्मच्छेदजन्य मरण अकालमरण है। मृतक व्यक्ति को देखकर योगी स्मृति, संवेग, और ज्ञानपूर्वक 'मरण होगा' यह विशेष विचार करता है। ऐसा करने से उसके नीवरण दब

---

१. विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ६

आते हैं और मरणालम्बन की स्मृति उत्पन्न हो जाती है। जिस योगी को इतना विचार पर्याप्त नहीं होता वह बधक, संपत्ति, उपसंहरण, शरीर, आयु, अनिमित्त, कालपरिच्छेद एवं अवस्थल्पता के आधार पर मरण का अनुस्मरण करता है। सात प्रकार से उपसंहरण (दूसरे के साथ अपने मरण को देखता) करते हुए मरण का अनुस्मरण होता है—यश, पुण्य, स्थान, ऋद्धि, प्रज्ञा, प्रत्येकबुद्ध एवं सम्यक् सम्बुद्ध। अनिमित्त के अन्तर्गत जीवन, व्याधि, काल, शरीरत्याग, और गति आते हैं।

तदनन्तर योगी कायगता स्मृति करता है। वह केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्, माँस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आंत, उदरस्थ वस्तुएं, मल-मूत्र, मस्तिष्क, पित्त, कफ, पीब, लोहू, स्वेद, मेद, आँसू, वसा, थूक, लासिका, आदि पर विचार करता है।

आनापानस्मृति मे अरण्य मे वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर श्वासोच्छ्वास लेना और ध्यान करना वर्णित है। इसमें योगी चित्त को स्मृति रूप आलम्बन बाँधकर उसे रूपालम्बन से हटाकर काम संस्कार को शान्त करता है। उग्गह, परिपुच्छा, उपट्ठान, अप्पना और लक्खणा रूप पाँच कर्मस्थानों को सीखता है। त्रिरत्न का गुणानुस्मरण कर आनापानस्मृति कर्मस्थान का मनसिकार करता है तथा गणना, अनुबन्धना, स्पर्श, स्थापन, संलक्षण, विवर्तन, पारिशुद्धि और उनका प्रत्यवेक्षण करता है।

आनापानस्मृति के पश्चात् साधक समस्त दुखो के उपशमस्वरूप निर्वाण के गुणों का अनुस्मरण करता है। संस्कृत अथवा असंस्कृत धर्मों के प्रति विराग (निर्वाण) मद को विनष्ट करने वाला होता है, तृष्णा को बुझाने वाला और राग एवं संसारचक्र का उपच्छेद करने वाला होता है। उपशमानुस्मृति मे भिक्षु सुख पूर्वक विहार करता है तथा शान्त इन्द्रिय और शान्त मन वाला होता है।

(ञ) ब्रह्मविहार निर्देश

अनुस्मृति के उपरान्त विघ्न दूरकर, कर्मस्थान ग्रहणकर, भोजनकर, आसन पर बैठकर प्रारम्भ में द्वेष मे अवगुणों और शान्ति मे गुणों का प्रत्यवेक्षण करे एवं ब्रह्मविहार की भावना करे। ब्रह्मविहार चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। सारे सत्त्व सुखी, कल्याणप्राप्त हों, एवं सुखी चित्तवाले हों—"सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता, यह मैत्रा की मूल भावना है। जैनधर्म में भी "सब्बं भवन्तु सुखिन: सब्बे सन्तु निरामया:" कहा गया

है। क्षमा (खन्तिबल) इसका आधार है। 'खम्मामि सब्बजीवाणं सब्वे जीवा खमन्तु में' जैन संस्कृति का भी अभिवचन है। क्रोध से मुक्त होने के लिए जीव यह विचार करे कि वह कर्मस्वक है, कर्मदायाद, कर्मयोनि, कर्मबन्धु, और कर्मप्रतिशरण है। शान्त व्यक्ति एकाग्रता जल्दी प्राप्त करता है। मैत्री के गुणों का स्मरण करते हुए धातु का विभाजन कर उसे दान का सविभाग करना चाहिए।

करुणा की भावना की इच्छावाले को करुणा रहित होने के दोष और करुणा के आनृशस का प्रत्यवेक्षण करके करुणा भावना का आरम्भ करना चाहिए। विसुद्धिमग्ग मे करुणा के पात्र क्रमश. ये हैं—सुखी, प्रिय, मध्यस्थ, और शत्रु। अंगुत्तर अट्ठकथा मे यह क्रम दूसरा है—वैरी, निर्धन, प्रिय और स्वयं। इसी प्रकार मुदिता और उपेक्षा भावनाओ की प्राप्ति भी साधक करें।

(ट) आरूप निर्देश

ब्रह्मविहारो के बाद चार आरूप्यों मे प्रथम आकाशानन्त्यायतन की भावना करे। रूप (दण्ड, अस्त्र आदि) दोष कारक है, अत. साधक उनके प्रति निर्वेदी होकर उनके समतिक्रमण के लिए परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोडकर नव पृथ्वी-कसिण आदि मे से किसी एक मे चतुर्थ ध्यान को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार विज्ञानन्त्यायन मे विज्ञान की अनत्ता पर, आकिञ्चन्यायतन मे वस्तु की अनित्यता एव शून्यता पर, नैवसज्ञानासंज्ञायतन मे संज्ञा-असज्ञा के दोषो पर वह योगी विचार करता है।

(ठ) समाधि निर्देश

आहार में प्रतिकूल-संज्ञा—समाधिस्थ व्यक्त के लिए यह आवश्यक है कि वह लालच आदि दोषकारक दुर्गुणों से दूर रहे। आहार इन दुर्गुणो का उत्पादक है अत: योगी को इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए। आहार का अर्थ है आहरण करनेवाला। वह आहार चार प्रकार का है—कवलीकाराहार, (ग्रास करके खाने योग्य आहार), स्पर्शाहार, मनोसञ्चेतनाहार, और विज्ञानाहार। इनमे मुख्य है कवलीकाराहार जिसमें निम्न दस प्रकार से प्रतिकूल होने का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए—गमन, पर्येषण, परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्व, परिपक्व, फल, निष्यन्द और संम्रक्षण।

योगी कर्मस्थान का ग्रहणकर, अरण्य-वन को छोडकर कर्मस्थान को ग्रहणकर आहार के लिए गाँव मे प्रवेश करे। कपाल को हाथ मे लिये घर की परिपाटी से गाँव की गलियों मे भ्रमण करे। आहार का पर्येषण कर गाँव के बाहर उचित स्थान पर बैठकर उसे ग्रहण करे। इन सभी के प्रतिकूल होने का

प्रत्यवेक्षण करे। अन्न, पेय, खादनीय, भोजन एक द्वार से प्रवेश कर नव द्वारों से निकलता है।[1] "आहार मे प्रतिकूल संज्ञा" में संलग्न भिक्षु का चित्त रस-तृष्णा से वियुक्त हो जाता है। उसके पाँच काम-गुण सम्बन्धी राग दूर हो जाता है। फलत: योगी भिक्षु रूपस्कन्ध का परिज्ञानकर कायगता स्मृति की भावना मे परिपक्वता प्राप्त करता है। इसके बाद वह चातुर्धातु के स्वभाव पर विचार करता है। इस विचार से उसे शून्यता का ज्ञान हो जाता है। सत्त्व की अस्तित्वहीनता का भान होने से भय, अरति, रति, खेद, इष्ट, अनिष्ट, हर्ष आदि को सहने की शक्ति उसमे बढ़ जाती है। सुगति प्राप्ति का यही मार्ग है। इस प्रकार समाधि की भावना भाने से उपचार और अर्पणा, दोनो समाधियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

(ड) विपस्सना भावना

बौद्ध साधना मे समाधि भावना (चित्त की एकाग्रता) और विपस्सना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपस्सना का तात्पर्य है वह विशिष्ट ज्ञान और दर्शन जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दु:खता और अनात्मता प्रगट होती है—अनिच्चादिवसेन विविधाकारेन पस्सतीति विपस्सना (अभिधम्मत्थसंगह टीका)। विपस्सना सङ्खारपरिग्गाहकत्राण (अगुत्तरनिकायट्ठकथा, वालवग्ग, सुत्त ३)। विसुद्धिमग्ग मे भी कहा है--सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति।

मुक्ति प्राप्ति के दो यान है—शमथयान और विपस्सनायान। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के व्यक्तियों से है—तण्हाचरित और दिट्ठिचरित। तण्हाचरित वाले शमथपूर्वक विपस्सना के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं और दिट्ठिचरितवाले विपस्सना पूर्वक शमथ के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते है। यहाँ श्रद्धा और प्रज्ञा तत्त्व का महत्त्व है। श्रद्धा तत्त्व के माध्यम से समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक कर्मस्थान का अभ्यास करते हुए, ऋद्धियो की प्राप्ति पूर्वक विपस्सना मार्ग की उपलब्धि करता है और प्रज्ञा प्राप्ति कर अर्हत् बनता है। प्रज्ञाप्रधान साधक विपस्सना मार्ग का अभ्यास करता है और अन्त मे प्रज्ञा-प्राप्त कर अर्हत् प्राप्ति करता है। इससे स्पष्ट है कि विपस्सना का सीधा सम्बन्ध अर्हत्प्राप्ति एव निर्वाणप्राप्ति से है। समाधि का उससे सीधा सम्बन्ध नही। शमथ

---

१. अन्नं पानं खादनीयं भोजनञ्च महारहं।
एकद्वारेन पविसत्वा नवहि द्वारेहि सन्दति॥ विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ११.

का मार्ग (समथो हि चित्तेकग्गता) लौकिक समाधि का मार्ग है और विपस्सना को लोकोत्तर समाधि कहते हैं।

पंच नीवरण रूप विघ्ननिवृत्ति से लौकिक समाधि मे, प्रथम ध्यान की प्राप्ति होती है। प्रथम ध्यान में पंचाङ्गों का प्रादुर्भाव होता है तथा द्वितीय-तृतीय ध्यान मे उनका अतिक्रमण हो जाता है। फलत: ध्यान के पाँच अंग वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता की प्राप्ति होती है। वितर्क आलम्बन में चित्त का आरोप करता है वहाँ चित्त का परिस्पन्दन होता है। विचार सूक्ष्म होते हैं। वहाँ चित्त की वृत्ति प्रशान्त होती है।[1] तदनन्तर प्रीति उत्पन्न होती है। उससे शरीर रोमाञ्चित् हो जाता है और उसमे आकाश-लङ्घन का सामर्थ्य आ जाता है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि होती है। प्रश्रब्धि (शान्ति) के परिपाक से काय और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और अर्पणा इस त्रिविध समाधि की प्राप्ति होती है। *पंचाङ्गों का अतिक्रमण होते-होते अन्तिम ध्यान मे समाधि उपेक्षा* सहित होती है। लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धिबल भी प्राप्ति होता है, परन्तु निर्वाण-प्राप्ति के लिए विपस्सना के मार्ग का अनुसरण करना अत्यावश्यक है। निर्वाण का इच्छुक साधक शमथ भावना के उपरान्त विपस्सना की वृद्धि करता है और तभी अर्हत्पद मे प्रतिष्ठा होती है, अन्यथा नही।

समाधि मे अर्पणा समाधि उपचार समाधि पूर्वक होती है। उपचार समाधि मे वितर्कादि पाँच अंगों का प्रादुर्भाव नही होता, परन्तु अर्पणा में उनकी उत्पत्ति होकर उनमे सुदृढता आ जाती है। उपचार मे चित्त कभी निमित्त का आलम्बन बनाता है तो कभी भवाङ्ग में अवतीर्ण हो जाता है, परन्तु अर्पणा मे चित्त पूर्णत: स्थिर हो जाता है। चालीस कर्मस्थानों मे से बुद्ध-धर्म-संघ-शील-त्याग-देवता ये छह स्मृतियाँ, मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार मे प्रतिकूलसंज्ञा और चतुर्धातुव्यवस्थान ये दस कर्मस्थान उपचार समाधि का और शेष तीस कर्मस्थान अर्पणा समाधि का आनयन करते हैं। तीस कर्मस्थानों मे से दस कसिण और आनापानस्मृति चार ध्यानो के आलम्बन होते हैं, दस अशुभ और कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन हैं, प्रथम तीन ब्रह्मविहार तीन ध्यानों के और चतुर्थ ब्रह्मविहार तथा चार आरूप्य चार ध्यानों के आलम्बन हैं। प्रथम ध्यान के पाँच अंग हैं—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि (एकाग्रता)। इसे सवितर्क-सविचार कहते हैं। ध्यान की परिगणना दो प्रकार से होती है—चार ध्यान या पाँच ध्यान। पाँच की परिगणना के द्वितीय

---

१. वितर्कविचारावौदार्यसूक्ष्मते, अभिधर्मकोश, २–३३।

ध्यान को अवितर्क-विचार मात्र कहते हैं। चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान में और पाँच की परिगणना में तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनों का अतिक्रम होता है। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का अतिक्रम होता है, केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाती है। दोनों प्रकार के अन्तिम ध्यान में सुख का अतिक्रम होता है। अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।[1]

विसुद्धिमग्ग में प्रज्ञा को विपस्सना के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। वहाँ कुशलचित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान को प्रज्ञा कहा है। आलम्बन को जानना मात्र संज्ञा है। उसके लक्षण को जानना विज्ञान है तथा मार्ग का ज्ञान होना प्रज्ञा है। प्रज्ञा चरम उपलब्धि है। इसके स्वरूप को हेरञ्ञिक (सराफ) के उदाहरण से समझाया गया है। एक अबोध बालक कार्षापण के चित्र-विचित्र रूप को ही जानता है, पर ग्रामीण उसे उपभोग-परिभोग के साधन के रूप मे भी समझता है। इन दोनों से भी अधिक ज्ञान हेरञ्ञिक को है जिसे कार्षापण के उक्त दोनों रूपों के साथ ही उसके चोखे, खोटे होने का भी सम्यग्ज्ञान है। प्रज्ञा की भी यही स्थिति है। वह आलम्बन के आकार और लक्षण का ज्ञाता होने के साथ ही मार्ग का भी ज्ञाता होता है। इसीलिए प्रज्ञा का प्रयोग प्रजानन के अर्थ मे हुआ है।

प्रज्ञा के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। प्रज्ञा स्वत. एक प्रकार की है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से दो प्रकार की है। चिन्ता, श्रुत और भावना के भेद से उसके तीन प्रकार हैं तथा चार आर्यसत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा से वह चार प्रकार की है। स्कन्ध, धातु, आयतन, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के समुचित्त ज्ञान से प्रज्ञा का विकास होता है। प्रज्ञा के इस विकसित रूप से आस्रवो का क्षय होता है।

विपस्सना प्राप्ति के लिए तथा कर्मस्थान के अभ्यास के लिए यह आवश्यक है कि साधक पदार्थ के स्वरूप को भलीभाँति समझे। बौद्धधर्म की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अनित्य, दुःख और अनात्मक है—यदनिच्चं तं दुक्खं, यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता, तन्न मम यथा भूतं।

१. अनित्य का लक्षण—पदार्थ अनित्य है। पञ्चस्कन्ध भी अनित्य हैं। पञ्चस्कन्ध रूप पदार्थ मे उत्पाद, व्यय, और परिवर्तन दिखाई देते हैं। उसे सत्त, पुग्गल अथवा जीव कहा जा सकता है।

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ. ४१–५५, देखिये पीछे "बौद्धधर्म में ध्यान का स्वरूप" प्रकरण।

२. अनित्य का लक्षण—उपादान स्कन्ध दुःख रूप माने गये हैं। रूप वेदना, संज्ञा संस्कार एवं विज्ञान ये पाञ्चस्कन्ध हैं। रूप निष्पन्न और अनिष्पन्न दो प्रकार का है। निष्पन्न रूप अठारह हैं—चार भूत रूप (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु), पाँच प्रसाद रूप (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय), चार विषय (रूप, शब्द, गन्ध, रस), दो भाव (स्त्रीत्व और पुरुषत्व), एक हृदय, एक जीवितेन्द्रिय और एक कवलिङ्कारहार, और अनिष्पन्न रूप दस हैं—एक परिच्छेद (आकाशधातु), दो विज्ञप्ति रूप (काय और वची विज्ञप्ति), तीन विकार रूप (लघुता, मृदुता, कर्मण्यता), चार लक्षण रूप (उपचय, सन्तति, जरता, अनित्यता)।

विज्ञान जानने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। विज्ञान, चित्त मन ये इसके समानार्थक शब्द हैं। कुशल, अकुशल और अव्याकृत ये वेदना के तीन भेद है। कुशलभूमि के चार भेद हैं—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर। अकुशल तीन प्रकार का है—लोभ, द्वेष और-मूल। अव्याकृत के दो भेद हैं—विपाक और क्रिया। कुल मिलाकर २१ कुशल, १२ अकुशल, ३६ विपाक, और २० क्रिया—सभी नवासी विज्ञान होते हैं। ये प्रतिसन्धि, भवाङ्ग, आवर्जन आदि चौदह प्रकार स प्रवर्तित होते है।

वेदना अनुभवात्मक होती है। उसके सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा ये पाँच भेद है। संज्ञा पहचानने रूप होती है। वह कुशल, अकुशल और अव्याकृत के भेद से तीन प्रकार की है। संस्कार राशि रूप है। उसके ३६ प्रकार हैं—स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि, श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अत्रपा, अलोभ, अद्वेष, अमोह कार्यप्रश्रब्धि, चित्तप्रश्रब्धि, कायलघुता, चित्तलघुता, कायमृदुता, कायकर्मण्यता, चित्तकर्मण्यता, कायप्रागुण्यता, चित्तप्रागुण्यता, एवं कायऋजुता, ये २७ संस्कार स्वरूपतः आये हुए, छन्द, अधिमोक्ष, नमस्कार, तत्रमध्यस्थता ये चार सस्कार येवापनक, करुणा, मृदुता, काय-वाक्-मिथ्या-आजीव से विरति, ये ५ अनियत संस्कार संस्कार को अभिधम्म मे सचेतना तथा चेतना कहा गया है।

३. अनत्त का लक्षण—आत्मा (अनत्त) नाम का कोई पदार्थ नही। उसकी प्रतीति भ्रम मात्र है। अभिधानप्पदीपिका मे अन्त शब्द के चार अर्थ दिये हैं—चित्त, काय, स्वभाव, और परमत्त चित्ते काये स्वभावे च सो अत्ता परमत्तनि। सम्भव है, यहाँ अनत्त शब्द का अर्थ मेरा नही अथवा क्षणभगुर रहा हो।

विपस्सना की प्राप्ति के लिए साधक को आयतन, धातु तथा इन्द्रियों का भी समुचित ज्ञान होना चाहिए। आयतन १२ हैं—चक्षु, रूप, श्रोत, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पर्श, मन और धर्म। धातु १८ हैं—चक्षु,

रूप, चक्षु विज्ञान, श्रोत्र, शब्द, श्रोत्रविज्ञान, घ्राण, गन्ध, घ्राणविज्ञान, जिह्वा, रस, जिह्वाविज्ञान, काय, स्पर्श, कायविज्ञान, मन, धर्म, और मनोविज्ञान। इन्द्रियाँ २२ हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा काय, मन, स्त्री, पुरुष, जीवित, सुख, दु:ख सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा अनज्ञात, आज्ञा और आज्ञात। -

योगी को चार शब्दों का ज्ञान भी अपेक्षित है। चतुरार्यसत्य बौद्धधर्म की आधारशिला है। दु ख, दुखसमुदय, दु:खनिरोध और दु:खनिरोधगामिनीप्रतिपदा ये चार आर्यसत्य हैं। जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास, अप्रिय का सम्प्रयोग, प्रिय का वियोग इत्यादि दु:ख है। तृष्णा, अविद्या आदि के कारण दु ख की उत्पत्ति होती है। दु.ख की उत्पत्ति के कारणो का निरोध होने से दु:खनिरोध होता है। इस दु:खनिरोध का उपाय है सम्यक् दृष्टि-संकल्प-वचन-कर्मान्त-आजीव-व्यायाम-स्मृति-समाधि रूप आष्टाङ्गिक मार्ग का पालन।

इसी सन्दर्भ मे प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान भी आवश्यक है। इसका समावेश चतुरार्यसत्य मे हो जाता है। परन्तु इसका विशेष महत्त्व होने के कारण पृथक् वर्णन ही प्राय. किया गया है। प्रतीत्यसमुदाय का तात्पर्य है कारण पूवक उत्पत्ति होना और निरोध होना। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारो के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से षडायतन, षडायतनो के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दु:ख, दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। यह दु:खसमुदय का अनुलोमात्मक ज्ञान है। इसी प्रकार दु:ख निरोध का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रत्ययो की संख्या २४ बतायी गई है—हेतु, आलम्बन, अधिपति, अनन्तर, समानन्तर, सहजात, अन्योन्य, निश्रय, उपनिश्रय, पुरेजात, पश्चात्जात, आसेवन, कर्म, विपाक, आहार, इन्द्रिय, ध्यान, मार्ग, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त, अस्ति, नास्ति, विगत और अविगत। प्रतीत्यसमुत्पाद बौद्धधर्म का कर्म सिद्धान्त है। उसका सम्यग्ज्ञान होने पर निर्वाण सद्य.प्राप्त हो जाता है।

(ढ) विपस्सना और सत्तविसुद्धि

विसुद्धिमग्ग के अनुसार चित्त और ज्ञान की परम विशुद्धि निर्वाण-प्राप्ति का मूल कारण है। रथविनीतसुत्त (मज्झिम निकाय) मे निम्न सात प्रकार की परिशुद्धियाँ निर्दिष्ट हैं जिनके पालने से 'अनुपादा परिनिर्वाण' की प्राप्ति होती है—सीलविसुद्धि, चित्तविसुद्धि, दिट्ठिविसुद्धि, कांखावितरणविसुद्धि,

मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि, पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि, और ञाणदस्सनविसुद्धि। विपस्सना की प्राप्ति के लिए काय, मन और विचारों की पवित्रता अपेक्षित है। यह पवित्रता उक्त विशुद्धियो के पालने से सहजता पूर्वक उपलब्ध हो जाती है।

१. शीलविशुद्धि—पातिमोक्ख, आहार आदि की विशुद्धि।

२. चित्तविशुद्धि—चार रूप और चार अरूप ध्यानों की प्राप्ति से उत्पन्न विशुद्धि।

३. दृष्टिविशुद्धि—नाम-रूप के यथार्थ स्वभाव को देखना। शमथ या विपश्यना मार्गी को नैवसंज्ञायतन छोड़कर शेष रूपावचर, अरूपावचर ध्यानों में से किसी एक से उठकर वितर्क आदि ध्यान के अङ्ग और उनसे सम्प्रयुक्त धर्मों को लक्षण कृत्य आदि से भली प्रकार जानना चाहिए। यह सत्त्व नहीं, नामरूप मात्र है। सत्त्व की कल्पना मात्र व्यवहार के लिए होती है—

यथापि अंग सम्भारा होति सद्दो रथो इति।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तो ति सम्मुति॥

४. कांखावितरणविशुद्धि—सन्देह दूर करना। साधक नाम-रूप के हेतु-प्रत्यय पर विचार कर हर सन्देह दूर करने का प्रयत्न करता है। रूप-काय हेतु-प्रत्यय पर चिन्तन करता है। शरीर की अशुचिता पर विचार कर कर्मों के स्वरूप का परिभावन करता है। कर्म चार प्रकार के हैं—दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपदापर्यवेदनीय और अहोसि कर्म। एक अन्य प्रकार से भी विभाजन मिलता है—यद्‌गरुक, यद्‌बहुल, यदासन्न और कृतत्वतात् कर्म। जनक, उपस्तम्भक, उपपीडक और उपघातक, कर्म के ये चार भेद भी वर्णित हैं। बौद्धधर्म के अनुसार मृत्यु के अन्तिम क्षण में जैसा कर्म-भाव रहेगा उसी के अनुसार आगामी जन्म मे फल मिलेगा।[1] जैनसिद्धान्त मे भी ऐसा ही कहा गया है। बौद्धधर्म मे कहा है—कर्म का कर्ता नही है और न विपाक को भोगने वाला है। शुद्धधर्म मात्र प्रवर्तित होते हैं। इस प्रकार जानना सम्यग्दर्शन (सम्मा दस्सन) है।[1] जैनधर्म मे भी लगभग यही कहा है कि सप्ततत्त्वो को भलीभाँति पहचानना सम्यग्दर्शन है—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। कांक्षावितरणविशुद्धिवान् व्यक्ति को अतीत, वर्त्तमान, भविष्यत् के धर्म, च्युति और प्रतिसन्धि के अनुसार विदित होते हैं। वह उसकी ज्ञानवती-प्रज्ञा होती है। सभी विचिकित्सायें और मिथ्यादृष्टिया दूर हो जाती हैं। इसी को धर्मस्थितिज्ञान, यथाभूतज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन कहते हैं।

---

१. विसुद्धिमग्ग-परिच्छेद, १६

५ मार्गामार्गज्ञान—दर्शनविशुद्धिमार्ग और अमार्ग को जानकर प्राप्त हुआ ज्ञान मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि है। तीन लौकिक परिज्ञायें हैं—ज्ञातपरिज्ञा, तीरणपरिज्ञा और प्रहाणपरिज्ञा। पञ्चस्कन्धों में अनित्य, दुःख, और अनात्म का विचार करने से योगी आनुलोमिक क्षान्ति को प्राप्त करता है। अनित्य, प्रलोक, चंचल, प्रभङ्गुर, अध्रुव, विपरिणाम-स्वभाव, असार, विभव, संस्कृत और मरण-स्वभाव के तौर पर एक-एक स्कन्ध में दस-दस करके पचास अनित्यानुपश्यनायें होती हैं। परवश, रिक्त, तुच्छ, शून्य और अनात्म के तौर पर एक-एक स्कन्ध में पच्चीस-पच्चीस आत्मानुपश्यनायें होती हैं। शेष दुःखादि के आधार पर एक सौ पच्चीस दुःखानुपश्यनायें होती हैं। रूप-अरूप का सम्मसन करनेवाले योगी को रूप, चित्त, कर्म, आहार, ऋतु, आदि से उत्पन्न स्थिति पर त्रिलक्षण (अनित्य, दुःख और अनात्म) का आरोपण करके प्रज्ञा-भावना का सम्पादन करना चाहिए।

रूपसप्तक और अरूपसप्तक के अनुसार संस्कारो पर त्रिलक्षण का आरोपण करके विपश्यना की जाती है। यह रूपसप्तक मे विपश्यना आदाननिक्षेपण, वयवृद्ध अस्तगमन, आहारमय, ऋतुमय, कर्मज, चित्तज, और धर्मता इन सात आकारो से करणीय होती है। और अरूपसप्तक मे कलाप, यमक, क्षणिक, दृष्टि उद्घाटन, मान समुद्घाटन और निकन्ति परियादान से करणीय होती है।

इस प्रकार अभ्यस्त कर्मस्थान वाला योगी अठारह महाविपश्यनाओं को प्राप्त करता हुआ विरोधी धर्मों का परित्याग करता है। अनित्य, दुःख, अनात्म, निर्वेद, विराग, निरोध, प्रीतिनिःसर्ग, क्षय, व्यय, विपरिणाम, अनिमित्त, अप्रणिहित, शून्यता, अधिप्रज्ञा, यथाभूतज्ञानदर्शन, आदीनव, प्रतिसख्या, और विवर्त की अनुपश्यना, ये अठारह महाविपश्यना हैं। इन महाविपश्यनाओं मे अनित्यानुपश्यना आदि के विरोधी नित्य संज्ञा आदि के प्रहाण से शुद्ध ज्ञान वाला योगी उदय-व्यय का अनुपश्यनात्मक ज्ञान प्राप्त करता है।

अनुपश्यनात्मक ज्ञान-प्राप्ति के बाद विपश्यक योगी को विपश्यना के दस उपक्लेश उत्पन्न होते हैं—अवभास, ज्ञान, प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, अधिमोक्ष, प्रग्रह, उपस्थान, उपेक्षा, और निकन्ति। इन दस उपक्लेशों से परिचित होकर योगी धर्म के औद्धत्य में कुशल होता है और विक्षिप्त नही होता। उस स्थिति मे वह उपक्लेश की जटा को काटकर अवभास आदि धर्म मार्ग नही, किन्तु उपक्लेश

---

१. कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको।
सुद्धधम्मा पवत्तन्ति, एवेतं सम्मदस्सनं ॥ विसुद्धिमग्ग, वही,

२. तत्त्वार्थ सूत्र, १–१

से रहित वीथि में प्रतिपन्न विपश्यनाज्ञान मार्ग है, ऐसे मार्ग और अमार्ग का निरूपण करता है।

६. प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि—उपक्लेश से रहित, विधि में लगे हुए विपश्यना वाले उदय-व्यय, भङ्ग, भयतोपस्थान, आदीनव, निर्वेद, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्या और संस्कारोपेक्षा, इन आठ ज्ञानों का जानकार योगी को अवश्य होना चाहिए। इनके अतिरिक्त सत्य का अनुलोमात्मक नवां ज्ञान भी उसे होना चाहिए। यह ज्ञान होने पर योगी अनिमित्त, अप्रणिहित और शून्यता इन तीन विमोक्षसुख को प्राप्त करता है।

७. ज्ञानदर्शनविशुद्धि—स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों का ज्ञान ज्ञानदर्शन विशुद्धि है। इसके लिए बोधिपक्षिकधर्मों का परिपूर्ण होना, उत्थान और बल का समायोग, प्रहातव्यधर्म और उनका प्रहाण (संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, ओघ, योग, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल कर्मपथ, अकुशल चित्तोत्पाद), तथा परिज्ञा आदि कृत्य की परिपूर्ण जानकारी होनी चाहिए।

विपश्यना प्राप्त योगी के सात सोपान हैं—श्रद्धाविमुक्त, कायसाक्षी, उभतोभागविमुक्त, धर्मानुसारी, दृष्टि प्राप्त और प्रज्ञाविमुक्त। उनका विभाजन संस्कारोपेक्षा ज्ञान पर आधारित है।

(ग) पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति

सप्त विशुद्धियों की प्राप्ति से योगी का ज्ञान विशुद्ध हो जाता है और उसके समस्त आश्रवों का क्षय हो जाता है। विपश्यना का यही परिपाक है। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति हो जाने पर साधक ऋद्धिविध, दिव्यश्रोत्र, चेतोपर्यज्ञान, पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञान, तथा सत्वों की च्युति-उत्पत्तिज्ञान का अनुभव करता है।

ऋद्धिप्राप्ति—विसुद्धिमग्ग में दस ऋद्धियों का उल्लेख है—अधिष्ठान, विकुर्वण, मनोमय, ज्ञानविस्फार, समाधिविस्फार, आर्य, कर्मविपाकज, पुण्य, विद्यामय, और सम्यग्प्रयोग। पटिसम्भिदामग्ग में भी इनका वर्णन आया है। छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा, ये ऋद्धि के चार पाद विशारदता की प्राप्ति की दिशा में योगी को आगे बढ़ाते हैं। आलस्य, औद्धत्य, राग, द्वेष, निश्रय, प्रतिबन्ध, कामराग, क्लेश आदि सोलह कारणों में चित्त प्रकम्पित हो जाता है। अतः ऐसे कारणों को दूर रखना चाहिए और उनपर विजय प्राप्त करना चाहिए।

त्रिपिटक, अट्ठकथाओं तथा विसुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में विभिन्न ऋद्धियों का वर्णन किया गया है—एक से अनेक होना, प्रगट और अन्तर्धान होना, प्राकार, गृह, विहार, पर्वत आदि के पार जाना, पृथ्वी में गोता लगाना,

जल पर चलना, आकाश से जाना, चन्द्र सूर्य का स्पर्श करना, ब्रह्मलोकगमन, दूर को पास करना, बहुत को थोड़ा करना, थोड़े को बहुत करना, प्रभृति। इनमे कुछ विकुर्बण और कुछ मनोमय ऋद्धियाँ हैं।

अभिज्ञाप्राप्ति—अभिज्ञा की प्राप्ति ज्ञान की पूर्णता का प्रतीक माना जाता है। दीघनिकाय मे षड् अभिज्ञाओं का वर्णन मिलता है। त्रिपिटक में विविध प्रसंगों पर इनका विविध रूप से निर्देश हुआ है। विशेष रूप से अभिज्ञा की वहाँ दो सूचियाँ मिलती हैं। प्रथम को प्रज्ञा कहा है जो समाधि से सम्बन्धित है। वे ५ हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है। ये बोधिसत्त्वो और साधारण ऋषियो द्वारा भी प्राप्य हैं। दूसरी विषय सूची मे षड्अभिज्ञायें हैं। जो विपश्यना से सम्बन्धित हैं उनकी प्राप्ति आश्रवक्षयजन्य है। इसे अर्हत् साधना भी कहा है। इन अभिज्ञाओ को साक्षात्कार (सच्छिकातब्ब) किया जाता है। प्रथमा ऋद्धि अथवा अभिज्ञा ऋद्धिविध का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त २. दिब्बसोतधातु, ३. चेतोपरिञ्आण, और ४. पुब्बेनिवासानुस्सतिञाण हैं। चतुर्थ ज्ञान के अन्तर्गत संवर्त और विवर्त का परिज्ञान भी सम्मिलित है। संवर्तकल्प मे प्रलय और बुद्धक्षेत्रों का ज्ञान तथा विवर्तकल्प मे सृष्टि का ज्ञान अन्तर्भूत है। पञ्चम अभिज्ञा सत्त्वों की च्युति और उत्पत्ति का ज्ञान (सत्तान चुतूपपातञाण) है। इसमे यथाकर्मोपगज्ञान और अनागतवंशज्ञान गर्भित है।

(त) समापत्ति और निर्वाण

विपश्यना की प्राप्ति और अभिज्ञा की उपलब्धि के उपरान्त योगी समापत्ति सुख का अधिकारी होता है। ध्यान समापत्ति, फलसमापत्ति, एवं निरोध समापत्ति के बाद योगी निर्वाण प्राप्त करता है। शरीर के रहने पर वह सोपधिशेष और शरीर नष्ट हो जाने पर निरूपधिशेष कहा जाता है।

निर्वाण (पालि निब्बान) भौतिक इच्छाओ की समाप्ति का सूचक है। यह निर्वाण का निषेधात्मक रूप है। उसका विधेयात्मक रूप मोक्ख, निरोध, सन्त, सच्च, सिव, अमत, ध्रुव सरण, परायण, अकन्त, खेम, केवल, पद, पणीत, अच्चुत, मुत्ति, विमुत्ति, सन्ति, विसुद्धि, निब्बुति आदि शब्दो मे व्यक्त होता है।

निर्वाण की प्राप्ति योगी को चरम उपलब्धि है और समस्त क्लेशों का उपशमन उसका साध्य है। साधनायें उसके साधन हैं।

स्थविरवादी योग साधना का यह रूप हीनयान सम्प्रदाय मे भी हीनाधिक रूप से प्रचलित रहा है। सिद्धान्तो और साधनाओं के विकास मे स्थविरवाद के अतिरिक्त हीनयान के अन्य सम्प्रदायों मे विकास के सोपान द्रष्टव्य हैं। उनकी चरम परिणति महायानी साधना मे दिखाई देती है।

२. महायानी साधना

स्थविरवादी (हीनयानी) साधना में साधक आत्मकेन्द्रित रहता है पर महायानी साधना इस सीमा को स्वीकार नही करती। उसमें तो साधक बहुमुखी व्यक्तित्व सम्पन्न और लोकपरायण हो जाता है। बौद्ध साधना का यह आध्यात्मिक क्रान्तिकारी दर्शन निःसन्देह आकर्षक, सुखदायक और अनुभूतिजनक था। उसकी लोकप्रियता का प्रधान कारण भी यही है।

महायानी विचारधारा के साथ ही उसकी साधना का उदय हुआ। यह समय ई० पू० की लगभग तृतीय शताब्दी निश्चित किया जा सकता है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापरमिता महायानी साधना का सम्भवत: आद्यग्रन्थ होगा। उसके बाद तो महावस्तु, दिव्यावदान, अवदानशतक, बोधिचर्यावतार, शिक्षा-समुच्चय आदि अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सृजन हुआ। विज्ञानवाद और शून्यवाद नाम की दो शाखाओ मे उसका विभाजन किया गया। इन दोनों शाखाओ मे नागार्जुन, आर्यदेव मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, अर्चट और शान्तरक्षित प्रधान है।

महायानी साधना के प्रमुखत तीन भेद हैं—बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमिया तथा त्रिकायवाद। महायानी साधना को बोधिसत्वसाधना भी कहा गया है।

बोधिसत्व— साधना मे बोधिसत्त्व समस्त विश्व का परोपकार और परित्राण करने का प्रणिधान करता है। यह प्रणिधान उसे अचित्तता अथवा परार्थचित्तता की स्थिति मे लाकर खड़ा कर देता है। अचित्तता के अन्तर्गत महाकरुणा और महाप्रज्ञा का समन्वित रूप विद्यमान रहता है। बुद्धत्व की प्राप्ति का यह आधार स्तम्भ है। अचित्तता का सामान्यत: अर्थ पदार्थ के अस्तित्व को अस्वीकार करना अथवा उसे शून्य मानना है या यही शून्यतामयी दृष्टि महायान की विशेषता है। उपायकौशल तथा पुण्यसंभार और ज्ञानसंभार से से इस दृष्टि मे अधिक विशुद्धि आती है। पुण्यसंभार की प्राप्ति कुशलकर्मों की विधेयता तथा अकुशल कर्मों की निशेधता अथवा प्रहाणता पर निर्भर है। दृढ़ अध्यवसाय और दृढ़ आशय इसके लिए अपेक्षित हैं। ज्ञानसंभार की उपलब्धि असंगता, नि.स्वभावता एवं नैरात्म्य चिन्तन पर अधारित है। प्रज्ञापारमिता ज्ञानसंभार है और दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान पारमितायें पुण्य संभार

की सीमा में आती हैं। दोनों संभारों की प्राप्ति होने के उपरान्त क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का क्षय हो जाता है और फलतः शेष पारमितायें — उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञानपूर्ण हो जाती हैं। स्थविरवादी परम्परा में क्लेशावरण की प्रहीणता चरमोत्कर्ष की प्राप्ति मानी जाती है, परन्तु फिर भी बाह्य जगत् के प्रति नैरात्म्य भावना पूर्णतः जाग्रत नहीं हो पाती। यह कर्म पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की भावना द्वारा सम्पन्न हो जाता है। पारमिताओं की साधना इसी भावनाप्राप्ति का साधन है।

दस पारमिताओं की साधना के साथ दश भूमियों की व्यवस्था की गई हैं। ये दस भूमियां हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा। प्रमुदिता भूमिमे साधक को परार्थवृत्ति मे प्रसन्नता होती है और वह दश प्रकार के प्रणिधान, निष्ठायें और निपुणायें प्राप्त करता है। विमला भूमि मे साधक ऋजुता, मृदुला, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनाशक्ति, अनपेक्षता, उदारता और आशय नामक दश चित्ताशयों को पाता है। प्रभाकरी भूमि विविध ऋद्धिओ और अभिज्ञाओं की उत्पादिका है। इसमे चार ब्रह्मविहारो का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। अर्चिष्मती में सेंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का परिपालन किया जाता है। सुदुर्जया भूमि चित्त की विशुद्ध स्थिति का नाम है। इसमे आर्यसत्यो का बोध एवं महाकरुणा तथा शून्यतामयी दृष्टि का विकास होता है। अभिमुखी भूमि मे साधक दश प्रकार की समतायें प्राप्त करता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विविक्त, आदिविशुद्धि, निष्प्रपञ्च, अनाव्यूहानिर्व्यूह, प्रतिबिम्ब निर्माण और भावाभाव-द्वयसमता। इन समताओं को प्राप्त करने से प्रतीत्य समुत्पाद स्पष्ट हो जाता है और शून्यता विमोक्षमुख नामक समाधि प्राप्त हो जाती है। दूरंगमा भूमि मे साधक एक विशेष स्थिति तक पहुँच जाता है जहां उसके समस्त कर्म अपरिचित अर्थ सिद्धि के लिए उपायकौशल का उपभोग करते हैं। अचला भूमि मे संसारी प्राणियों के दुःखों की परिसमाप्ति करने का पुनः प्रणिधान किया जाता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक अपनी भूमि से च्युत नही होता तथा दशबल और चार वैशारद्यों की प्राप्ति करता है। साधुमती भूमि में कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मों का साक्षात्कार, चार प्रतिसंविदों की प्राप्ति, धर्मों की स्वलक्षणता का ज्ञान एवं अप्रमेय बुद्धों की देशना को श्रवण करने का अवसर साधक को मिल जाता है। अन्तिम भूमि धर्ममेघा है। यहां तक पहुँचते-पहुँचते साधक पुण्य और ज्ञान संभार की प्राप्ति, महाकरुणा की पूर्णता सर्वज्ञता और समाधियों को अधिगत कर लेता है। इस स्थिति में प्रादुर्भूत 'महारत्नराज' नामक पद्म पर बोधिसत्व आसीन होता है। विविध दिशाओं और क्षेत्रों से

समागत बोधिसत्त्व उसके परिमण्डल मे बैठ जाते हैं। उसके कायो से उत्थित महारश्मियों से साधक बोधिसत्त्व का अभिषेक होता है। तदनन्तर वह महाज्ञान से परिपूर्ण होकर धर्मचक्रवर्ती बन जाता है और संसारियों का उद्धार करना प्रारम्भ कर देता है। उक्त भूमियों में क्रमशः दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपाय कौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान पारमितायें प्रधान रहती हैं। इन भूमियों को जैन परिभाषा मे गुणस्थान कहा जा सकता है।

महायानी साधक का तृतीय रूप है, **त्रिकायवाद**। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध अवेणिक आदि धर्मों से परिमण्डित हो जाते है और संसारियो के उद्धार करने का कार्य बुद्धकाय के माध्यम से प्रारम्भ कर देते हैं। बुद्धकाय अचित्तता एवं शून्यता धर्मों का एकाकार रूप है। कायभेद से उसके तीन भेद हैं— स्वभावकाय, सम्भोगकाय, और निर्माणकाय। **स्वभावकाय** बुद्धकी विशुद्धकाय का पर्यायार्थक है।[1] ज्ञान की सत्ता को स्वभावकाय से पृथक् मानकर काय के चतुर्थ भेद का भी उल्लेख मिलता है। इस भेद को **ज्ञान धर्मकाय** कहा गया है। इसका फल है—मार्गज्ञता, सर्वज्ञता और सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति। स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकायके संयुक्तरूप को ही **धर्मकाय** की संज्ञा दी गई है। सम्भोगकाय के माध्यम से बुद्ध विभिन्न क्षेत्रो मे देशना देते है, अत उनकी संख्या अनन्तानन्त भी हो सकती है। **निर्माणकाय** के द्वारा इहलोक मे जन्म लिया जाता है। बुद्ध इन त्रिकायो द्वारा परमार्थकार्य करते है—

करोति येन चित्राणि हितानि जगत: समम्।
आभवात् सोऽनुपच्छिन्न कायो नैर्माणिको मुने. ॥[2]

तन्त्रिक साधना—

साधारणत तान्त्रिक साधना के बीज त्रिपिटककालीन बौद्धधर्म मे मिलने लगते हैं पर उसका व्यवस्थित रूप ईसा पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। गुह्यसमाज आदि तन्त्रों का अस्तित्व इसका प्रमाण है। सुचन्द्र, इन्द्रभूमि, राहुलभद्र, मैत्रेयनाथ, नागार्जुन, आर्यदेव आदि अचार्यों की परम्परा बौद्ध तान्त्रिक साधना से जुडी हुई है। श्रीधान्यकूट, श्रीपर्वत., श्रीमलयपर्वत आदि इसी साधना से सम्बद्ध है।

---

१. Tibetan Yoga, लेखक—W. Y. Evams. Wentz, Buddhism is Tibet, लेखक—सुशील सुप्त आदि ग्रन्थ।
२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism आदि ग्रन्थ।

तन्त्र साधना का प्रमुख लक्ष्य दैवी शक्तियों को वश में करके बुद्धत्व प्राप्ति करना है। इसमें प्रायः किसी शक्ति विशेष की उपासना की जाती है और उसे अत्यन्त गोपनीय रखा जाता है। इससे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। आटानाटीयसुत्त में इस प्रकार के अलौकिक प्रदर्शन दिखाई देते हैं। वैसे मूल बौद्धधर्म में मन्त्र, जप अथवा प्रतिष्ठा का कोई भी उल्लेख नहीं है पर वहाँ बुद्ध की चार ऋद्धियाँ अवश्य बताई गई हैं। छन्द (इच्छा), वीर्य (प्रयत्न), चित्त (विचार) तथा वीमंसा (परीक्षा)। इसके अतिरिक्त प्राण एवं चित्त के साधन भी बताये गये हैं। इन्हीं भावनाओं एवं विकसित अवस्थाओं को यहाँ विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। उनमें तन्त्रयान, वज्रयान, मन्त्रयान, सहजयान प्रमुख हैं।

तान्त्रिक साधना के अनुसार दुष्कर और तीव्रतप की साधना करनेवाला सिद्धि नही पाता। सिद्धि वही पाता है जो यथेष्ट कामोपभोगों के साथ साधना भी करे। यही उसका योग है।[1] साधना की दृष्टि से तन्त्रों के चार भेद हैं - क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग। क्रियातन्त्र कर्म प्रधान साधना है। इसमें धारणी तन्त्रों का समावेश हो जाता है। यहाँ बाह्य शारीरिक क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। चर्यातन्त्र समाधि से सम्बधित है। वैरोचन अभिसम्बोधि नामक ग्रन्थ में इस साधना का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। सनैमित्तक एवं अनैमित्तिक योग इसके विशिष्ट प्रकार हैं। योगतन्त्र मे महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा योग अधिक प्रचलित हैं। अनुत्तरतन्त्र वज्रसत्त्वसमाधि का दूसरा नाम है। साधना की दृष्टि से इसके दो भेद हैं - मातृतन्त्र और पितृतत्र। इन तन्त्रों की विधियों मे प्रधान हैं - विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इनको वज्रयोग भी कहा जाता है।

तिब्बत और चीन में प्रचलित बौद्ध साधना

बौद्ध तान्त्रिक साधना भारत के बाहर अधिक लोकप्रिय हुई। तिब्बत, चीन और जापान ऐसे देश हैं जिनमे महायानी साधना का विकास अधिक हुआ है। तिब्बत मे ईसा की सप्तम शताब्दी में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के राज्यकाल मे बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। थोनमी सम्भोट आदि अनेक तरुण

---

१. दुष्करैर्नियमस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिद्ध्यति
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयंश्चाशु सिद्ध्यति।
सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छतः
अनेन खलुयोगेन लघु बुद्धत्वयोगतः॥
गुह्यसमाज, पृ० २७,

तिब्बत से भारत आये और आचार्य विमलमित्र आदि अनेक विद्वान भारत से तिब्बत पहुंचे। यहीं से तिब्बत में भाषा, लिपि, धर्म और साधना का प्रचार प्रारम्भ होता है। सम्राट् स्त्रोङ्चन स्वयं प्रथम धर्मज्ञ और तन्त्रज्ञ थे। उन्हीं के काल में 'मणिकाबुम' नामक तिब्बती साधना का ग्रन्थ लिखा गया।[१]

तिब्बती साधना की दो प्रणालियाँ हैं—पारमितानय और तान्त्रिकनय। पारमितानय मे करुणा और प्रज्ञा का आधार होता है तथा तान्त्रिकनय मे महाकरुणा का ही आधार होता है। इन साधनाओं से तिब्बती साधकों का मुख्य उद्देश्य वज्रपद प्राप्त करना बताया गया है। कुछ और भी साधनाएं है। महामुद्रायोग, हठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षष्ठयोग, सहजयोग, उत्पत्ति-क्रमयोग, प्रत्याहारयोग आदि। लोकेश्वर, अक्षोभ्य, कालचक्र, लामाई नलजोर आदि नाम की साधनाएँ भी प्रचलित है।

जापान में प्रचलित बौद्ध साधना

सामान्यत: ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सप्तम शताब्दी मे ही बौद्धधर्म जापान में सम्भवत: कोरिया से पहुंचा। वहां सम्राट् शोतोकु ने उसे अशोक के समान संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर मे जापान में बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ और फलत: ग्यारह सम्प्रदाय खड़े हो गये—कुश (अभि-धार्मिक) और जोजित्सु (अभिधार्मिक) थेरवादाश्रयी हैं तथा सनरान (शून्यतावादी) होस्सो (आदर्शवादी), केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), तेण्डई (प्रत्येक बुद्धानुसारी), जेन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), जोडो (सुखावती व्यूहानुसारी), शिशु (सुखावतीव्यूहानुसारी और निचिरेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी)। इन मे शिंगोन, जेन और निचिरेन सम्प्रदाय साधना की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं। ये सभी साधनायें भारत मे प्रचलित बौद्ध साधना के समानान्तर अथवा किञ्चित् विकसित रूपान्तर लिये हुए हैं।[२]

बौद्ध योगसाधना के उक्त समग्ररूप[३] को देखने से यह स्पष्ट है कि वह मूल बौद्धधर्म की भित्ति पर प्रस्थापित एक योग प्रक्रिया है। उसका विकसित रूप तत्तद्देशीय संस्कृति और सभ्यता के तत्वों पर आधारित रहा है। भारतीय बौद्धेतर संस्कृतियों मे स्वीकृत योगसाधना से भी बौद्धयोग साधना का आदान-प्रदान हुआ है। इसकी परिधि और विश्लेषण अभी शेष है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख की सभी परम्पराओं का विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

---

१. तिब्बजन योग, बुद्धिज्म इन तिब्बते आदि ग्रन्थ देखिये।

२. Japani Buddism Essays in Zen Buddhism

३. बौद्ध साधना का विकास, पृ. २३–७३

पातिमोक्ख की विभिन्न परम्परायें—पातिमोक्ख के नियमों की विभिन्न परम्परायें साहित्य मे उपलब्ध होती हैं।[१]

	पाराजिक I	संघादिशेष II	अनियत III	निःसर्गिक IV	पाचि. V	प्रतिदे. VI	शैक्ष्य VII	अधिकरण, VIII	कुल
सर्वातिवादिन्	४	१३	२	१३	९०	४	११३	७	२६३
संस्कृत	"	"	"	"	"	"	"	"	२६३
विनय निदान सूत्र	"	"	"	"	"	"	"	"	२६३
सर्वास्तिवाद विनय	"	"	"	"	"	"	१०७	"	२५७
सर्वास्तिवाद विनय विभाषा	"	"	"	"	"	"	९१	"	२४१
मूल सर्वास्तिवादिन् और व्याख्या	"	"	"	"	"	"	९८	"	२४८
तिब्बतन	"	"	"	"	"	"	१०८	"	२५८
महाव्युत्पत्ति	"	"	"	"	"	"	१०५	"	२५५
धर्मगुप्त और टीका	"	"	"	"	"	"	११०	"	२५०
महीशासक और व्याख्या	"	"	"	"	९१	"	१००	"	२५१
काश्यपीय	"	"	"	"	९०	"	९६	"	२४६
उपालि परिपृच्छा	"	"	(२)	"	९२	"	७२	(७)	(२२४)
सूत्र			...				...	...	२१५
पालि	"	"	२	"	"	"	७५	७	२२७
महासांघिक	"	"	"	"	"	"	६६	"	२१८

१. A comparative study of the pratimoksa, pichow· Ph. D., शान्तिनिकेतन, १९५५।

रचना काल—प्रातिमोक्ष के इन नियमों की संख्या से यह स्पष्ट है कि सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में भिक्षु नियमों की संख्या सर्वाधिक थी–२६३ और महासांघिकों में सबसे कम थी–२१८। बुद्ध के समय मे इनमें से कितने नियम प्रचलित थे, कहना कठिन है। इनके सन्दर्भ मे सुत्तविभंग में जो कथायें दी गई हैं वे प्राय: कल्पनात्मक मानी गई हैं। पर उनमें तथ्यांश तो अवश्य होना चाहिए। पालि प्रातिमोक्ष से सम्बद्ध घटनाओं ने ही पातिमोक्ख का निर्माण किया है। अत: इसकी रचना मे एक नहीं, अनेक भिक्षुओं का हाथ है। अशोक के समय तक पातिमोक्ख स्थिर हो चुका होगा क्योंकि भाब्रू शिलालेख मे जिन सात ग्रन्थों का उल्लेख है, उनमे विनय समुकस का प्रथम स्थान है। इसका सम्बन्ध पातिमोक्ख से ही होना चाहिए। अत: पातिमोक्ख की रचना की ऊपरी सीमा ५०० ई. पू. और निचली सीमा २५० ई. पू. मानी जा सकती है।

पातिमोक्ख का उद्भव और विकास—पातिमोक्ख का उद्भव परम्परानुसार विपस्सी से माना जा सकता है। उनके कथन को ही आगे के बुद्धों ने दुहराया है। पञ्ञत्ति कथा मे पूछा गया है कि विपस्सी आदि तथागतों के समक्ष ब्रह्मचर्य चिरकाल तक क्यों नही ठहरा? भगवान् बुद्ध ने इसका उत्तर दिया कि उन लोगों ने श्रावकों को विस्तार से उपदेश दिया, संक्षेप से नहीं। अत: तथागतों के अन्तर्धान हो जाने पर वह सब विस्मृत हो जाता था। प्रातिमोक्ष भी नहीं बताया जाता था। तब सारिपुत्त ने भगवान् से संक्षेप मे शिक्षापदों एवं प्रातिमोक्ष सूत्रों को बताने का आग्रह किया। प्रस्तुत पालि पातिमोक्ख उसी परम्परा पर आधारित है। वैसे इसका प्रादुर्भाव विपस्सी की निम्न गाथाओं में खोजा जा सकता है।

खन्ति परमं तपो तितिक्खा
निब्बानं परम वदन्ति बुद्धा।
सब्बा पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसंपदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं॥

पातिमोक्ख का विकास संगीतियों के माध्यम से हुआ है। भाषा और संस्कृति की विभिन्नता भी इसमे एक बड़ा कारण रहा होगा। इसी सन्दर्भ मे स्वर्ण आदि रखने के १० नियमों की कहानी भी जुडी है। रजत और स्वर्ण का विधान यश ने संगीति में उठाया था जो मान्य कर लिया गया था। यह नि:सग्गिक–पाचित्तिक का १८ वां नियम है। महासांघिकों के शेष ६ नियमों का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। सम्भव है वे ६ नियम उत्तरकालीन रहे हों।

---

१. महावग्ग, (रोमन), भाग २, ३. २.

द्वितीय संगीति में महादेव के सिद्धान्त भी इसी प्रकार के विवाद के कारण बने। अतः लगता है, आचार की अपेक्षा विचार वैभिन्न्य संघभेद का मूल कारण रहा होगा। कोकोत्तरवाद, सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, आदि सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव भी विचारों की विविधता की पृष्ठभूमि में ही हुआ है।

पातिमोक्ख का संकलन क्रमिक रूप से नहीं हुआ बल्कि अपराधों की गम्भीरता के आधार पर हुआ है। सबसे बड़ा अपराध पाराजिक है जिसके कारण भिक्षु संघ से निष्कासित कर दिया जाता है। इसी प्रकार उससे कम गम्भीर अपराध क्रमशः संघादिशेष, अनियत, निःसर्गिक-पात्यन्तिक, प्रातिदेशनीय, शैक्ष और अधिकरणशमथ। पर यह निष्कर्ष भी सही नहीं क्योंकि अनियत, शैक्ष और अधिकरणशमथ नियम परिस्थितियों आदि पर निर्भर करते हैं। शायद यही कारण है कि अन्य सम्प्रदायों में पातिमोक्ख के नियमों का यही क्रम नहीं रखा गया।

वर्ग विभाजन—पातिमोक्ख के नियमों को वर्गों मे भी विभाजित कर दिया गया है। **भिक्खु पातिमोक्ख** का वर्ग विभाजन इस प्रकार है। पाराजिक, संघादिशेष और अनियत मे कोई वर्ग नहीं। निस्सग्गिय-पाचित्तिय में ३ वर्ग हैं—

१. चीवरवग्ग (१०), २. कोसियवग्ग (१०), और ३. पत्तवग्ग (१०)। पाचित्तिय में ९ वर्ग हैं—१. मुसावादवग्ग (१०), २. भूतगामवग्ग (१०), ३. भिक्खुनोवादवग्ग (१०), ४. भोजनवग्ग (१०), ५. अचेलकवग्ग (१०), ६. सुरापानवग्ग (१०), ७. सप्पाणकवग्ग (१०), ८. सहधम्मिकवग्ग (१२), और ९. रतनवग्ग (१०)। पाटिदेसनीय मे कोई वर्ग नहीं। सेखिय मे ७ वर्ग हैं—१. परिमंडलवग्ग (१०), २. उज्जग्घिकवग्ग (१०), ३. खम्भकवग्ग (१०), ४. सक्कच्चवग्ग (१०), ५. कबलवग्ग (१०), ६. सुरुसुरुवग्ग (१०), और ७. पादुकावग्ग (१५)। अधिकरणसमथ मे कोई वर्ग नही।

भिक्खुनी पातिमोक्ख—मे पाराजिक और संघादिशेष मे वर्ग विभाजन नहीं है। निस्सग्गिय-पाचित्तिय में ३ वर्ग हैं—१. पत्तवग्ग (१०), २. चीवरवग्ग (१०), और जातरूपवग्ग (१०)। पाचित्तिय मे १६ वर्ग हैं—१. लसुनवग्ग (१०), २. रत्तन्धकारवग्ग (१०), ३. नग्गवग्ग (१०), ४. तुवट्टवग्ग (१०), ५. चित्तागारवग्ग (१०), ६. आरामवग्ग (१०), ७. गब्भिनीवग्ग (१०), ८. कुमारिभूतवग्ग (१३), ९. छत्तवग्ग (१३), १०. मुसावादवग्ग (१०), ११. भूतगामवग्ग (१०), १२. भोजनवग्ग (१०), १३. चारित्तवग्ग (१०), १४. जोतिवग्ग (९), १५. दिट्ठिवग्ग (११), और १६. धम्मिकवग्ग (१०)।

इन दोनों प्रातिमोक्षगत नियमों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भिक्षुओं और भिक्षुणियों के नियमों के विधानक्रम में एकरूपता अथवा समान क्रम नहीं रखा गया है। मूलसर्वास्तिवाद सम्प्रदाय में यह विभाजन अधिक वैज्ञानिक है। अन्य सम्प्रदायों में भी क्रमवैभिन्न्य है। यह ठीक भी है, क्योंकि उत्तरकाल में हर सम्प्रदाय के अपने-अपने केन्द्र बन चुके थे। जैसे सर्वास्तिवाद कश्मीर में, महासांघिक पाटलिपुत्र मे, स्थविरवाद राजगृह मे। विशेष रूप से शैक्ष धम्मों में विभिन्नता आना स्वाभाविक थी। इसका कारण था, जैसा ऊपर कह दिया गया है, उस समय स्थविर नियमों के अर्थों मे और परम्पराओं में परिवर्तन कर रहे थे। भाषा और संस्कृति की विविधता भी इसमें कारण थी। विनीतदेव (८ वी शती) ने लिखा है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत महासांघिक प्राकृत, सम्मितीय अपभ्रंश और स्थविरवादी सम्प्रदाय पैशाची का उपयोग किया करते थे। शैक्षधर्म कभी भी नियतसंख्यक नहीं रहे। उनमें यथासमय लोकव्यवहार की दृष्टि से परिवर्धन होता रहा है। सामान्यतः भिक्षुशीलनिर्देश से प्रातिमोक्ष का विकास मानने पर उपोसथ आदि का विकासक्रम भी संगत बन जाता है।

अन्य विनय नियमों का प्रभाव—बौद्ध विनय पर जैन और वैदिक विनय का पर्याप्त प्रभाव रहा है। प्रातिपक्ष विनयपाठ जीवन की शुद्धि के लिए किया जाता था। इसके लिए भिक्षु–भिक्षुणी को संघ के समक्ष आना आवश्यक था पर कुछ ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं जहाँ अपवित्र अथवा पापकृत भिक्षु को संघ मे इस निमित्त प्रवेश नही दिया गया।[1] जैनविनय मे प्रायश्चित्त आदि की विधि इस सन्दर्भ मे स्मरणीय है।

पंचशील बौद्धों मे बहुत प्रचलित है। पर वह केवल उसी की सम्पत्ति नही। जैन और वैदिक सम्प्रदाय मे भी लगभग उसी प्रकार के आचार का विधान है। जैनधर्म के पाँचव्रत तो बिलकुल वैसे ही हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। बुद्ध बहुत भी पूर्व उनका विधान जैन धर्म मे हो चुका था।[2] वर्षावास का विधान जैन भिक्षुओं में स्वीकृत विधान के आधार पर हुआ ही था। खान-पान आदि सम्बन्धी विधान भी इसी प्रकार हैं जो जैन विनय से प्रभावित रहे हैं। संघ विधान भी मिलता-जुलता सा है। इसका विशेष अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जायगा।

---

१. महापदान सुत्त, ३–२८

२. देखिए लेखक का प्रबन्ध—Jainism in Buddhist Literature.

बौद्ध विनय सम्बन्धी प्राचीन साहित्य

बौद्ध विनय (पातिमोक्ख) पर पालि, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में बहुत साहित्य लिखा गया है। उसका किञ्चिद् विवरण निम्न प्रकार है—

स्थविरवाद (पालि) विनयपिटक—सं० Oldenberg, ५ भाग, P. T. S., लन्दन आदि १८७९–१८७३। अंग्रेजी में अनुवादित—I. B. Horner, ६ भाग, P. T. S., १९३८–५२। नागरी संस्करण–सं० भिक्षु जगदीश कश्यप, १९५६, हिन्दी अनु. राहुल सांकृत्यायन, सर्वास्तिवादी विनय पिटक-(संस्कृत) प्रातिमोक्ष, सं० Finot, JA., १९१३, Waldschmidt भिक्षुप्रातिमोक्ष, Leipzig, १९२६, Rosen (विनयविभंग), Berlin, १९५६, Hartel (विनयवस्तु: कर्मवाचना), Berlin, १९५६, Ridding, (विनयवस्तु, भिक्षुणी कर्मवाचना), JA. १९३८, Rouren ने विनयोत्तरग्रन्थ की उपालिपरिपृच्छा को भी सम्मिलित किया है। सर्वास्तिवादिन्—(चीनी) T. १४३५, T. १४३६, T. १४३७ और T. १४४१। मूलसर्वास्तिवादिन-(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० बनर्जी, I. H. Q. १९५३, विनयविभंग—सं० Rosen, विनयवस्तु—सं० दत्त (गिलगिट मेन्सक्रिप्ट्स), कलकत्ता, १९४२–५०, चतुष्परिषत्सूत्र—सं० Tucci। तिब्बतन्—Rockhill द्वारा The life of the Buddha में अनुदित। चीनी—T. १९४२–५१, और १४५४–५, धर्मगुप्तक (संस्कृत)—Ritsuzo no kenkyu में कुछ भाग Hirakawa द्वारा उल्लिखित। चीनी—T. १४२८–३१। महीशासक (चीनी) T. १४२१–४। काश्यपीय (हैमवत, चीनी, केवल विनयमात्रिका) T. १४६३, महासांघिक (चीनी) T. १४२५–७, सारिपुत्रपरिपृच्छा, T. १४६५। लोकोत्तरवादिन्—(संस्कृत)—प्रातिमोक्षसूत्र—सं० Pa-chow और मिश्र, इलाहाबाद, १९५६. महावस्तु—सं० Senart, पेरिस, १८८२–९७। अनु. Jones P.T.S १९४९–५६ (तीन भाग)। टीकायें–अट्ठकथा–समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सं०—Takakusu आदि, ७ भाग, P. T. S. १९२४–४७. भूमिका भाग का अनुवादन Jayawickrama ने Inception of Discipline के नाम से किया है, P. T. S. १९६२। टीका –पोराण (वजिरबुद्ध) सं० Rangoon, १९४९–२१. नया संस्करण, १९६१ छट्ठसंगायन। सारत्थदीपनी (सारिपुत्त), ४ भाग, १९०२–

T. का तात्पर्य है Taisho. (Hobogirin, इन्डेक्स) संस्करण, महायान त्रिपिटक भी देखिए।

२४. देवरक्खित और मेधंकर द्वारा अपूर्व टीका, कोलम्बो, १९१४–१९३३। विमतिविनोदनी (काश्यप)—सं० Rangoon, २ भाग, १९१३, धम्माधरक्खित द्वारा १ भाग, कोलम्बो १९३५। अट्ठयोजना (नानकित्ति), Ba gkot १९२७–८। विनयत्थमञ्जूसा (बुद्धनाग), सं० एकनायक, कोलम्बो, १९१२।

खुद्दकसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller J. P. T. S. १८८३। पोराण (धर्मश्री)—अप्रकाशित। नव (संघरक्खित), अप्रकाशित। सुमंगलप्पसादनी (वचिस्सार), अप्रकाशित। मूलसिक्खा (धर्मश्री), सं० Muller, J. P. T. S. १८८३ पोराण (विमलसार), अप्रकाशित। अभिनव (वचिस्सार), अप्रकाशित, विनयविनिच्छय (बुद्धदत्त), सं० बुद्धदत्त, P. T. S १९२८ और उत्तर विनिच्छय (बुद्धदत्त)—सं० बुद्धदत्त, P. T. S १९२८। पोराण (उपतिस्स), अप्रकाशित। विनयसंघ (सारिपुत्त), अप्रकाशित। विनय समुट्ठानदीपनी (सद्धम्मजोतिपाल), अप्रकाशित। पातिमोक्खविसोधनी (सद्धम्मजोतिपाल) अप्रकाशित। विनयविभंगपदव्याख्यान (विनीतदेव) तिब्बतन। विनयवस्तुटीका (कल्याणमित्र), तिब्बतन। विनयसग्रह (विशेषमित्र), श्रामणेरकारिका (शाक्यसुभ) आदि टीकायें प्रातिमोक्षसूत्र पर तिब्बती भाषा मे उपलब्ध हैं। समन्तपासादिका (बुद्धघोष), सारत्थदीपनी, निदान कथा आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। विनयसूत्र (गुणप्रभ) विनयसूत्रटीका (धर्ममित्र) आदि महायानी विनय के ग्रन्थ हैं।

ये सभी विनय ग्रन्थ मूलत: पालि विनयपिटक के अन्तर्गत पातिमोक्ख पर आधारित हैं। उत्तरकालीन सम्प्रदायों का विनय स्वभावत: उत्तरकालीन साहित्य मे प्रतिबिम्बित होगा ही। उपर्युक्त विनय साहित्य मे भी बौद्ध सम्प्रदाय के लगभग सभी प्रमुख सम्प्रदायों का आचार विधान उल्लिखित है। सांस्कृतिक वातावरण की पृष्ठभूमि मे उनकी उत्पत्ति और विकास हुआ है। इस दृष्टि से पातिमोक्ख (प्रातिमोक्षसूत्र) विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संस्करण—

पातिमोक्ख का प्रस्तुत संस्करण स्थविरवादी विनयपिटक का अंग है। अभी तक उसके सुत्तविभग की कथाओं का अनुवाद नही हुआ था। उनको मैंने यहाँ सारांश रूप मे प्रत्येक नियमों के साथ यथाविधि नियोजित कर दिया है। संपादन, अनुवादन आदि मे श्री राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु धर्मरक्षित प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। तदर्थ मैं उनका आभारी हूं। पीछे टिप्पण भी दे दिये गये हैं। आशा है, छात्रों को यह संस्करण उपयोगी सिद्ध होगा।

सदर, नागपुर
२५–५–१९७१

भागचन्द्र 'भास्कर'

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

भिक्खु पातिमोक्खं

पञ्ञत्ति निदान कथा

वेरञ्जा मे भ० बुद्ध संसघ पहुँचे। उनकी कीर्ति सुनकर वेरञ्ज नामक ब्राह्मण उनके दर्शनार्थ पहुँचा। प्रश्नोत्तर के सन्दर्भ में तथागत ने कहा कि गौतम अरसरूपी, निर्भोगी, अक्रियावादी, उच्छेदवादी, जुगुप्सी, वैनयिक, तपस्वी व अप्रगल्भ है। यहाँ इन शब्दो की व्याख्या भी की गई है। आगे भ० ने वेरञ्ज ब्राह्मण से कहा कि मैंने अविद्या को नष्ट कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किया है। चार ध्यानो और त्रिविद्याओ का लाभकर चार आर्यसत्यो को पहचाना है। इसलिए मै उत्तम ब्राह्मण हूँ। वेरञ्ज ब्राह्मण प्रसन्नचित्त होकर दीक्षित हो गया।

उत्तरापथ मे एक समय दुर्भिक्ष पडा। भिक्षु उञ्छवृत्तिकर धान्य को मूसल से कूटकर उदरपूर्ति करने लगे। भ० बुद्ध ने कहा—ऐसा करने से पृथ्वीकायिक जीवो की विराधना होती है। अत: उत्तर कुरु मे पिण्डार्थ जावें। सभवत: इसी प्रसग को लेकर सारिपुत्त ने भ० से पूछा कि विपस्सी आदि तथागतों के सामने ब्रह्मचर्य चिरकाल तक क्यो नही ठहरा? भ० ने उत्तर दिया कि उन लोगों ने श्रावको को विस्तार से उपदेश दिया, संक्षेप से नहीं। अत: उनके अन्तर्धान होने पर श्रावक गण उस धर्म को विस्मृत हो जाते थे। प्रातिमोक्ष भी नही बताया जाता था। तब सारिपुत्त ने संक्षेप मे शिक्षापदो एवं प्रातिमोक्ष सूत्रो को बताने का भगवान् से आग्रह किया।

———

निदानं

१.सुणातु मे भन्ते सङ्घो, यदि सङ्घस्स पत्तकल्लं, अहं आयस्मन्तं इत्थन्नामं विनयं पुच्छेय्यं। सुणातु मे भन्ते सङ्घो, यदि सङ्घस्स पत्तकल्लं, अहं इत्थन्नामेन विनयं पुट्ठो विस्सज्जेय्य।

सम्मज्जनी पदीपो च उदकं आसनेन च।
उपोसथस्स एतानि पुब्बकरणन्ति वुच्चते॥

ओकास, सम्मज्जनी सम्मज्जनकरणञ्च। पदीपो च पदीपउज्जलनञ्च। इदानि सुरियालोकस्स अत्थिताय पदीपकिच्चं नत्थि। उदकं आसनेन च आसनेन सह पानीय-परिभोजनीय-उदकट्ठपनञ्च। उपोसथस्स एतानि पुब्बकरणन्ति वुच्चति एतानि चत्तारि वत्तानि सम्मज्जनकरणादीनि सङ्घसन्निपाततो पठमं कत्तब्बत्ता, उपोसथस्स उपोसथकम्मस्स पुब्बकरणन्ति वुच्चति, पुब्बकरणानीति अक्खातानि।

१. हे भन्ते ! यदि संघ उपयुक्त माने तो मैं अमुक नाम के भिक्षु से विनय पूछूँ। और अमुक भिक्षु द्वारा विनय पूछे जाने पर उसे उत्तर दूँ।

सम्मार्जनी (झाड़ू), प्रदीप, जल और आसन ये चार उपकरण उपोसथ करने के लिए हैं। अतः इन्हे पूर्वकणीय कहा जाता है।

२. छन्दपारिसुद्धिउतुक्खानं भिक्खुगणना च ओवादो।
उपोसथस्स एतानि पुब्बकिच्चन्ति वुच्चति॥

छन्दपारिसुद्धि छन्दारहान भिक्खून छन्दपारिसुद्धि आहरणञ्च। इध नत्थि। उतुक्खान हेमन्तादीनं तिण्ण उतून एत्तक अतिक्कन्त, एत्तकं अवसिट्ठन्ति एवं उतु आचिक्खनं। उतूनिध पन सासने हेमन्तगिम्हवस्सानानं वसेन तीणि होन्ति।

अथ हेमन्त उतु, अस्मिं उतुम्हि अट्ठ उपोसथा, इमिना पक्खेन एको उपोसथो सम्पत्तो, एको उपोसथो अतिक्कन्तो, छ उपोसथा अवसिट्ठा। भिक्खूनं गणना, एत्तका भिक्खु होन्ति।

ओवादो भिक्खुनीनं ओवादो दातब्बो । इदानि पन तासं नत्थिताय सो च ओवादो इध नत्थि । उपोसथस्स एतानि पुब्बकिच्चन्ति वुच्चति । एतानि पञ्चकम्मानि छन्दहरणादीनि पातिमोक्खुद्देसतो पठमं कत्तब्बत्ता उपोसथस्स उपोसथकम्मस्स, पुब्बकिच्चन्ति वुच्चति पुब्बकिच्चानीति अक्खातानि ।

२. छन्द (सम्मति पत्र) और परिशुद्धि को लाना, हेमन्तादि ऋतुओं का काल बताना,[1] भिक्षुओं की गणना करना और उपदेश देना ये चार उपोसथ के पूर्वकृत्य हैं ।

३. उपोसथा यावतिका च भिक्खू,
कम्मप्पत्ता सभागापत्तियो च ।
न विज्जन्ति वज्जनीया च पुग्गला,
तस्मिं न होन्ति पत्तकल्लन्ति वुच्चति ॥

उपोसथो तीसु उपोसथदिवसेसु चातुद्दसी पण्णरसी सामग्गीसु । अज्जुपोसथो पण्णरसो । यावतिका च भिक्खुकम्मप्पत्ता यत्तका भिक्खु तस्स उपोसथकम्मस्स पत्ता युत्ता अनुरूपा, सब्बन्तिमेन परिच्छेदेन चत्तारो भिक्खु पकतत्ता सङ्घेन अनुक्खित्ता नेव खो हत्थपासं अविजहित्वा एकसीमाय ठिता । सभागापत्तियो च न विज्जन्ति विकालभोजनादि वत्थुसभागापत्तियो च न विज्जन्ति । वज्जनीया च पुग्गला तस्मिं न होन्ति गहट्ठपण्डकादयो एकवीसति वज्जनीयपुग्गला हत्थपासता बहिकरणवसेन वज्जेतब्बा, तस्मिं न होन्ति । पत्तकल्लन्ति वुच्चति सङ्घस्स उपोसथकम्म इमेहि चतूहि लक्खणेहि सङ्गहीत पत्तकल्लन्ति वुच्चति, पत्तकालवन्तन्ति अक्खात । पुब्बकरण-पुब्बकिच्चानि समापेत्वा देसितापत्तिकस्स समग्गस्स भिक्खुसङ्घस्स अनुमतिया पातिमोक्खं उद्दिसितु आराधनं करोमि ।

३. चतुर्दशी और पूर्णमासी के दिनों में उपोसथ के लिए एकत्रित होना चाहिये । जितने भिक्षु उपोसथ कर्म के लिये आये हों, उनमें कम से कम चार भिक्षु ऐसे हों जो (i) संघ से निष्कासित न हुए हों (ii) हस्तपाश (घेराव) को बिना छोड़े एक सीमा में अवस्थित हों, (iii) विकाल भोजनादि के दोष से दूषित न हों, और (iv) गृहस्थ, नपुंसक आदि वर्जनीय व्यक्ति न हों । संघ का उपोसथ कर्म इन चार लक्षणों से युक्त होने पर ही सही माना जाता है । पूर्वकरणीय और पूर्वकृत्य को समाप्त करने के बाद समग्र भिक्षु संघ की अनुमति पूर्वक प्रातिमोक्ष की अवृत्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ ।

---

१. बौद्धधर्म में कुल तीन ऋतुओं को ही माना जाता है—हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षात् ।

४.सुणातु मे भन्ते सङ्घो, अज्जुपोसथो पण्णरसो, यदि सङ्घस्स पत्तकल्लं सङ्घो उपोसथं करेय्य, पातिमोक्खं उद्दिसेय्य।

किं सङ्घस्स पुब्बकिच्च ? पारिसुद्धि आयस्मन्ता आरोचेथ, पातिमोक्खं उद्दिसिस्सामि, तं सब्बेव सन्ता साधुकं सुणोम मनसि करोम। यस्स सिया आपत्ति सो आविकरेय्य, असन्तिया आपत्तिया तुण्हो भवितब्ब। तुण्हभावेन खो पनायस्मन्ते परिसुद्धाति वेदिस्सामि। यथा खो पन पच्चेक पुट्ठस्स वेय्याकरणं होति, एवमेव एवरूपाय परिसाय यावततियं अनुसावितं होति। यो पन भिक्खु यावततियं अनुसावियमाने सरमानो सन्ति आपत्ति नाविकरेय्य सम्पजानमुसावादस्स होति। सम्पजान-मुसावादो खो पनायस्मन्ते अन्तरायिको धम्मो वुत्तो भगवता, तस्मा सरमानेन भिक्खुना आपन्नेन विसुद्धापेक्खेन सन्ती आपत्ति आविकातब्बा, आविकता हिस्स फासु होति।

४. भन्ते ! संघ मेरी बात सुने। आज पूर्णमासी का उपोसथ है। यदि संघ उपयुक्त समझे तो उपोसथ करे और प्रातिमोक्ष (भिक्षु नियम) की आवृत्ति करे।

संघ का पूर्वकृत्य क्या है ? आयुष्मानो ! अपनी परिशुद्धि को बताये, मै प्रातिमोक्ष की आवृत्ति करूँगा। उसे हम सब शान्तिपूर्वक सुने और विचार करें। जिसे कोई आपत्ति हो अथवा जिसने कोई दोष किया हो वह स्पष्ट रूप से उसे कह दे और किसी प्रकार का दोष न होने पर चुप बैठे। चुप रहने पर मै यह समझूँगा कि आयुस्मान निर्दोष है। जिस प्रकार प्रत्येक प्रश्न का व्याकरण (उत्तर) होता है, उसी प्रकार इस परिषद् मे उत्तर पाने के लिए प्रातिमोक्ष को तीन बार दुहराया जाता है। जो भिक्षु तीन बार दुहराये जाने पर भी स्मृत दोष को प्रकट नही करते वे मृषावादी होते है। आयुस्मानो ! भगवान् ने मृषा-वादन को अन्तरायिक (विघ्नकारी) धर्मों मे गणना की है। अतएव दोष को स्मरण करने वाले विशुद्धापेक्षी भिक्षु को दोष प्रकट कर देना ही श्रेयस्कर होता है।

५.उद्दिट्ठं खो आयस्मन्तो निदानं। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? दुतियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? ततियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी'ति।

निदानं निट्ठितं।

५. आयुष्मानो ! निदान कह दिया गया। अब आयुष्मानो से मै पूछता हूँ—क्या आप परिशुद्ध (निर्दोष) है ? दूसरी बार भी पूछता हूँ—क्या आप परिशुद्ध हैं ? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या आप परिशुद्ध है ? आयुष्मान हूँ कि परिशुद्ध हैं, इसीलिए चुप है ऐसा मैं मानता हूँ।

—निदान समाप्त—

१. पाराजिक[1] कण्डं

तत्रिमे चत्तारो पाराजिका धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति[2]:—

ये चार पाराजिक धर्म कहे जाते हैं।

१. पटम पाराजिक—मैथुनपरिसेवने

१. वैशाली के पास कलिन्द ग्राम मे मुदिन्न नामक एक सेठ है। वह एक दिन वैशाली मे किसी काम से आया। वहाँ उसने भगवान् का उपदेश सुना। उपदेश सुनकर भिक्षु बन जाने की इच्छा हुई। माता-पिता से आज्ञा लेने के लिए उसने भोजन-पान छोड दिया। मरण से बचाने के लिए माता-पिता ने आज्ञा दे दी। सुदिन्न भिक्षु बन गया। दुर्भिक्ष पडने पर चर्या कठिन जानकर वह वैशाली गया, यह सोचकर कि सम्बन्धी उसे भिक्षा दे देगे। सम्बन्धियो ने उसे देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। माता-पिता ने उसे घर मे रखकर खूब विविध व्यञ्जन खिलाये। बाद मे गृहस्थ धर्म मे वापिस आने के लिए स्वयं निवेदन किया तथा पत्नी से भी निवेदन कराया। फलत पुत्र प्राप्त होने पर वश वृद्धि होगी। यह सोचकर सुदिन्न ने पत्नी के साथ संभोग किया। यथासमय उसे पुत्ररत्न पैदा हुआ। उसका बीजक नाम रखा गया। सुदिन्न के इस कुकृत्य की भिक्षुओ ने भर्त्सना की। भगवान् ने भी इसे ग्रामधर्म, वसलधर्म आदि कहकर निन्दा की और कहा कि जो भिक्षु मैथुन धर्म का सेवन करे उसे पाराजिक दोष होगा। मज्झिम निकाय मे रट्ठपाल कथा भी इसी प्रकार की है।

किसी समय दूसरे भिक्षु ने मर्कटी के साथ मैथुन सेवन किया यह सोचकर कि भगवान् ने मनुष्यो के साथ ही मैथुन सेवन वर्जित किया है, तिर्यञ्चो के साथ नही। वज्जिपुत्तक भिक्षुओ के लिए तब भ० ने कहा—

१. 'यो पन भिक्खु भिक्खूनं सिक्खासाजीवसमापन्नो सिक्खं[3] अपच्चक्खाय दुब्बल्यं अनाविकत्वा[4] मेथुनं धम्मं पटिसेवेय्य[1] अन्तमसो तिरच्छानगतायपि पाराजिको होति असंवासो[5] ॥ १ ॥"

१. जो भिक्षु भिक्षुओ के शिक्षापदो से युक्त होते हुए भी शिक्षा को छोड़े बिना दुर्बलता को छिपाकर अन्ततः तिर्यञ्चो के साथ भी मैथुन सेवन करे उसे पाराजिक दोष होता है और वह संवास के योग्य नही होता ॥१॥

---

1. पतिसेवेय्य—सी०।

१. द्वितीय पाराजिकं—अदिन्नादाने

२. एक समय भ० बुद्ध राजगृह मे गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे। उसी समय कुछ भिक्षु वहाँ तृणकुटी बनाकर रहा करते थे। आयुष्मान् धनिय भी अपनी तृणकुटी मे रहते थे। तृणहारिक धनिय भिक्षु के गाँव मे चले जाने पर अनेक बार उनकी कुटी को तोड़कर तृण और काष्ठ ले गये। तब धनिय ने कुटी को मृत्तिका से बनाया। भिक्षुत्व का यह विरोधक कार्य होने से भिक्षुओं ने उसे तोड़ दिया। इसके बाद उसने बिना दी हुई दारु लकड़ियों से कुटी बनाई। राजा ने इस दुष्कृत्य की निन्दा की। भगवान् ने भी उसको विगर्हित कर नियम बनाया। अनन्तर षड्वर्गीय भिक्षुओं ने किसी जंगल से रजत भण्डिक का आहरण किया। पूछने पर उन्होंने बताया कि इसका आहरण ग्राम मे नही, जगल से किया गया है। भगवान् ने उसकी निन्दा कर शिक्षापद दिया—

२. "यो पन भिक्खु गामा वा अरञ्ञा वा अदिन्नं थेय्यसङ्खातं आदियेय्य, यथारूपे अदिन्नादाने राजानो चोरं गहेत्वा हनेय्यु वा बन्धेय्युं वा पब्बाजेय्यु वा चोरो'सि बालो'सि मूळ्हो'सि थेनो'सी'ति तथारूप भिक्खु अदिन्नं आदियमानो, अयं पि पाराजिको होति असवासो ति" ॥२॥[1]

२. जो भिक्षु ग्राम अथवा जंगल मे चोरी समझी जाने वाली वस्तु का ग्रहण करे। जिस प्रकार की वस्तु को बिना दिये ग्रहण करने पर राजागण उस ग्रहण करने वाले चोर को पकडकर तुम चोर हो, अज्ञानी हो, मूढ हो, आदि प्रकार से कहकर मारते हैं, बाँधते है अथवा देश निष्कासन करते है। उस प्रकार की वस्तु को बिना दिये ग्रहण करने पर पाराजिक दोष होता है। ऐसे भिक्षु का सहवास अवाञ्छनीय है ॥२॥

चोरी से ही सम्बद्ध भिक्षुओ की १०६ घटनाओ का उल्लेख यहाँ किया गया है।

३. तृतीय पाराजिकं—जीविता वोरोपने

३. एक समय भ० बुद्ध वैशाली मे विहार करते थे। उन्होने भिक्षुओ को अनेक प्रकार से समझाया और स्वय अर्धमास तक ध्यान करने का निश्चय बनाया। बहुत से भिक्षुओं ने यह समय पाकर प्राणातिपातादि करके पिण्डपात ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। निर्लज्ज होकर स्वयं ही स्वयं का वध करने लगे अथवा परस्पर मे बध करने-कराने लगे। इसके लिए उन्होने समणकुत्तिक मिगलुण्डिका नामक व्याध को भी नियुक्त किया। संघ मे इस कारण भिक्षुओं की कमी हो

गई। बुद्ध जब समाधि से उठे तो इसका कारण पूछा। कारण ज्ञात होनेपर उन्होंने भिक्षुओं को बुलाया और उन्हें आनापानसति समाधि का वर्णन किया तथा इस दुष्कृत्य की निन्दा की। इसके बावजूद षड्वर्गीय भिक्षुओं ने सोचा कि यदि उपासकों को मरणधर्म की प्रशंसा की जाय तो वे स्वयं ही कालकवलित हो जावेंगे और उनकी स्त्रियों का उपभोग वे स्वयं कर सकेंगे। ऐसा प्रसंग आने पर भ० ने इस दुष्कृत्य को अकरणीय कहा और शिक्षापद दिया।

३. "यो पन भिक्खु सञ्चिच्च मनुस्सविग्गहं जीविता वोरोपेय्य, सत्थहारकं वा'स्स परियेसेय्य, मरणवण्णं वा संवण्णेय्य, मरणाय वा समादपेय्य—अम्भो पुरिस! किं तुय्हिमिना पापकेन दुज्जीवितेन. मतन्ते जीविता सेय्यो'ति इति चित्तमनो चित्तसङ्कप्पो अनेकपरियायेन मरणवण्णं वा संवण्णेय्य, मरणाय वा समादपेय्य, अय पि पाराजिको होति असंवासो ति ॥ ३ ॥"

३. जो भिक्षु जानबूझ कर मनुष्य के शरीर को जीवन (आत्मा) से व्यपरोपित करे (अलग करे अथवा नष्ट करे), आत्महत्या के लिए उसे अस्त्र-शस्त्र खोजे, मरणधर्म की मन-वचन-काय से प्रशंसा करे, अथवा मरण के लिए प्रेरित करे कि "हे पुरुष! तुम्हारे इस पापमयी जीवन से क्या लाभ? तेरे इस जीवन से तो मरण श्रेयस्कर है।" इस प्रकार के चित्त संकल्प से अथवा भावना से मरण धर्म की अनेक प्रकार से प्रशंसा करे अथवा उस ओर प्रेरित करे उसे पाराजिक दोष होता है। और वह सहवास के योग्य नहीं होता ॥३॥

४. चतुरथ पाराजिकं—उत्तरिमनुस्सधम्मारोपने

एक समय भ० वैशाली मे विहार करते थे। उस समय कुछ भिक्षु वग्गुमुदा नदी के किनारे भ्रमण करने लगे। लाभ, यशः, उदरपूर्ति आदि की प्राप्ति के लिए उन्होंने दिव्य यौगिक शक्तियो का प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया। भगवान् ने यह जानकर दुःख व्यक्त किया और शिक्षापद दिया—

४. "यो पन भिक्खु अनभिजान उत्तरिमनुस्सधम्मं अत्तुपनायिकं अलमरियञाणदस्सनं समुदाचरेय्य—इति जानामि, इति पस्सामी'ति, ततो अपरेन समयेन समनुग्गाहियमानो वा असमनुग्गाहियमानो वा आपन्नो विसुद्धापेक्खो एवं वदेय्य—"अजानमेव, आवुसो, अवचं जानामि, अपस्सं पस्सामि, तुच्छं मुसा विलपिंति अञ्ञत्र अधिमाना, अयं पि पाराजिको होति असंवासो ति ॥ ४ ॥"

४. जो भिक्षु बिना जानते हुए भी उत्तर मनुष्य धर्म (दिव्य शक्ति) तथा आर्यज्ञान-दर्शन को स्वय मे विद्यमान बताता है—कहता है कि "मैं इस प्रकार जानता हूँ, इस प्रकार देखता हूँ।" और जब किसी समय दूसरे के द्वारा यह पूछे जाने पर कि "तुम क्या कैसा जानते हो" पापेच्छ होकर अथवा भिक्षु अवस्था छोड़ देने की इच्छा से यह उत्तर दे कि आवुसो ! मैं यह नहीं जानता, मैं यह नही देखता। बिना जाने-देखे मैंने तुच्छ भूठ कह दिया। तो अभिमान से कहने पर उसे पाराजिक दोष लगता है। ऐसा भिक्षु संवास के योग्य नही होता ।।४।।

उद्दिट्ठा खो आयस्मन्तो चत्तारो पाराजिका धम्मा, येसं भिक्खु अञ्ञतरं वा आपज्जित्वा न लभति भिक्खूहि सद्धिं संवासं, यथा पुरे तथा पच्छा, पाराजिको होति असंवासो।

तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? दुतिय पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? ततिय पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा ? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामीति।

उद्दिट्ठं खो आयस्मन्तो निदानं, उद्दिट्ठा चत्तारो पाराजिका धम्मा, सुता खो पनायस्मन्तेहि तेरस सघादिसेसा धम्मा द्वे अनियता धम्मा, द्वि, निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा, द्वे नवुति पाचित्तिया धम्मा, चत्तारो पाटिदेसनीया धम्मा, पञ्चसत्तति सेखिया धम्मा, सत्त अधिकरणसमथा धम्मा—एत्तक तस्स भगवता सुत्तागतं सुत्तपरियापन्नं अन्वद्धमासं उद्देसं आगच्छन्ति। तत्थ सब्बेहेव समग्गेहि सम्मोदमानेहि अविवदमानेहि सिक्खितब्बन्ति।

पाराजिका निट्ठिता

आयुष्मानो ये चार पाराजिक धर्म कहे गये है। इनमे से किसी एक के भी करने से भिक्षु भिक्षुओ के साथ नही रह सकता। जैसे पहले वैसे ही पीछे पाराजिक होकर संवास के योग्य नही होता। तब आयुष्मानो से पूछता हूँ—क्या आप इन दोषो से परिशुद्ध हैं ? दूसरी बार और तीसरी बार भी यही पूछता हूँ। चूं कि आयुष्मान पूछे जाने पर भी मौन है इसलिए यह समझता हूँ कि आप लोग इन दोषो से दूर है।

।। पाराजिक समाप्त ।।

२. संघादिसेसकण्डं[1]

इमे खो पनायस्मन्तो तेरस सङ्घादिसेसा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति—

आयुष्मानो ! ये तेरह संघादिसेस धर्म कहे जाते है ।

१. पठमसंघादिसेसो—सुक्कविस्सट्ठियं

एक समय बुद्ध भगवान् श्रावस्ती में बिहार करते थे । उस समय आयुस्मान् सेय्यक ब्रह्मचर्य का आचरण करते थे । उनका शरीर रूक्ष और दुर्वर्ण था । आयुष्मान् उदायी के कहने पर उन्होने यथावश्यक भोजन करना, नहाना आदि प्रारम्भ कर दिया । राग उत्पन्न होने पर वह अपने हाथ से वीर्य-मोजन किया करता था । भिक्षुओ ने इसकी निन्दा की । और भगवान् बुद्ध ने अनेक प्रकार से उपदेश देकर शिक्षापद दिया—

१. "सञ्चेतनिका सुक्कविस्सट्ठी अञ्ञत्र सुपिनन्ता, संघादिसेसो ॥५॥"

१. स्वप्न के अतिरिक्त जान बूझकर वीर्यपात नहीं करना चाहिए । अन्यथा संघादिसेस दोष होगा ॥५॥

२. दुतिय संघादिसेसो—कायसंसग्गे

किसी समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती मे विहार करते थे । अनाथपिण्डिकाराम मे आयुष्मान् उदायी परिव्राजक उसी अरण्य मे वास करते थे । उनका बडा सुन्दर बिहार था । लोक दूर-दूर से उस बिहार को देखने आते थे । एक दिन एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी भी उसे देखने आये । ब्राह्मण ने बिहार की और उदायी की प्रशंसा की—पर इस बीच उदायी ब्राह्मणी का अंगस्पर्श कर चुके थे । ब्राह्मणी को यह सह्य नही हुआ । यह जानकर ब्राह्मण ने उदायी की निन्दा की और कहा कि इस प्रकार के दूषित आचरण करने पर बिहार को देखने अथवा दर्शन करने नारी वर्ग कैसे आ सकता है । भगवान् ने यह बात सुनकर उदायी की भर्त्सना की और शिक्षापद दिया—

२. "यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामेन सद्धि

कायसंसग्गं समापज्जेय्य हत्थग्गाहं वा वेणिग्गाहं[1] वा अञ्ञतरस्स वा अञ्ञतरस्स वा अङ्गस्स परामसनं, संङ्घादिसेसो ॥६॥"[2]

जो प्रतिबद्धचित्त भिक्षु विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री के हाथ अथवा वेणी को ग्रहणकर अथवा किसी अन्य अंग का स्पर्श कर काय संसर्ग करे, उसे संघादिशेष दोष लगता है ॥६॥

३· ततियसंघादिसेसो—दुट्ठुल्लवाचायं

३. पूर्वोक्त उदायी भिक्षु ने बिहार देखने वाली स्त्रियों से अश्लील शब्द कहे जिनको सुनकर स्त्रियों को लज्जा आई और उसे धुतकारा। बुद्ध ने यह जानकर शिक्षापद दिया—

३. "यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामं दुट्ठुल्लाहि वाचाहि ओभासेय्य, यथा त युवा युवतिं मेथुनूपसंहिताहि[2], सङ्घादिसेसो ॥७॥"

३. यदि सारक्त भिक्षु विकारयुक्त चित्त से किसी भी स्त्रीवर्ग से ऐसे अश्लील वचन कहे जो किसी तरुण कामासक्त व्यक्ति द्वारा मैथुन काल मे कहे जाते हैं तो उसे संघादिशेष होता है ॥७॥

४· चतुत्थसंघादिसेसो—अत्तकामपारिचरियायं

४. उदायी भिक्षु श्रावस्ती मे अनेक कुलों मे जाते थे। उनमे एक कुल मे मृतपतिका स्त्री बहुत सुन्दर दिखी। दूसरे दिन प्रात: काल उठकर उदायी उसके घर पहुँचा और उपदेश दिया। वह महिला उसे चीवर, पिण्डपात आदि देने लगी। तब भिक्षु ने कहा यह मुझे दुर्लभ नही। दुर्लभ है मैथुन धर्म जिसकी तुमसे याचना करता हूँ। वह स्त्री तैयार हो गई। उदायी और वह स्त्री कमरे के अन्दर गये। परन्तु दुर्गन्धित वस्त्र देखकर उदायी वापिस आ गये। यह घटना जानकर बुद्ध ने शिक्षापद दिया—

४. "यो पन भिक्खु ओतिण्णो विपरिणतेन चित्तेन मातुगामस्स सन्तिके अत्तकामपरिचरियाय वण्णं भासेय्य—एतदग्गं भगिनि पारिचरियानं यया मादिसं सीलवन्तं कल्याणधम्मं ब्रह्मचारिं एतेन धम्मेन परिचरेय्या'ति मेथुनूपसंहितेन[3], सङ्घादिसेसो ॥८॥"

४—जो सारक्तचित्त भिक्षु विकार युक्त चित्त से किसी भी स्त्री के पास

---

1. बेणिगाह—स्या०, रो०।
2. मेथुनूपसंञ्हिताहि—स्या.।
3. मेथूपनूपसञ्हितेन—स्या.।

अपनी काम वासना की तृप्ति के लिए यह कहे कि भगिनी, सभी प्रकार की परिचर्याओं में यही परिचर्या श्रेष्ठ है कि तुम मुझ जैसे शीलवान्, कल्याणधर्मी ब्रह्मचारी की मैथुन धर्म से परिचर्या करो। इस प्रकार की मैथुन सम्बन्धी बात संघादिशेष है ॥८॥

५. पञ्चमसंघादिसेसो—सञ्चरित्तापज्जने

पूर्वोक्त उदायि भिक्षु भिन्न-भिन्न प्रकार से कुमार-कुमारिकाओ का आवाह-विवाह कराया करते थे। एक बार तिरोगामी आजीविक श्रावक पुराण गणकी के पास पहुँचे और कहा कि यह हमारा कुमार है इससे तुम अपनी पुत्री का विवाह करो। गणकी ने कहा—हम तुम्हे नही जानते। आजीविक श्रावक ने कहा—उदायी ने उससे कहा था। उदायि ने आकर कहा और बाद मे गणकी ने दोनो का विवाह कर दिया। उन श्रावको ने उस लडकी के साथ व्यवहार अच्छा नही किया। दासी जैसे उस व्यवहार से दुःखित होकर पुत्री ने अपनी माँ के पास समाचार भेजा। उसकी करुण कथा को गणकी ने उदायी से कहा। उदायी ने जाकर उन श्रावको से कहा कि तुम इसका कुछ क्षणो के लिए भी उपभोग करो। पर श्रावको ने उदायि को भी अपमानित कर भगा दिया। इसी प्रकार "उद्यान मे आओ, हम रमण करेंगे" आदि प्रकार से भी उदायि ने दूत कार्य कराये। बुद्ध ने जब यह घटना सुनी तो उन्होंने यह नियम बनाया।

५. "यो पन भिक्खु सञ्चरित्तं समापज्जेय्य, इत्थिया वा पुरिसमतिं, पुरिसस्स वा इत्थिमतिं, जायत्तने वा जारत्तने वा, अन्तमसो तङ्खणिकाय पि, सङ्घादिसेसो" ॥६॥[3]

५. जो भिक्षु दूत बनकर किसी स्त्री की बात को किसी पुरुष से और किसी पुरुष की बात को किसी स्त्री से कहे कि तुम जार बनो अथवा पत्नी अथवा कुछेक क्षणो के लिए उसकी होकर रहो तो उसे संघादिशेष होता है ॥६॥

६. छुट्ठसघादिसेसो—कुटिमापने

एक समय भगवान् राजगृह में वेलुवन मे विहार करते थे। उस समय आलवक भिक्षु कुटिया बनवा रहे थे। इसके निमित्त वे लोगों के पास जाकर गाडी, कुदाल, परसु, वल्लि, मजदूर इत्यादि माँगते थे। लोग झुकर जाते थे। इस आचरण से आलवक को भिक्षा पाना भी दुर्लभ हो गया। भगवान् ने जब यह सुना तो उन्होंने कहा कि यह ठीक नही है। इसी प्रसंग मे मणिकण्ठनागराज-वत्थु सकुणेहि पत्तयाचनकथा, और रट्ठपालपितावत्थु का भी उल्लेख है। भगवान् ने इन घटनाओं को सुनकर नियम बनाया—

६. "संञ्आचिकाय पन भिक्खुना कुटिं कारयमानेन अस्सामिकं अत्तद्देसं पमाणिका कारेतब्बा । तत्रिद पमाणं—दीघसो द्वादस विदत्थियो सुगतविदत्थिया; तिरियं सत्तन्तरा । भिक्खू अभिनेतब्बा वत्थुदेसनाय, तेहि भिक्खूहि वत्थुं देसेतब्बं-अनारम्भ सपरिक्कमनं, सारम्भे चे भिक्खु वत्थुस्मिं अपरिक्कमणे सञ्आचिकाय कुटिं कारेय्य, भिक्खु वा अनभिनेय्य वत्थुदेसनाय, पमाणं वा अतिक्कामेय्य, सङ्घादिसेसा" ॥१०॥

६. स्वयं याचना करने वाले भिक्षु के द्वारा स्वयं के लिए स्वामि रहित (नवीन) कुटी बनवाते समय उसे प्रमाणयुक्त बनवाना चाहिए । प्रमाण यह है—तथागत के बित्ते से लम्बाई मे बारह बित्ता और चौडाई मे सात बित्ता । कुटिकारक भिक्षु के द्वारा कुटी का स्थान देखने के लिए भिक्षु संघ निमन्त्रित किया जाना चाहिए । उन भिक्षुओ के द्वारा ऐसा स्थान बताया जाना चाहिए जहाँ कुटी के निर्माण मे जीव हिसा न हो और जहाँ सामग्री का पहुँचना सहज हो । भिक्षु यदि याचना कर हिंसायुक्त और कठिन स्थान मे कुटी बनवाता है और कुटी के स्थान निर्णय के लिए भिक्षु सघ को आमन्त्रित नही करता अथवा प्रमाण के अनुसार कुटी नही बनवाता तो उसे सघादिशेष दोष लगता है ॥१०॥

७. सत्तमसंघादिसेसो—विहारमापने

एक समय भ० कौसाम्बी मे बिहार करते थे । उस समय छन्न के उपस्थापक गृहपति ने छन्न से कहा कि वह आपको बिहार बनवाना चाहता है । छन्न ने इसके लिए नगरवासियो द्वारा पूजित चैत्यवृक्ष कटवा दिया । जनपदवासियो ने इस दुष्कृत्य पर दुःख व्यक्त किया । तब भगवान् ने यह घटना जानकर नियम बनाया—

७. "महल्लक पन भिक्खुना विहार कारयमानेन सस्सामिक अत्तुद्देस भिक्खू अभिनेतब्बा वत्थुदेसनाय । तेहि भिक्खूहि वत्थु [1] देसेतब्ब अनारम्भ सपरिक्कमन । ससारम्भे चे भिक्खु वत्थुस्मिं अपरिक्कमने महल्लक विहारं कारेय्य भिक्खू वा अनभिनेय्य वत्थुदेसनाय, संघादिसेसो" ॥११॥

७. किसी भिक्षु द्वारा स्वामियुक्त (पुराना) बडे बिहार को बनवाते समय बिहार के विषय मे सम्मति पाने के लिए भिक्षु संघ निमन्त्रित किया जाना चाहिए । उन भिक्षुओ द्वारा ऐसा स्थान बताया जाना चाहिए जहाँ हिंसा न हो और जहाँ सामग्री का पहुँचना कठिन न हो । यदि भिक्षु ने हिंसायुक्त स्थान पर

1. वत्थु—सी. ।

कुटी का निर्माण और उसे देखने—सम्मति पाने के लिए भिक्षु संघ को निमन्त्रित नही किया तो उसे संघादिशेष दोष लगेगा ॥११॥

८. अट्ठमसङ्घादिसेसो—अमूलकाधिकरणो

एक समय भ० बुद्ध राजगृह मे बिहार करते थे। उस समय मल्लपुत्तीय दब्ब के मन मे यह विचार आया कि उसने सात वर्ष की अवस्था मे सब कुछ पा लिया। अब उसे कुछ भी करना शेष नही है। इसके बाद उसने भिक्षु संघ को भोजनदान, औषधिदान आदि देकर वैयावृत्ति करनी चाही। संघ ने उसे अनुमति दे दी। भिक्षु उसके पास आकर विविध वस्तुयें माँगने लगे। दब्ब शयन, आसन आदि बताकर वेलुवन म वापिस आ गया। मेत्तियभुम्मजक भिक्षुओ ने बाद मे दब्ब पर मैथुन धर्म का निर्मूल दोषारोपण किया। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

८. "यो पन भिक्खु भिक्खुं दुट्ठो दोसो अप्पतीतो अमूलकेन पाराजिकेन धम्मेन अनुद्धंसेय्य, अप्पेव नाम न इमम्हा ब्रह्मचरिया चावेय्यन्ति, ततो अपरेन समयेन समनुग्गाहियमानो वा असमनुग्गाहियमानो वा अमूलकञ्चेव त अधिकरणं होति, भिक्खु च दोसं पतिट्ठाति, सघादिसेसो" ॥१२॥

८. जो भिक्षु दुष्टचित्त से कुपित होकर निर्मूल पाराजिक दोषों को किसी भिक्षु पर आरोपित करे ताकि वह इस ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाये। फिर किसी के द्वारा पूछे जाने पर यह विवाद निर्मूल सिद्ध हो और दोषारोपण करने वाले भिक्षु का दोष सिद्ध हो तो सघादिशेष है ॥१२॥

९. नवम संघादिसेसो—अञ्ञभागियाधिकरणो

मेत्तिय भुम्मजक भिक्खुओ ने पूर्व विरोध का स्मरण कर मल्लपुत्त दब्ब पर यह आरोप लगाया कि उसने मेत्तिया भिक्षुणी के साथ मैथुन धर्म का सेवन किया है। भ० बुद्ध द्वारा पूछे जाने पर दब्ब ने कहा कि ऐसा मैंने कभी स्वप्न मे भी नही किया। भिक्षुओं ने भी उसके आचरण पर विश्वास व्यक्त किया। तब सभी भिक्षुओं ने मेत्तीय—भुम्मजक भिक्षुओं की निन्दा की। बुद्ध ने यह नियम बनाया।

९. "यो पन भिक्खु भिक्खु दुट्ठो, दोसो, अप्पतीतो अञ्ञभागियस्स अधिकरणस्स किञ्चि देस लेसमत्तं उपादाय पाराजिकेन धम्मेन अनुद्धंसेय्य "अप्पेव नाम नं इमम्हा ब्रह्मचरिया चावेय्यन्ति" ततो अपरेन समयेन समनुग्गाहियमानो वा अञ्ञभागियञ्चेव तं अधिकरणं होति कोचि देसो लेसमत्तो उपादिन्नो, भिक्खु च दोसं पतिट्ठाति, संघादिसेसो" ॥ १३ ॥

९. जो भिक्षु किसी भिक्षु को दुष्टचित्त से कुपित होकर किसी छोटे-से विवाद के कारण पाराजिक दोष लगाये जिससे कि वह ब्रह्मचर्य व्रत से पतित हो जाय। बाद मे किसी समय पूछे जाने पर और कहे जाने पर उस विवाद की वास्तविकता का ज्ञान हो जाय और दोषारोपण करने वाले भिक्षु का दोष सिद्ध हो जाय तो संघादिशेष है ॥१३॥

१०. दसम सङ्घादिसेसो—संघभेद

एक समय भ० बुद्ध राजगृह मे थे। उस समय देवदत्त ने कोकालिक, कटमो-दकतिस्सक और समुद्रदत्त से कहा कि हम लोग बुद्ध के संघ मे भेद पैदा करे। इसके लिए उनसे हम पाँच बातो की याचना करे—भिक्षु यावज्जीव आरण्यवासी हो, पिण्डपातिक हो, पासुकूलिक हो, वृक्षमूलिक हो और मत्स्य-मास के परित्यागी हो। बुद्ध ने इन पाँचों बातों को स्वेच्छा पर छोड दिया। देवदत्त ने इसकी आलोचना की। तब बुद्ध ने नियम बनाया—

१०. "यो पन भिक्खु समग्गस्स सघस्स भेदाय परक्कमेय्य, भेदसंवत्तनिकं वा अधिकरणं समादाय पग्गय्ह तिट्ठेय्य, सो भिक्खु भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—"मा आयस्मा समग्गस्स संघस्स भेदाय परक्कमि, भेदनसवत्तनिकं वा अधिकरण समादाय पग्गय्ह अट्ठासि। समेतायस्मा सघेन। समग्गो हि संघो सम्मोदमानो अविवदमानो एकुद्देसो फासु विहरती'ति। एव च। सोभिक्खु भिक्खूहि वुच्चमानो तथेव पग्गण्हेय्य, सो भिक्खु भिक्खूहि यावततियं समनुभासितब्बो तस्स पटिनिस्सग्गाय यावततियंचे। समनुभासियमानो तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसल, नो चे पटिनिस्सजेय्य, संघादिसेसो" ॥१४॥

जो भिक्षु समग्र सघ मे भेद डालने का प्रयत्न करे अथवा भेदक अधिकरण को लेकर दुराग्रह पूर्वक अपने मत पर स्थिर रहे। अन्य भिक्षु जब उसे कहे कि आयुस्मान्! आप सगठित भिक्षु संघ मे भेद डालने का उपक्रम न करे और न इस प्रकार दुराग्रह करें। क्योंकि आयुस्मान्! संघ से मेल करें। क्योंकि प्रसन्न रहने वाला, विवाद से दूर रहने वाला, एक निश्चित उद्देश्य रखने वाला संगठित संघ सुख पूर्वक विहार करता है। इस प्रकार भिक्षुओं के द्वारा समझाये जाने पर भी वह भिक्षु यदि उसी प्रकार दुराग्राही रहता है तो उसके उस दुराग्रह को दूर करने के लिए तीन बार तक कहे। यदि तीन बार तक कहने पर मान जाये तो ठीक, यदि न माने तो उसे संघादिशेष का दोष है ॥१४॥

११. एकादसम सङ्घादिसेसो—संघभेदकानुवत्तने

बुद्ध भगवान् जब राजगृह मे थे तब भिक्षुओं ने देवदत्त के विषय मे कहा कि देवदत्त अधर्मवादी और अविनयवादी है। वह संघभेद का प्रयत्न क्यों करता है। कोकालिक, कटमोदकतिस्सक और समुद्रदत्त ने भिक्षुओं के इस प्रकार के विचारों का खण्डन किया और कहा कि आयुस्मान् यह सही नहीं है। देवदत्त धम्मवादी और विनयवादी है। वह हम लोगों की रुचि और अभिप्राय को ही व्यक्त करता है। इस पर भिक्षुओ ने उनकी अनेक प्रकार से निन्दा की। भगवान् ने यह जानकर शिक्षापद दिया—

११. "तस्सेव खो पन भिक्खुस्स भिक्खू होन्ति अनुवत्तका वग्गवादका एको वा द्वे वा तयो वा। ते एवं वदेय्युं", मा आयस्मन्तो एतं भिक्खु किञ्चि अवचुत्थ। धम्मवादी चेसो भिक्खु, विनयवादी चेसो भिक्खु। अम्हाकं चेसो भिक्खु, छन्द च रुचिं च आदाय वोहरति, जानाति, नो भासति, अम्हाकं पेत खमती'ति। ते भिक्खू भिक्खूहि एवमस्स वचनीया—मा आयस्मन्ता एवं अवचुत्थ, न चेसो भिक्खु धम्मवादी, न चेसो भिक्खु विनयवादी, मायस्मन्तान पि। सघभेदो रुच्चित्थ समेतायस्मन्तान संघेन, समग्गो हि संघो सम्मोदमानो अविवदमानो एकुद्देसो फासु विरहती'ति। एवं चे ते भिक्खू भिक्खूहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्युं, ते भिक्खू भिक्खूहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासियमाना तं पटिनिस्सज्जेय्यु, इच्चेत कुसलं, नो चे पटिनिस्सज्जेय्यु, संघादिसेसो" ॥१५॥

उस (संघभेदी) भिक्षु के अनुयायी और वर्गवादी एक दो अथवा तीन हों। और वे यदि यह कहे—आयुस्मान्! इस भिक्षु को कुछ भी न कहें। यह भिक्षु धर्मवादी है, यह भिक्षु विनयवादी है। हम लोगों की रुचि और अभिप्राय को लेकर यह कह रहा है, हमारे मन की बात जानता है और कहता है। हमको भी यह अभिप्रेत है। तब दूसरे भिक्षु उन भिक्षुओ से इस प्रकार कहे—आयुष्मान! ऐस न कहे। यह भिक्षु न धर्मवादी है, न विनयवादी है। आप लोगो को भी सघभेद रुचिकर नही होना चाहिए। आयुष्मानों को संघ से मिलाप करना चाहिए। प्रसन्न रहने वाला, विवादहीन और एक उद्देश्य रखने वाला संगठित संघ सुख पूर्वक विहार करता है। यदि इस प्रकार भिक्षुओं के द्वारा कहे जाने पर भी वे संघभेदी भिक्षु उसी प्रकार दुराग्रही रहते हैं तो भिक्षु तीन बार तक उस भिक्षु को समझायें। यदि तीन बार तक समझाने पर अपना दुराग्रह छोड़ दें तो अच्छा है। यदि नहीं छोड़ें तो संघादिशेष है ॥१५॥

१२. बारसम संघादिसेसो—दुब्बचभूते

जब भ० बुद्ध कौशाम्बी मे बिहार करते थे तब आयुष्मान छन्न अनाचार कर रहे थे। भिक्षुओं ने जब उससे कहा कि ऐसा आचारण योग्य नहीं है तब छन्न ने कहा—आप लोग मुझसे ऐसा क्यों कहते है? मुझसे इस प्रकार कुछ भी न कहे। बुद्ध ने इस घटना पर शिक्षापद किया—

१२. भिक्खु पनेव दुब्बचजातिको होति, उद्देसपरियापन्नेसु सिक्खापदेसु भिक्खूहि सहधम्मिक वुच्चमानो अत्तानं अवचनीय करोति 'मा मं आयस्मन्तो किञ्चि अवचुत्थ कल्याण वा पापकं वा, अहं पायस्मन्ते न किञ्चि वक्खामि कल्याण वा पापकं वा, विरमथायस्मन्तो मम वचनाया ति। सो भिक्खु भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—"मा आयस्मा अत्तानं अवचनीय अकासि, वचनीयं चेव आयस्मा अत्तानं करोतु, आयस्मा, पि भिक्खु वदेतु सहधम्मेन, भिक्खू पि आयस्मन्त वक्खन्ति सहधम्मेन, एव सवद्धा[1] हि तस्स भगवतो परिसा यदिद अञ्ञमञ्ञवचनेन अञ्ञमञ्ञवट्ठापनेन ति। एवञ्च सो भिक्खुं भिक्खूहि वुच्चमानो तथेव पग्गण्हेय्य, सो भिक्खु भिक्खूहि यावततियं समनुभासितब्बो तस्स पटिनिस्सग्गाय. यावततिय चे समनुभासियमानो[2] त पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसल नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, सघ दिसेसो ॥१३॥

१२. यदि कोई भिक्षु दुर्वचनभाषी है। प्रातिमोक्ष के शिक्षापदो के सम्बन्ध मे भिक्षुओं के द्वारा "भगवान् ने ऐसा कहा है" इस प्रकार कहे जाने पर अवचनीय करता-कहता है—"आयुष्मान! आप लोग मुझसे कुछ भी न कहे, न कल्याणकारी न पापकारी। मैं भी आपको किसी भी प्रकार नही कहूँगा, न कल्याणकारी न पापकारी। आयुष्मान्! आप लोग मुझसे बात अब न करे। तो भिक्षुओं को उस भिक्षु से इस प्रकार कहना चाहिए—हे आयुष्मान्! अपने आपको अवचनीय न कहे। आयुष्मान्! अपने को वचनीय बनावें। आयुष्मान् भी भिक्षुओ को उचित बात कहे। भिक्षु भी आयुष्मान् को उचित बात कहे। भगवान् की यह परिषद् परस्पर कहने और उत्साह प्रदान करने से ही सम्बद्ध है। इस प्रकार भिक्षुओ के द्वारा वह भिक्षु कहे जाने पर भी यदि उसी प्रकार दुराग्रही बना रहे तो भिक्षु तीन बार तक उसके दुराग्रह को दूर करने का प्रयत्न करे। यदि तीन बार तक कहने पर वह दुराग्रह छोड़ दे तो ठीक है, यदि न छोडे तो संघादिशेष है ॥१३॥

---

1. संवद्धा—स्या०। 2. समनुभासीयमानो—ना०।

१३. तेरसमसंघादिसेसो—कुलदूषने

जब भ० श्रावस्ती में विहार करते थे, उस समय अस्सजिपुनब्बसुक आदि कुछ भिक्षु विविध अनाचार किया करते थे। अनेक उपासकों और भिक्षुओं ने भगवान् से यह कहा। तब भ० ने शिक्षापद दिया—

१३. "भिक्खु पनेव अञ्ञतरं गामं वा निगमं उपनिस्साय विहरति कुलदूसको पापसमाचारो। तस्स पापका समाचारा दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च, कुलानि च तेन दुट्ठानि दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च। सो भिक्खु भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—आयस्मा खो कुलदूसको पापसमाचारो, आयस्मतो खो पापका समाचारा दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च, कुलानि चायस्मता दुट्ठानि दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च। पक्कमतायस्मा इमम्हा आवासा अलं ते इधावासेना' ति। एवं चे सो भिक्खु भिक्खूहि वुच्चमानो ते भिक्खू एवं वदेय्य—"छन्दगामिनो च भिक्खू, दोसगामिनो च भिक्खू, मोहगामिनो च भिक्खू, भयगामिनो च भिक्खू, तादिसिकाय आपत्तिया एकच्चं पब्बाजेन्ति, एकच्चं न पब्बाजेन्ती'ति।" सो भिक्खु भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—"मा' आयस्मा एवं अवच न च भिक्खू छन्दगामिनो न च भिक्खू दोसगामिनो। न च भिक्खू मोहगामिनो न च भिक्खु भयगामिनो, आयस्मा खो कुलदूसको पापसमाचारो। आयस्मतो खो पापसमाचारो दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च। कुलानि चायस्मता दुट्ठानि दिस्सन्ति चेव सुय्यन्ति च पक्कमता' यस्मा इमम्हा आवासा अलं ते इधावासेना'ति। एवं च सो भिक्खु भिक्खूहि यावततियं समनुभासितब्बो तस्स पटिनिस्सग्गाय यावततियं चे समनुभासियमानो तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं; नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, संघादिसेसो" ॥१७॥

१३. यदि कोई भिक्षु ग्राम अथवा निगम में कुलदूषक अथवा दुराचारी होकर रहता है। और उसके दुराचार देखे भी जाते हैं और सुने भी जाते हैं। उसके द्वारा कुल (क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र) दूषित किये गये है, यह देखा भी जाता है और सुना भी जाता है। तो दूसरे भिक्षुओं को उस भिक्षु से यह कहना चाहिए—आयुष्मान् कुलदूषक और दुराचारी हैं। आयुष्मान् के दुराचार देखे भी जाते है और सुने भी जाते हैं। आयुष्मान् ने कुलों को दूषित किया है, यह देखा भी जाता है और सुना भी जाता है। इस आवास (स्थान) से आयुष्मान् चले जावें। आपका यहाँ रहना ठीक नही। भिक्षुओ द्वारा ऐसा कहे जाने पर यदि वह भिक्षु ऐसा कहे—भिक्षु छन्दगामी हैं, दोषगामी हैं, मोहगामी हैं, भय-गामी हैं। उसी प्रकार के अपराधों से किसी को हटाते हैं, किसी को नही हटाते हैं। तब उन भिक्षुओं को उस भिक्षु से यह कहना चाहिए—आयुष्मान्! ऐसा न

कहें। भिक्षु न छन्दगामी हैं, न मोहगामी हैं, न दोषगामी हैं, न भयगामी हैं। आयुष्मान् कुलदूषक और दुराचारी हैं। आयुष्मान् के दुराचार देखे भी जाते हैं और सुने भी जाते हैं। आयुष्मान् ने कुलो को दूषित किया है, यह देखा भी जाता है, सुना भी जाता है। (अत:) आयुष्मान् इस आवास से चले जावें। आपका यहाँ रहना व्यर्थ है। इस प्रकार कहे जाने पर भी यदि वह भिक्षु उसी प्रकार दुराग्रही बना रहे तो भिक्षुओ को उसके उस दुराग्रह को तीन बार कहकर हटाना चाहिए। यदि तीन बार तक कहने पर वह दुराग्रह छोड़ दे तो ठीक है, यदि न छोड़े तो संघादिशेष है ॥१७॥

उद्दिट्ठा खो आयस्मन्तो तेरस संघादिसेसा धम्मा। नव पठमापत्तिका, चत्तारो यावततियका, येसं भिक्खू अञ्ञतरं वा अञ्ञतरं वा आपज्जित्वा यावतिहं जानं पटिच्छादेति तावतिहं तेन भिक्खुना अकामा परिवत्थब्बं परिवुत्थपरिवासेन भिक्खुना उत्तरिं छारत्तं भिक्खुमानत्ताय पटिपज्जितब्बं। चिण्णमानत्तो भिक्खु यत्थ सिया वीसतिगणो भिक्खुसंघो, तत्थ सो भिक्खु अब्भेतब्बो, एकेनपि चे ऊनो वीसतिगणो भिक्खुसंघो तं भिक्खुं अब्भेय्य सो च भिक्खु अनब्भितो, ते च भिक्खू गारय्हा, अयं तत्थ सामीचि।

तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? दुतियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? ततियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? परिसुद्धेत्था यस्मन्तो, तस्मा तुण्ही एवमेतं धारयामी'ति।

संघादिसेसा निट्ठिता

आयुष्मानो! ये तेरह संघादिसेस कहे जाते हैं। नव प्रथम बार मे ही दोष समझे जाने वाले हैं और चार तीन बार तक दुहराने पर। इनमे से भिक्षु किसी एक दोष को करके जब तक जानकर प्रतिकार करता है तब तक उस भिक्षु को निष्काम होकर परिवास करना चाहिए। परिवास कर चुकने पर छ: रात वह भिक्षु मानत्व करे। मानत्व समाप्त होने पर वह भिक्षु जहाँ बीस भिक्षु हो वहाँ जावे। यदि भिक्षुओ की संख्या मे एक संख्या की भी कमी हो और यदि उन भिक्षुओ ने उसे निष्पाप अथवा निरपराधी घोषित कर दिया हो तो वह मुक्त नही समझा जाता। उस प्रकार से मुक्त करने वाले भिक्षु निन्दनीय हैं। यही वहाँ समीचीन है।

आयुष्मान् से पूछता हूँ—क्या आप लोग इनसे शुद्ध हैं? दूसरी बार भी पूछता हूँ—क्या आप लोग शुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या आप लोग शुद्ध है? चूँकि आयुष्मान् शुद्ध है? इसलिए चुप हैं, ऐसा मैं धारण करता हूँ (मानता हूँ)।

॥ संघादिसेस समाप्त ॥

३. अनियतकण्डं

इमे खो पनायस्मन्तो द्वे अनियता धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति—

आयुष्मानो ! ये दो अनियत धर्म कहे जाते हैं।

१. पठम अनियतो—पटिच्छन्ने एको एकाय निसज्जने

भ० बुद्ध जब श्रावस्ती में विहार कर रहे थे उस समय भिक्षु उदायी वहाँ उपासकों के कुलों में आना जाना अधिक करते थे। एक दिन उदायी एक उपासक के घर पहुँचा और पूछा—तुम्हारी पुत्री कहाँ गई ? उपासक ने कहा—उसका अमुक के साथ विवाह कर दिया। जिसके साथ उसका विवाह किया था वह भी परिचित था। वह उसके यहाँ गया और कुमारिका के साथ एकान्त स्थान में अलंकृत (मैथुन कर्म के योग्य) आसन पर बैठा। कभी प्रेम की बातें करता और कभी धर्मोपदेश करता। विशाखा (मिगार माता) ने उदायी के इस दुष्कृत्य को देख लिया। उसके रोकने पर भी उदायी नहीं माना। बत भगवान् ने इस घटना पर यह शिक्षा पद दिया।

१. "यो पन भिक्खु मातुगामेन सद्धिं एकाय रहो पटिच्छन्ने आसने अलंकम्मानये निसज्जं कप्पेय्य, तमेनं सद्धेय्यवचसा उपासिका दिस्वा तिण्णं धम्मानं अञ्ञतरेन वदेय्य—पाराजिकेन वा, निसज्जं भिक्खु पटिजान-मानो तिण्णं धम्मानं अञ्ञतरेन कारेतब्बो—पाराजिकेन वा संघादिसेसेन वा पाचित्तियेन वा, येन वा सा सद्धेय्यवचसा उपासिका वदेय्य, तेन सो भिक्खु कारेतब्बो। अयं धम्मो अनियतो"[१] ॥१८॥

१, जो भिक्षु किसी स्त्री के साथ ऐसे एकान्त स्थान में किवाड़ आदि बन्द कर अकेले मैथुन कर्म के योग्य आसन (अलंकृत) पर बैठे जहाँ श्रद्धालु उपासिका पाराजिक, सघादिशेष अथवा पाचित्तिय दोषों मे से किसी एक पर बात करे। भिक्षु के बैठने पर वह पाराजिक, संघादिशेष और पाचित्तिय इन तीनो दोषो में से जिसके प्रति भी श्रद्धालु उपासिका बोले, उसी दोष का दोषी वह भिक्षु होगा। यह अनियत धर्म है ॥१८॥

२. दुतिय अनियतो—एको एकाय निसज्जने

उदायी भिक्षु उसी कुमारिका के साथ अब अलंकृत (मैथुनकर्म के योग्य)

आसन को छोड़कर—एकान्त स्थान में प्रेमालाप करने लगे। विशाखा ने पुन: देख लिया। यह बात जब भिक्षुओं और भगवान् तक पहुँची तो भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

२. "न हेव खो पन पटिच्छन्नं आसनं होति नालं कम्मनियं, अलं च खो होति मातुगामं दुट्ठुल्लाहि वाचाहि ओभासितुं यो पन भिक्खु तथारूपे आसने मातुगामेन सद्धिं एको एकाय रहो निसज्जं कप्पेय्य, तमेनं सद्धेय्यवचसा उपासिका दिस्वा तिण्णं धम्मानं अञ्ञतरेन वदेय्य—संघादिसेसेन वा पाचित्तियेन वा निसज्जं भिक्खु पटिजानमानो द्विन्नं धम्मानं अञ्ञतरेन कारेतब्बो संघादिसेसेन वा पाचित्तियेन वा येन वा सा सद्धेय्यवचसा उपासिका वदेय्य तेन सो भिक्खु कारेतब्बो—अयं पि धम्मो अनियतो" ॥१६॥

२. भले ही आसन किवाड आदि के भीतर छिपा न हो और मैथुनकर्म के योग्य न हो, फिर भी जहाँ स्त्री के साथ मल-मूत्रादि के मार्गों पर अश्लील जनक वचन कहे जा सकते हो वहाँ यदि भिक्षु अलंकृत (मैथुन कर्म के योग्य) आसन पर बैठे और श्रद्धालु उपासिका सघादिशेष और पाचित्तिय में से किसी एक पर बात करे तो बैठना स्वीकार करने पर उस भिक्षु को संघादिशेष और पाचित्तिय में से जिस दोष का दोषी वह उपासिका बतलाये, भिक्षु उसी दोष का भागी होना चाहिए। यह भी—अनियत है ॥१६॥

३. उद्दिट्ठा खो पनायस्मन्तो द्वे अनियता धम्मा। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? दुतियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? ततियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी'ति।

अनियता निट्ठिता।

आयुस्मानो! दो अनियत धर्म कह दिये गये हैं। आयुस्मानो से पूछता हूँ क्या आप लोग इन दोषो से परिशुद्ध है? दूसरी बार भी यही पूछता हूँ। तीसरी बार भी यही पूछता हूँ। चूंकि आप लोग मौन हैं अत: मानता हूँ कि आप लोग परिशुद्ध हैं।

---

४. निस्सग्गियकण्डं

इमे खो पनायस्मन्तो तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति—

अयुष्मानो ! ये तीस अपराध निस्सग्गिय पाचित्तिय कहे जाते हैं।

१. कठिन चीवरवग्गो पठमो

१. पठमनिस्सग्गियं—अतिरेकचीवरधारणे

भगवान् ने तीन चीवर रखने का विधान किया है। यह सोचकर षड्वर्गीय भिक्षु एक चीवर से गाँव जाते, एक चीवर से नहाते और एक चीवर आराम में ओढते। अल्पेच्छिक भिक्षुओं ने इसकी निन्दा की। भ० ने इस पर नियम बनाया कि अतिरेक चीवर नही धारण करना चाहिए। एक बार आनन्द को अतिरेक चीवर मिला। वे वह चीवर सारिपुत्त को देना चाहते थे। पर सारिपुत्त चूंकि दस दिन बाद साकेत से वापिस आने वाले थे, बुद्ध ने दस दिन तक के लिए अतिरेक वस्त्र रखने का नियम बना दिया—

१. **"निट्ठितचीवरस्मिं पन भिक्खुना उब्भतस्मिं कठिने दसाहपरमं अतिरेकचीवरं धारेतब्बं तं अतिक्कामयतो निस्सग्गियं पाचित्तियं ॥२०॥**

१. चीवर के तैयार हो जाने पर कठिन चीवर के मिल जाने पर अधिक से अधिक दस दिन तक अतिरेक चीवर धारण किया जा सकता है। इस सीमा का अतिक्रमण करने पर निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२०॥

२. दुतियनिस्सग्गियं—तिचीवरविप्पवासे

एक समय भिक्षु दूसरे भिक्षुओं के हाथो मे चीवर देकर जनपद चारिका करते थे। और बहुत समय तक विना चीवर के रहते थे। यह बात आनन्द के माध्यम से बुद्ध तक पहुँचायी गयी। बुद्ध ने तब यह नियम बनाया कि रुग्णावस्था में इस नियम मे शिथिलता क्षम्य है—

२. **"निट्ठितचीवरस्मिं पन भिक्खुना उब्भतस्मिं कठिने एकरत्तं पि चे भिक्खु तिचीवरेन विप्पवसेय्य, अञ्ञत्र भिक्खुसम्मुतिया, निस्सग्गियं पाचित्तियं ॥२१॥"**

२. चीवर के तैयार हो जाने पर कठिन चीवर के मिलने पर भिक्षुओं की सम्मति के बिना यदि भिक्षु एक रात्रि के लिए भी तीनों चीवरों से विरहित (विप्रवसित) रहे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२१॥

३. ततियनिस्सग्गियं—अकालुप्पन्नचीवरनिक्खिपने

एक समय किसी भिक्षु के लिए अकाल चीवर मिला। उसे वह बनवा नहीं सका। आशक्त होने के कारण उस कपड़े को लेकर वह भिक्षु घूमता था। भगवान् ने उसे देखा और कहा कि चीवर प्रत्याशा रख छोड़ देनी चाहिए। उसके बाद ऐसे अकाल चीवर भाण्डो मे अतिरेक मास के लिए रख दिये जाते थे। भ० ने इसकी निन्दा की और कहा—

३. "निट्ठितचीवरस्मिं पन भिक्खुना उब्भतस्मिं कठिने भिक्खुनो पनेव अकालचीवरं उप्पज्जेय्य, आकंखमानेन भिक्खुना पटिग्गहेतब्बं पटिग्गहेत्वा खिप्पमेव कारेतब्बं नो चस्स पारिपूरि, मासपरमं तेन भिक्खुना तं चीवरं निक्खिपितब्बं ऊनस्स पारिपूरिया सतिया पच्चासाय ततो चे उत्तरिं निक्खिपेय्य, सतियापि पच्चासाय, निस्सग्गियं पाचित्तियं ॥२२॥"[१]

३. चीवर के तैयार हो जाने पर कठिन चीवर के मिल जाने पर यदि भिक्षु को अकाल चीवर (असमय मे चीवर के लिए प्राप्त कपडा) मिल जाय तो आकाक्षा होने पर भिक्षु उसे ग्रहण कर सकते है। ग्रहण कर शीघ्र ही (दस दिन के भीतर) उसका चीवर सिलवा लेना चाहिए। यदि इस अवधि मे उसे सिलवाया नही जा सका तो प्रत्याशा होने पर कमी (न्यूनता) की पूर्ति के लिए एक माह तक भिक्षु उसे रख सकता है। प्रत्याशा होने पर इतने समय से अधिक यदि रखे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२२॥

४. चतुत्थनिस्सग्गियं—पुराणचीवरधोवापने

एक समय श्रावस्ती मे उदायी भिक्षु के पास एक भिक्षुणी आती थी और उदायी उस भिक्षुणी के पास बार-बार आते-जाते थे। एक समय उदायी उस भिक्षुणी के सामने अपने गुह्यांग खोलकर बैठ गये। वह भिक्षुणी भी अपने गुह्यांगों का प्रदर्शन कर आसन पर बैठ गई। उदायी भिक्षु उस भिक्षुणी के गुह्यांगों का ध्यान कामवासना पूर्वक करने लगे। फलत: संसर्ग करने पर उसका वीर्य-मोचन हो गया। भिक्षुणी ने उदायी का अन्तर्वासिक चीवर धोया। भिक्षुणी गर्भिणी हो गई। सभी ने उसकी निन्दा की कि अज्ञातिका भिक्षुणी से उदायी ने अपना चीवर धुलवाया। तब भ० ने यह शिक्षापद निर्दिष्ट किया—

४. "यो पन भिक्खु अञ्ञातिकाय[3] भिक्खुनिया पुराणचीवरं धोवापेय्य वा रजापेय्य वा आकोटापेय्य वा, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥२३॥

४. जो भिक्षु अज्ञातिका भिक्षुणी से अपना पुराना (पुराण) चीवर धुलवाये, रंगवाये अथवा पिटवाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२३॥

५. पञ्चमनिस्सग्गियं—अञ्ञातिकाचीवरपटिग्गहणे

एक समय उप्पलवण्णना भिक्षुणी श्रावस्ती से भिक्षा ग्रहण कर, भोजनकर अन्धवन मे जाकर वृक्षमूल मे दिवा-विहार करने के लिए बैठ गई। वहाँ चोर गाय को मारकर मांस लेकर अन्धवन मे आया और कोई भिक्षुणी को परेशान न करे, यह सोचकर दूसरे मार्ग से चला गया। उस चोर ने समीप ही मांस को पर्णपुट मे बाधकर वृक्ष पर टाग दिया। टागते समय उसने यह कह दिया कि श्रमण-ब्राह्मण इसको ग्रहण कर ले। उप्पलवण्णना उस मास को ले आयी और उदायी से कहा कि वह यह मास भगवान् बुद्ध को दे दे। उदायी ने उस भिक्षुणी से स्वयं के लिये अन्तर्वासक मागा। भिक्षुणी ने उसे दे दिया। इस घटना को सुनकर बुद्ध ने नियय बताया—

५. "या पन भिक्खु अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया हत्थतो चीवरं पटिगण्हेय्य, अञ्ञत्र पारिवट्टका, निस्सग्गिय पाचित्तियं" ॥२४॥

५. जो भिक्षु बदलने (परिवर्तन) के अतिरिक्त अज्ञातिक भिक्षुणी के हाथ से भी चीवर ग्रहण करे तो निसग्गिय पाचित्तिय है ॥२४॥

६. छट्ठनिस्सग्गियं—अञ्ञातकं चीवरविञ्ञापने

श्रावस्ती मे आयुष्मान् शाक्यपुत्त उपनन्द के पास कोई श्रेष्ठी आया और उसने कहा कि आप बताइये कि चीवर आदि मे से आपको मै क्या दे सकता हूँ? भिक्षु ने एक शाटक मागा। श्रेष्ठी ने घर से एक शाटक भेजा। भिक्षुओं ने यह कहकर निन्दा की कि उपनन्द महेच्छुक है। भ० ने कहा—

६. "यो पन भिक्खु अञ्ञातक गहपतिं वा गहपतानिं वा चीवर विञ्ञापेय्य, अञ्ञत्र समया निस्सग्गिय्य पाचित्तियं। तत्थायं समयो—अच्छिन्न—चीवरो वा होति भिक्खु नट्ठचीवरो वा अयं तत्थ समयो" ॥२५॥

६. जो भिक्षु अज्ञातक गृहपति अथवा गृहपत्नी से विशिष्ट परिस्थिति को छोड़कर चीवर मंगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है। विशिष्ट परिस्थित्ति यह है कि चीवर फट गया हो अथवा नष्ट हो गया है ॥२५॥

७. सत्तमनिस्सग्गियं—बहुचीवरविञ्ञापने

एक बार श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुओ ने चीवर फटने पर अज्ञात गृहपतियों अथवा गृहपत्नियों से चीवर मांगे । फलत: उनके पास अनेक चीवर इकट्ठे हो गये लोगों को ऐसा लगा जैसे ये भिक्षु चीवर का व्यापार करते हों । भ.ने यह घटना सुनी तो उन्होंने कहा कि मात्रा-आवश्यकता को जानकर ही चीवर ग्रहण करना चाहिए और शिक्षापद दिया—

७. "तं चे अञ्ञातको गहपति वा गहपतानी वा बहूहि चीवरेहि अभिहट्ठु पवारेय्य सन्तरुत्तरपरमं तेन भिक्खुना ततो चीवरं सादितब्बं ततो चे उत्तरि सादियेय्य[1] निस्सग्गियं पाचित्तियं" ।।२६।।[४]

७. उस भिक्षु को यदि अज्ञात गृहपति अथवा गृहपत्नी यथेच्छ चीवर प्रदान करे तो उन चीवरो मे से वह आवश्यकता से एक कम चीवर ग्रहण करे । यदि उससे अधिक ले तो निस्सग्गिय—पाचित्तिय है ।।२६।।

८. अट्ठमनिस्सग्गियं—अप्पवारितचीवरविकप्पापज्जने

श्रावस्ती मे कोई उपासक उपनन्द को चीवर भेंट करने आया । उपनन्द ने उसे ग्रहण कर लिया । बाद मे रोके जाने पर भी वह गृहपति के पास चीवर बदलने के लिए गया । भिक्षुओ ने उसकी निन्दा की और बुद्ध ने यह शिक्षापद दिया—

८. "भिक्खुं पनेव उद्दिस्स अञ्ञातकस्स गहपतिस्स वा गहपतानिया वा चीवरचेतापन्नं[2] उपक्खटं होति—इमिना चीवरचेतापन्नेन चीवरं चेतापेत्वा इत्थन्नामं भिक्खुं चीवरेन अच्छादेस्सामी' ति, तत्र चे सो भिक्खु पुब्बे अप्पवारितो उपसङ्कमित्वा चीवरे विकप्पं आपज्जेय्य—साधु वत मं आयस्मा इमिना चीवरचेतापन्नेन एवरूपं वा चीवरं चेतापेत्वा अच्छादेही' ति कल्याणकम्यतं उपादाय, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ।।२७।।[५]

८. उस भिक्षु के निमित्त ही अज्ञातक गृहपति अथवा गृहपत्नियों ने चीवर के लिए स्वर्ण आदि धन एकत्रित कर लिया हो—"चीवर के लिए एकत्रित इस धन से चीवर तैयार कर हम इस नाम के भिक्षु को चीवर भेंट करेंगे । वहाँ यदि वह भिक्षु चीवर प्रदान किये जाने के पूर्व ही उस गृहस्थ के पास जाकर अच्छे चीवर पाने की आशा से चीवर मे परिवर्तन कराये—बहुत अच्छा हो

---

1. उत्तरिं सादियेय्य—सी, स्या; रो.
2. चीवरचेतापन—स्या; रो. ।

आयुष्मान् ! यदि मुझे चीवर के लिए एकत्रित इस धन से ऐसा-ऐसा चीवर बनवाकर भेंट करें तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है। ॥२७॥

९. नवमनिस्सग्गियं—अप्पवारितचीवरविकप्पापज्जने

लगभग उक्त प्रकार की ही उपनन्द से सम्बद्ध घटना के आधार पर निम्नोक्त शिक्षापद का निर्माण हुआ—

९. "भिक्खुं पनेव उद्दिस्स उभिन्नं अञ्ञातकानं गहपतीनं वा गहपतानीनं वा पच्चेकचीवरचेतापन्ना[1] उपक्खटा होन्ति—इमेहि मयं पच्चेकचीवरचेतापन्नेहि पच्चेकचीवरानि चेतापेत्वा इत्थन्नामं भिक्खुं चीवरेहि अच्छादेस्सामी' ति तत्र चे सो भिक्खु पुब्बे अप्पवारितो उपसङ्कमित्वा चीवरे विकप्प आपज्जेय्य—साधु वत मं आयस्मन्तो इमेहि पच्चेकचीवरचेतापन्नेहि एवरूप वा एवरूपं वा चीवर चेतापेत्वा अच्छादेथ उभो व सन्ता एकेना' ति कल्याणकम्यत उपादाय, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥२८॥

९. उसी भिक्षु के लिए यदि दो अज्ञातक गृहपति अथवा गृहपत्नियों ने एक-एक चीवर बनवाने के लिए धन का सग्रह किया हो—चीवर के लिए एकत्रित इस धन से हम एक-एक चीवर देंगे। तब यदि भिक्षु उस चीवर के प्रदान करने के पूर्व चीवर के प्रकार मे परिवर्तन कराये—इस प्रत्येक चीवर के धन से इस-इस प्रकार का चीवर बनाकर प्रदान करें तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२८॥

१०. दशमनिस्सग्गियं—वेय्यावच्चकरस्स चीवरचेतापनदाने

उपनन्द के ही शिथिलाचरण के कारण यह नियम बनाया गया—

१०. "भिक्खुं पनेव निस्साय राजा वा राजभोग्गो वा ब्राह्मणो वा गहपतिको वा दूतेन चीवरचेतापन्नं पहिणेय्य—इमिना चीवरचेतापन्नेन चीवरं चेतापेत्वा इत्थन्नामं भिक्खुं चीवरेन अच्छादेही' ति। सो चे दूतो तं भिक्खुं उपसङ्कमित्वा एवं वदेय्य—"इदं खो, भन्ते !, आयस्मन्तं उद्दिस्स चीवरचेतापन्न आभत, पटिग्गण्हातु आयस्मा चीवरचेतापन्नं ति"। तेन भिक्खुना सो दूतो एवमस्स वचनीयो—"न खो मय आवुसो ! चीवरचेतापन्न पटिग्गण्हाम चीवर च खो मयं पटिग्गण्हाम, कालेन कप्पियति"। सो चे दूतो त भिक्खुं एवं वदेय्य—"अत्थि पनायस्मतो कोचि वेय्यावच्चकरो' ति। चीवरत्थिकेन, भिक्खवे ! भिक्खुना वेय्यावच्चकरो निद्दिसितब्बो आरामिको वा

---

1. चीवरचेतापनं—स्या; रो०।

उपासिको वा--"एसो खो, आवुसो, भिक्खूनं वेय्यावच्चकरो' ति। सो चे दूतो तं वेय्यावच्चकरं दूतं सञ्ञापेत्वा तं भिक्खुं उपसङ्कमित्वा एवं वदेय्य— यं खो भन्ते आयस्मा वेय्यावच्चकरं निद्दिसि, सञ्ञत्तो सो मया, उपसङ्कमतु आयस्मा कालेन, चीवरेन त अच्छादेस्सती'ति। चीवरत्थिकेन, भिक्खवे, भिक्खुना, वेय्यावच्चकरो उपसङ्कमित्वा द्विचिक्खत्तुं[1] चोदेतब्बो सारेतब्बो-अत्थो मे आवुसो चीवरेना'ति। द्विचिक्खत्तुं' चोदयमानो सारयमानो तं चीवरं अभिनिप्फादेय्य, इच्चेतं कुसलं, नो चे अभिनिप्फादेय्य, चतुक्खत्तुं पञ्चक्खत्तुं छक्खत्तुपरमं तुण्हीभूतेन[2] उद्दिस्स ठातब्ब। चतुक्खत्तुं पञ्चक्खत्तुं छक्खत्तुपरमं तुण्हीभूतो उद्दिस्स तिट्ठमानो तं चीवर अभिनिप्फादेय्य, इच्चेतं कुसलं। नो चे अभिनिप्फादेय्य, ततो चे उत्तरिं वायममानो तं चीवरं अभिनिप्फादेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं। नो चे अभिनिप्फादेय्य, यतस्स चीवरचेतापन्नं आभतं तत्थ सामं वा गन्तब्बं, दूतो वा पाहेतब्बो—"यं खो तुम्हे आयस्मन्तो भिक्खुं उद्दिस्स चीवरचेतापन्नं पहिणित्थ, न तं तस्स भिक्खुनो किञ्चि अत्थं अनुभोति, युञ्जतायस्मन्तो सकं मा वो सकं विनस्सा'ति।" अयं तत्थ सामीचि" ॥२६॥

१०. उसी भिक्षु को यदि लक्ष्यकर राजा, राज्याधिकारी, ब्राह्मण, अथवा गृहस्थ दूत के हाथ चीवर के लिए एकत्रित धन भेजें यह कह कर कि इस चीवर के धन से चीवर खरीदकर अमुक नाम के भिक्षु को दे दो और यदि वह दूत उस भिक्षु के पास पहुँच कर ऐसा कहे-हे भन्ते! आयुष्मान् के लिए यह चीवर-धन आया है। आयुष्मान् इसे ग्रहण करें तो वह भिक्षु उस दूत से यह कहे-आवुस! हम चीवर धन को ग्रहण नही करते। समयानुसार कल्पित चीवर को ही हम ग्रहण करते हैं। यदि वह दूत उस भिक्षु से इस इस प्रकार कहे-क्या आयुष्मान् का कोई वैयावृत्ति (सेवा-सुश्रूषा) करने वाला सेवक है ? तो भिक्षुओ! वह भिक्षु विहार (आराम) मे किसी काम करने वाले को अथवा उपासक को कह दे कि आवुस! भिक्षुओ का सेवक यह है। यदि वह दूत उस सेवक को समझाकर उस भिक्षु के पास आकर यह कहे कि भन्ते! जिस वैयावृत्तिकारक को आपने बताया उसे मैंने समझा दिया। आयुष्मान् समय पर जायें। वह आपको चीवर दे देगा। भिक्षुओं! चीवर के इच्छुक भिक्षु को वैयावृत्तिकारी उस सेवक के पास दो तीन बार जाकर उसे प्रेरित करना

1. द्विक्खत्तुं—स्या०; रोम०।
2. तुण्हिभूतेन—रो०।

चाहिए और कहना चाहिए कि मुझे चीवर की आवश्यकता है। दो तीन बार प्रेरित करने पर स्मरण करने पर यदि वह उस चीवर को दे, देता है तो ठीक है यदि न दे तो चार, पांच, छह बार चुपचाप खड़े रहने पर यदि वह चीवर दे दे तो ठीक है। उससे अधिक बार कहकर यदि चीवर को प्राप्त करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है। यदि चीवर न दे तो चीवर धन जहां से आया है वहां स्वयं जाकर अथवा दूत भेजकर यह कह देना चाहिए कि आप आयुष्मानों ने भिक्षु के लिए जो चीवरधन भेजा था वह उस भिक्षु के कुछ भी काम नहीं आया। आयुष्मानो ! अपने धन को देखो। तुम्हारा धन नष्ट न हो जाय। यह वहां पर उचित कर्तव्य है ॥२६॥

२. कोसियवग्गो दुतियो

११. एकादसमनिस्सग्गियं—कोसियमिस्सकसन्थतधारणे

षड्वर्गीय भिक्षु कौषेय (कीड़े विशेष के अण्डे से उत्पन्न होने वाले सूत से बना) वस्त्र से मिश्रित आसन की कामना करने लगे। अल्पेच्छुक भिक्षुओं ने इसकी निन्दा की और कहा कि इसमे बहुत से छोटे-छोटे जीवों का घात होता है। भगवान् ने यह घटना जानकर नियम बनाया—

११. "यो पन भिक्खु कोसियमिस्सकं सन्थतं कारोपेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३०॥

११. जो भिक्षु कौसेय मिश्रित आसन बनवाये उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३०॥

१२. बारसमनिस्सग्गियं—सुद्धकाळकसन्थतधारणे

षड्वर्गीय भिक्षु शुद्ध (स्वाभाविक) काले भेड़ के लोम (ऊन) का आसन बनवाते थे। लोगो ने इसकी निन्दा की। भगवान् ने नियम बनाया—

१२. 'यो पन भिक्खु सुद्धकाळकानं एळकलोमान सन्थतं कारापेय्य, निस्सग्गिय पाचित्तियं" ॥३१॥

१२. जो भिक्षु शुद्ध (स्वाभाविक) काले भेड़ के लोम (ऊन) का आसन बनवाये उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३०॥

१३. तेरसमनिस्सग्गियं—सुद्धकाळकसन्थतधारणे

षड्वर्गीय भिक्षुओ के दुराचरण से सम्बद्ध घटना पर आधारित यह भी नियम है—

१३. "नवं पन भिक्खुना सन्थतं कारयमानेन द्वे भागा सुद्धकाळकानं

एळकलोमानं आदातब्बा, ततियं ओदातकं चतुत्थं गोचरियानं। अनादा चे भिक्खु द्वे भागे सुद्धकाळकानं एळकलोमानं ततियं ओदातानं, चतुत्थं गोचरियानं नवं सन्थतं कारापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥१२॥

१३. नवीन आसन बनवाते समय भिक्षु को भेड़ के ऊन (लोम) में से दो भाग शुद्ध काला, तीसरा भाग सफेद, और चौथा भाग कपिल वर्ण का ग्रहण करना चाहिए। यदि भिक्षु दो भाग शुद्ध काला, तीसरा भाग सफेद, और चौथा भाग कपिल वर्ण को ग्रहण न कर आसन बनवाये तो उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३२॥

१४. चतुद्दसमनिस्सग्गियं—नवसन्थतकारापने

कुछ भिक्षु प्रतिवर्ष आसन बनवाते थे। यह देखकर अन्य भिक्षुओ और उपासकों को बड़ी खीझ पैदा हुई। तब भगवान् ने यह शिक्षापद बनाया—

१४. "नवं पन भिक्खुना सन्थतं कारापेत्वा छब्बस्सानि धारेतब्बं। ओरेन चे भिक्खु छन्नं वस्सानं तं सन्थतं विस्सज्जेत्वा वा अविस्सज्जेत्वा वा अञ्ञं नवं सन्थतं कारापेय्य अञ्ञत्र भिक्खुसम्मुतिया, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३३॥

१४. नया आसन बनवाकर भिक्षु को छः वर्ष तक उसे धारण करना चाहिए। यदि छः वर्ष की समाप्ति के पूर्व ही उस आसन को छोड़े अथवा बिना छोड़े ही दूसरा नया आसन भिक्षुओं की सम्मति के बिना बनवाये तो निस्सग्गिय पचित्तिय है ॥३३॥

१५. पन्नरसनिस्सग्गियं—निसीदनसन्थतकारापने

भगवान् श्रावस्ती मे जब थे तो उन्होने कहा कि कोई मेरे पास अभी न आये। पर उपसेन भिक्षु भ० के पास पहुँच गया। भ० ने उससे कुशल प्रश्न पूछे। उसके बाद पांसुकूलिक के विषय मे पूछा। और कहा कि तुम भिक्षुओ को कैसे उपसम्पदा देते हो? उपसेन ने कहा कि जो मेरे पास उपसम्पदा के लिए आता है उसे मैं उपसम्पदा तभी देता हूँ जब वह मेरे समान आदञ्ञिक, पिण्डपातिक और पांसुकूलिक होना स्वीकार करता है। भ० ने इसका समर्थन किया। और कहा यह तो ठीक है पर क्या तुम्हे यह नही ज्ञात है कि श्रावस्ती के भिक्षु संघ का क्या नियम है? उपसेन ने कहा—नही, वह उससे अनभिज्ञ है। इसके बाद वे सभी भिक्षु बुद्ध के दर्शन करने चल पड़े और आसन वहीं छोड़ दिये। भ० ने यह देखकर नियम बनाया—

१५. "निसीदनसन्थतं पन भिक्खुना कारयमानेन पुराण-सन्थतस्स, सामन्ता

सुगतविदत्थिं आदातब्बा दुब्बण्णकरणाय । अनादा चे भिक्खु पुराणसन्थतस्स सामन्ता सुगतविदत्थिं नवं निसीदनसन्थतं कारापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३४॥

१५. भिक्षु को बिछाने का आसन बनवाते समय पुराने आसन के किनारे से बुद्ध के बेतिया भर दुर्वर्ण करने के लिए उसे ग्रहण करना चाहिए। यदि भिक्षु पुराने आसन के छोर से बुद्ध के बेतिया भर बिना लिये नया आसन बनवाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३४॥

१६. सोळसमनिस्सग्गियं–एळकलोमहरणे

श्रावस्ती को जाते समय तीन योजन से भी दूर पर कुछ भिक्षुओं को भेड़ का ऊन (लोम) मिला। भिक्षु उसे अपने चीवर में बांध ले आये। अन्य भिक्षुओं और मनुष्यों ने इस कृत्य की निन्दा की तब भ० ने यह शिक्षापद दिया —

१६. "भिक्खुनो पनेव अद्धानमग्गपटिपन्नस्स एळकलोमानि उप्पज्जेय्युं, आकंखमानेन भिक्खुना पटिग्गहेतब्बानि, पटिग्गहेत्वा तियोजनपरमं सहत्था हरितब्बानि असन्ते हारके, ततो चे उत्तरिं हरेय्य असन्तेपि हारके, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३५॥

१६. यदि भिक्षु को मार्ग में जाते समय भेड़ का ऊन (लोम) प्राप्त हो तो इच्छा होने पर भिक्षु ले सकता है, किन्तु लेकर ले चलने वाला (हारक) न मिलने पर तीन योजन तक ही स्वयं ले जा सकता है। ले चलनेवाले के न होने पर भी यदि उससे आगे ले जाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३५॥

१७. सत्तरसमनिस्सग्गियं–एळकलोमधोवापने

कपिलवस्तु मे षड्वर्गीय भिक्षु भेड़ के रोमों को अज्ञातिका भिक्षुणियों से धुलवाते थे, रंगवाते थे और सिलवाते भी थे। अधिशील, अधिचित्त और अधि-प्रज्ञा से भी वे भिक्षुणियां दूषित रहती थी। भ० ने गौतमी से यह जानकारी प्राप्त की। इसके बाद नियम बनाया—

१७. "यो पन भिक्खु अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया एळकलोमानि धोवापेय्य वा रजापेय्य वा विजटापेय्य वा, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३६॥

१७. जो भिक्षु अज्ञातिका भिक्षुणी से भेड़ के ऊन को धुलवाये, रँगवाये या सुलझवाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३६॥

१८. अट्ठारसमनिस्सग्गियं—जातरूपरजतग्गहणे

राजगृह में उपनन्द जिस एक कुल से भिक्षा लेता था उसमें एक दिन मांस बना। उसका कुछ भाग उपनन्द भिक्षु के लिए रख दिया गया। परन्तु उस गृहस्थ के एक शिशु ने हठात् वह मांस खा लिया। उपनन्द के आने पर उसे मांस नहीं मिला। तब उपनन्दने उस गृहस्थ से कार्षापण ग्रहण किया। भिक्षुओं, उपासकों और भ० ने उसकी निन्दा की। भ० ने यह शिक्षापद दिया

१८. "यो पन भिक्खु जातरूपरजतं उग्गण्हेय्य वा उग्गण्हापेय्य वा उपनिक्खित्तं वा सादियेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३७॥

१८. जो भिक्षु सोना-चाँदी को ग्रहण करे या ग्रहण करवाये या संचित धन को स्वीकार करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३७॥

१९. ऊनवीसतिमनिस्सग्गियं—रूपियसंवोहारसमापज्जने

षड्वर्गीय भिक्षु श्रावस्ती मे विभिन्न प्रकार से रुपयों का व्यवहार करते थे। इस पर सभी अप्रसन्न हुए तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

१९. "यो पन भिक्खु नानप्पकारकं रूपियसंवोहारं समापज्जेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३८॥

१९. जो भिक्षु नाना प्रकार के रुपयों (कार्षापणो) का व्यवहार करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥ ३८ ॥

२०. वीसतिमनिस्सग्गियं—कयविक्कये

श्रावस्ती मे उपनन्द भिक्षु अन्य भिक्षुओं से क्रय—विक्रय करता था। वस्त्र लेकर संघाटी देता था। इस पर भिक्षु और भ० ने निन्दा की। भ० ने यह नियम बनाया—

२०. "यो पन भिक्खु नानप्पकारकं कयविक्कयं समापज्जेय, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥३९॥

जो भिक्षु नाना प्रकार के चीवर, पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्यय, भैषज्य आदि का क्रय-विक्रय करता है उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३९॥

३. पत्तवग्गो ततियो

२१, एकवीसतिमनिस्सग्गियं—अनिसेक पत्तधारणे

षड्वर्गीय भिक्षु बहुत पात्रो को एकट्ठा करते थे। भगवान् ने नियम बनाया कि

अतिरिक्त पात्र नहीं रखना चाहिए। एक बार आनन्द को अतिरेक पात्र मिला जिसे वे सारिपुत्त को देना चाहते थे। पर सारिपुत्र दस दिन बाद साकेत से श्रावस्ती वापिस आने वाले थे। तब भगवान् ने नियम बनाया—

२१. "दसाहपरमं अतिरेकपत्तो धारेतब्बो, तं अतिक्कामयतो निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥४०॥

२१. दस दिन से अधिक लोहे अथवा मिट्टी के अतिरिक्त पात्र को नहीं रखना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से निस्सग्गिय पाचित्तिय दोष होता है ॥४०॥

२२. बावीसतिमनिस्सग्गियं—ऊनपञ्चबन्धनपत्तधारणे

कपिलवस्तु में एक कुम्भकार ने कहा कि जिन भिक्षुओं को पात्रों की आवश्यकता हो वह देने को तैयार है। इस पर भिक्षुओं ने अपनी मात्रा को बिना जाने पात्र लेना आरम्भ कर दिया। उसी समय एक भिक्षु का वर्तन फूट गया। वह हाथों में भिक्षा ग्रहण करने लगा। भगवान् ने ऐसा करने से रोका। उस भिक्षु ने पात्र ले लिया। षड्वर्गीय भिक्षओ ने थोड़े से फूटे पात्र भी बदल लिये। कुम्भकार इस वृत्ति से बहुत दुःखित हो गया। तब भ० ने नियम बनाया—

२१. "यो पन भिक्खु ऊनपञ्चबन्धनेन पत्तेन अञ्ञं नवं पत्तं चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं। तेन भिक्खुना सो पत्तो भिक्खुपरिसाय निस्सज्जितब्बो, यो च तस्स भिक्खुपरिसाय पत्तपरियन्तो सो तस्स भिक्खुनो पदातब्बो— "अयं ते भिक्खु पत्तो, याव भेदनाय धारेतब्बो'ति अयं तत्थ सामीचि" ॥४१॥

२२. जो भिक्षु पांच से कम छेदवाले पात्र से दूसरे नये पात्र का परिवर्तन करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है। उस भिक्षु को वह पात्र भिक्षु-परिषद् को दे देना चाहिये और जो पात्र भिक्षु परिषद् का अन्तिम पात्र है उसे उस भिक्षु को यह कहकर देना चाहिये—'भिक्षु! यह तुम्हारे लिए पात्र है। जब तक न टूटे तब तक इसे धारण करना"। यह यहां उचित है ॥४१॥

२३. तेवीसतिमनिस्सग्गियं—भेसज्जसन्निधिकरणे

पिलिन्दवच्छ राजगृही पर्वत पर एक लेण बनाना चाहते थे। बिम्बिसार ने पिलिन्दवच्छ की इच्छा पूरी करनी चाहिए। तथागत ने इसकी आज्ञा भी दे दी। बिम्बिसार ने पाँच सौ आरामिक बनवा दिये। एक दिन पिलिन्दवच्छ किसी आराम में गये जहां उन्हें एक लड़की रोती हुई दिखी। उसे उन्होंने एक

स्वर्णमाला पहना दी। वह स्वर्ण माला चोरी से आहृत की गई होगी। यह सोचकर वह कुल पकड़ लिया गया। पिलिन्दवच्छ ने जाकर राजा से कहा कि वह माला चोरी की नहीं। आपका सारा प्रासाद स्वर्ण का है। उसी प्रासाद का यह स्वर्ण है। पिलिन्दवच्छ ने अपनी ऋद्धि के प्रताप से प्रासाद को स्वर्णयुक्त बना दिया। प्रसन्न होकर मनुष्यों ने उसे पाँच औषधियां दी—सर्पि (घी), नवनीत, तेल मधु और फाणित (खाँड)। उसने उन औषधियों का संग्रह किया। फलत: उन्दूर उस विहार में आ गये। भिक्षुओं ने उसकी निन्दा की। तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

२३. "यानि खो पन तानि गिलानानं भिक्खूनं पटिसायनीयानि भेसज्जानि, सेय्यथिदं—सप्पि नवनीतं तेलं, मधुं, फाणित, तानि पटिग्गहेत्वा सत्ताह-परमं सन्निधिकारकं परिभुञ्जितब्बानि। तं अतिक्कामयतो निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥४३॥

२३. जो रोगी भिक्षुओं के लिए चाटकर खाने योग्य भैषज्य हैं, जैसे कि घी, मक्खन, तेल, मधु, और खाड, उन्हें ग्रहणकर एक सप्ताह तक रखकर खाना चाहिए, उसका अतिक्रमण करने पर निस्सग्गिय पाचित्तिय होता है ॥४३॥

२४. चतुवीसतिमनिस्सग्गियं–वस्सिकसाटिक चीवर परियेसने

षड्वर्गीय भिक्षु वार्षिकशाटिका प्राप्ति की अनुमति पाकर ही उसकी खोज मे लग गये और प्राप्त होने पर पहिनने लगे। भगवान् ने इस घटना पर नियम बनाया।

२४. " 'मासो सेसो गिम्हानं' ति भिक्खुना वस्सिकसाटिकचीवरं परियेसितब्बं; अद्धमासो[1] सेसो गिम्हानं' ति कत्वा निवासेतब्बं। 'ओरेन चे मासो सेसो गिम्हानं' ति वस्सिकसाटिकचीवरं परियेसेय्य, 'ओरेनद्धमासो सेसो गिम्हानं' ति कत्वा निवासेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥४३॥

२४. ग्रीष्म ऋतु के एक मास शेष रह जाने पर भिक्षु को वार्षिकशाटिका चीवर को खोजना चाहिए। ग्रीष्म का आधा मास रह जाने पर पहनना चाहिए। ग्रीष्म के एक मास शेष रहने से पहले यदि वार्षिक शाटिका चीवर को खोजे और ग्रीष्म के आधा मास शेष रहने से पहले पहने, तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥४३॥

२५. पञ्चवीसतिमनिस्सग्गियं–सामं दत्वा चीवरअच्छिन्दने

उपनन्द ने एक जनपदचारिका के लिए जाते समय किसी साथी भिक्षु से कह

1. अड्ढमासो—स्या;।

कि तुम भी साथ चलो । भिक्षु ने कहा—मेरा चीवर दुर्बल (पुराना) है इसलिए नहीं जाऊँगा। उपनन्द ने अपना चीवर उसे दे दिया। पर उस भिक्षु ने उपनन्द के साथ न जाकर तथागत के साथ जाने का विचार व्यक्त किया। तब उपनन्द उसे नाराज हुआ और उससे चीवर छीनने लगा। इस घटना पर तथागत ने नियम बनाया—

२५. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स सामं चीवरं दत्वा कुपितो अनत्तमनो अच्छिन्देय्य वा अच्छिन्दापेय्य वा, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥४४॥

२५. जो भिक्षु किसी भिक्षु को स्वयं चीवर देकर कुपित और असन्तुष्ट होकर उसे छीने या छिनवाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥४४॥

२६. छब्बीसतिमनिस्सग्गियं—सुत्तं विञ्ञापेत्वा चीवरवायापने

षड्वर्गीय भिक्षु राजगृहमे स्वयं सूत मांगकर जुलाहों से चीवर बनवाने लगे। तथागत ने इस घटना पर नियम बनाया—

२६. "यो पन भिक्खु सामं सुत्तं विञ्ञापेत्वा तन्तवायेहि चीवरं वायापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥४५॥

२६. जो भिक्षु स्वयं सूत माँगकर जुलाहे से चीवर बुनवाये तो निस्सग्गियं पाचित्तिय है ॥४५॥

२७. सत्तवीसतिम निस्सग्गियं—चीवरविनने विकप्पापज्जने

श्रावस्ती मे किसी उपासक ने उपनन्द को चीवर देने के लिए उसे जुलाहे से बनवाया। उपनन्द ने उस जुलाहे के पास जाकर कहा—एक मेरे लिए चीवर तुम्हारे पास बन रहा है। उसे इतना लम्बा, इतना चौड़ा, इतना घना बुना बनाओ। जुलाहे ने कहा ऐसा चीवर उस सूत से बनना संभव नही। जुलाहा उपासक के पास गया। उपासक ने उतना ही सूत और दिया। कुछ दिनो बाद उपनन्द ने उपासक के पास जाकर पूछा—क्या चीवर तैयार हो गया? उपासक ने आकर उपनन्द को चीवर दे दिया और बाद में वह भिक्षु पर कुपित हुआ। इस घटना पर तथागत ने नियम बनाया—

२७. "भिक्खुं पनेव उद्दिस्स अञ्ञातको गहपति वा गहपतानी वा तन्तवायेहि चीवरं वायापेय्य, तत्र चे सो भिक्खु पुब्बे अप्पवारितो तन्तवाये उपसङ्कमित्वा चीवरे विकप्पं आपज्जेय्य—'इदं खो, आवुसो, चीवरं मं उद्दिस्स विय्यति[1]। आयतं च करोथ वित्थतं च। अप्पितं च सुवीतं च सुप्पवायितं च सुविलेखितं च सुवितच्छितं च करोथ। अप्पेव नाम मयं पि आयस्मन्तानं

1. वीयति—स्या०।

किञ्चिमत्तं अनुपदज्जेय्यामा' ति। एवं च सो भिक्खु वत्वा किञ्चिमत्तं अनुपदज्जेय्य अन्तमसो पिण्डपातमत्तं पि, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥४६॥

२७. किसी भिक्षु के लिए अज्ञातक गृहस्थ या गृहस्थिनी जुलाहा से चीवर बुनवाये और वह भिक्षु उसे भेंट करने से पहले ही बुनकर के पास जाकर यह कहकर चीवर मे परिवर्तन कराये—'आवुस! यह चीवर मेरे लिये बुना जा रहा है। इसे लम्बा-चौडा बनाओ, घना, अच्छी तरह तना, खूब अच्छी तरह बुना, अच्छी तरह मला हुआ और अच्छी तरह छाँटा हुआ बनाओ तो हम भी आयुष्मानों को कुछ दे देंगे।' और वह भिक्षु ऐसा कहकर कुछ दे और कुछ नही तो भिक्षा मात्र भी दे, तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥४६॥

२८. अट्ठवीसतिमनिस्सग्गियं - अच्चेकचीवरनिक्खिपने

श्रावस्ती मे किसी महामात्र ने भिक्षुओं के लिए वस्सावासिक प्रदान करने के लिए दूत के हाथ सन्देश भेजा। परन्तु भिक्षु नही आये। यह जानकर महामात्र कुपित हुआ। तब तथागत ने अतिरेक चीवर ग्रहण कर उसे रख लेने के लिए अनुमति दी। बाद मे भिक्षुओं ने उन्हे ग्रहण कर चीवर काल तक का अतिक्रमण किया। आनन्द ने यह बात तथागत से कही। तथागत ने नियम बनाया—

२८. "दसाहानागतं कत्तिकतेमासिकपुण्णमं[1] भिक्खुनो पनेव अच्चेकचीवरं उप्पज्जेय्य, अच्चेकं मञ्ञमानेन भिक्खुना पटिग्गहेतब्बं, पटिग्गहेत्वा याव चीवरकालसमयं निक्खिपितब्बं। ततो चे उत्तरि[2] निक्खिपेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं' ति ॥४७॥

२८. कार्तिक की त्रैमासी पूर्णिमा के आने से दस दिन पहले ही यदि भिक्षु को अतिरिक्त चीवर प्राप्त हो तो उसे अतिरिक्त समझते हुए भिक्षु को ग्रहण करना चाहिए। ग्रहण कर चीवर-काल तक रखना चाहिए। उसके बाद यदि रखे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥४७॥

२९. एकूनतिंसतिमनिस्सग्गियं—अन्तरघरे चीवरनिक्खिपने

श्रावस्ती मे तथागत ने भिक्षुओं को आज्ञा दी कि वे अरण्य मे बिहार करते समय तीन चीवरो मे से एक चीवर को अन्तर्घर मे रख सकते है और अधिक से अधिक छः रात तक अतिरेक चीवर के बिना रह सकते हैं। परन्तु उन भिक्षुओं ने इस समय का अतिक्रमण कर दिया। भिक्षुओं ने यह बात तथागत से कही। तथागत ने यह नियम बनाया—

1. कत्तिकतेमासपुण्णमं रो०। 2. उत्तरि—सी० स्या रो०।

२९. "उपवस्सं खो पन कत्तिकपुण्णमं यानि खो पन तानि आरञ्ञकानि सेनासनानि सासङ्कसम्मतानि सप्पटिभयानि तथारूपेसु भिक्खु सेनासनेसु विहरन्तो आकङ्खमानो तिण्णं चीवरानं अञ्ञतरं चीवरं अन्तरघरे निक्खिपेय्य, सिया च तस्स भिक्खुनो कोचिदेव पच्चयो तेन चीवरेन विप्पवासाय। छारत्तपरम तेन भिक्खुना तेन चीवरेन विप्पवसितब्बं। ततो चे उत्तरि[1] विप्पवसेय्य, अञ्ञत्र भिक्खुसम्मुतिया[2], निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥४८॥

२९. वर्षावास करते हुए कार्तिक पूर्णिमा तक शंकायुक्त, भयसहित, आरण्यक आश्रमों में रहते हुए भिक्षु चाहे तो तीन चीवरों में से एक चीवर को अन्तर घर में रख दे सकता है, यदि उसे उस चीवर के चले जाने का डर हो; किन्तु उस भिक्षु को अधिक से अधिक छः रात तक उस चीवर के बिना रहना चाहिए। यदि भिक्षुओं की सम्मति के बिना उससे अधिक समय तक चीवर के बिना रहे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥४८॥

३०. तिंसतिमनिस्सग्गियं—सङ्घिकलाभं अत्तनो परिणामने

षड्वर्गीय भिक्षुओ ने श्रावस्ती में संघ को दिये जाने वाले चीवरों को स्वयं ग्रहण कर लिया। अन्य भिक्षु जब दायक के पास पहुँचे तब यह पता लगा। तथागत ने इस घटना पर यह नियम बनाया।

३०. "यो पन भिक्खु जानं साङ्घिकं लाभं परिणतं अत्तनो परिणामेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ॥४९॥

३०. जो भिक्षु संघ के लिए प्राप्त वस्तु को अपने लिए परिवर्तन करा ले तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥ ४९ ॥

उद्दिट्ठा खो, आयस्मन्तो, तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—'कच्चित्थ परिसुद्धा'? दुतियं पि पुच्छामि—'कच्चित्थ परिसुद्धा'? ततियं पि पुच्छामि—'कच्चित्थ परिसुद्धा'? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

निस्सग्गियकण्डं निट्ठितं।

आयुष्मानो! तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय कर्म कहे गये। आयुष्मानों से पूछता हूँ—क्या आप लोग उनमें परिशुद्ध हैं? दूसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? आयुष्मान् लोग परिशुद्ध हैं इसीलिए मौन हैं—ऐसा मैं धारण करता हूँ।

॥ निस्सग्गिय पाचित्तिय समाप्त ॥

---

1. उत्तरिं—सी०, स्या०, रो०। 2. भिक्खुसम्मतिया—स्या०।

५. पाचित्तियकण्डं

इमे खो पनायस्मन्तो द्वेनवुति पाचित्तिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आयुष्मानो ! ये बानवे पाचित्तिय धर्म कहे जाते हैं—

१. मुसावादवग्गो पठमो

१. पठमो पाचित्तियं—मुसावादे

श्रावस्ती मे हत्थक शाक्यपुत्त तीर्थिको से विवाद करते समय झूठ बोलता था ताकि किसी भी प्रकार मे तीर्थिको को पराजित किया जा सके । अन्य भिक्षुओ और तथागत ने हत्थक की निन्दा की और यह शिक्षापद दिया

१. सम्पजानमुसावादे पाचित्तियं ॥ ५० ॥

जानबूझ कर झूठ बोलना पाचित्तिय है ॥ ५० ॥

२. दुतियपाचित्तियं—ओमसवादे

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षु अन्य शान्त भिक्षुओ के साथ झगड़ते और जाति नाम, गोत्र, कर्म, शिल्प, आवाध, लिंग क्लेश, आपत्ति और हीन शब्दो से गाली देते । इसी प्रसंग मे एक नन्दिविसालवलिवर्द की कथा भी आयी है । तथागत ने इन घटनाओं के कारण नियम बनाया—

२. ओमसवादे पाचित्तियं ॥ ५१ ॥

गाली देने मे पाचित्तिय है ।

३. ततियपाचित्तियं—पेसुञ्ञो

षड्वर्गीय भिक्षु एक दूसरे भिक्षुओं के बीच चुगलखोरी करते थे । इस पर तथागत ने नियम बनाया—

३. भिक्खुपेसुञ्ञे पाचित्तियं ॥ ५२ ॥

भिक्षुओ की चुगली करने में पाचित्तिय है ।

४. चतुत्थपाचित्तियं—पदसो धम्मवाचने

षड्वर्गीय भिक्षु उपासकों को पदों के क्रम से धर्म वाचते थे। यह देखकर बुद्ध ने नियम बनाया—

४. "यो पन भिक्खु अनुपसम्पन्नं पदसो धम्मं वाचेय्य पाचित्तियं।" ति ॥ ५३ ॥

जो भिक्षु अनुपसम्पन्न भिक्षुओं को पदों के क्रम से धर्मोपदेश दे, उसे पाचित्तिय है ॥ ५३ ॥

५. पञ्चमपाचित्तियं – सहसेय्ये

अळवी के अग्राळव चैत्य मे उपासक धर्मश्रवण करने के लिए बगीचे में आये। उन्हें धर्मोपदेश देने के बाद भिक्षु विहार करने चले गये। नवीन भिक्षु वही उपस्थानशाला मे उपासको के साथ सो गये। उपासकों ने इसकी निन्दा की। तब भ० ने नियम बनाया—

५. "यो पन भिक्खु अनुपसम्पन्नेन उत्तरिदिरत्ततिरत्तं[1] सहसेय्यं कप्पेय्य, पाचित्तियं" ति ॥ ५४ ॥

५. जो भिक्षु उपसम्पदा-रहित व्यक्ति के साथ दो तीन रात से अधिक एक साथ सोये तो उसे पाचित्तियं है ॥ ५४ ॥

६. छट्ठपाचित्तियं—सहसेय्ये

अनुरुद्ध कोशल से श्रावस्ती को जाते समय एक गाँव मे एक रात ठहरने के लिए रुक गये। रुकने के लिए एक घर मे स्त्री ने अनुमति दे दी। सोते समय स्त्री ने अनुरुद्ध के साथ सोने का निवेदन किया जिसे अनुरुद्ध ने मौन भाव से स्वीकार कर लिया। फलत: वह स्त्री अलकृत होकर अनुरुद्ध के पास आई और वस्त्रो से विवृत होकर प्रेम प्रदर्शन करने लगी। अनुरुद्ध ने उसे किसी तरह समझाया और धर्म मार्ग पर ले आये। जब यह पता चला कि अनुरुद्ध मातुगाम के साथ सोया तो भ० ने यह नियम बनाया—

६. "यो पन भिक्खु मातुगामेन सहसेय्यं कप्पेय्य पाचित्तियं ति" ॥५५॥

६. जो भिक्षु स्त्री के साथ सोये तो उसे पाचित्तिय है ॥ ५५ ॥

---

1. उत्तरिं दिरत्ततिरत्तं—सी.

७. सत्तमपाचित्तियं—मातुगामस्स धम्मदेसने

उदायी श्रावस्ती मे किसी ऐसे सूने घर मे गया जहाँ मात्र स्त्री थी। वहाँ उसने उसे धर्मोपदेश दिया। भिक्षुओ ने इसकी निन्दा की। कुछ उपासिकाओं के कहने पर यह नियम बनाया कि स्त्रिओ को अधिक से अधिक पाँच-छः वचनों का धर्मोपदेश दिया जा सकता है—

७. "यो पन भिक्खु मातुगामस्स उत्तरिछप्पञ्चवाचाहि धम्मं देसेय्य, अञ्ञत्र विञ्ञुना पुरिसविग्गहेन, पाचित्तियं" ति ॥ ५६ ॥

७. बुद्धिमान् पुरुष को छोड़कर जो भिक्षु स्त्री को पाँच-छ: वचनो से अधिक धर्म का उपदेश दे तो उसे पाचित्तियं है ॥५६॥

८. अट्ठम पाचित्तियं—अनुपसम्पन्नस्स भूतुत्तरिमनुस्सधम्मालापने

वैशाली मे एक बार दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण भिक्षुओ को पिण्डपात मिलना कठिन हो गया। कुछ भिक्षुओ ने कहा गृहकार्य अथवा दूतकार्य अथवा दिव्य-शक्ति प्रदर्शन से पिण्डपात सहज हो जायगा। तब भिक्षुओ ने दिव्यशक्ति प्रदर्शन का मार्ग अपनाना अधिक अनुकूल समझा। इससे उन्हे पिण्डपात मिलने लगा। जब भ० को यह पता चला तो उन्होंने नियम बनाया—

८. "यो पन भिक्खु अनुपसम्पन्नस्स उत्तरिमनुस्सधम्मं आरोचेय्य भूतस्मिं, पाचित्तिय" ति ॥५७॥

८. जो भिक्षु अनुपसम्पन्न (उपसम्पदा-रहित) व्यक्ति को दिव्य-शक्ति के विषय मे यथार्थ भी कहे तो उसे पाचित्तिय है ॥५७॥

९. नवमपाचित्तियं—अनुपसम्पन्नस्स दुट्ठुल्लापत्तिरोचने

भिक्षु उपनन्द श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुओ के साथ झगड़ने लगा। संघ ने वीर्यमोचन के कारण आनन्द को परिवास दण्ड दिया। षड्वर्गीय भिक्षुओं ने यह बात अनुपसम्पन्न पुरुषों से की। तब भ० ने यह नियम बनाया—

९. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स दुट्ठुल्लं आपत्ति अनुपसम्पन्नस्स आरोचेय्य, अञ्ञत्र भिक्खुसम्मुतिया, पाचित्तियं" ति ॥५८॥

९. जो भिक्षु किसी भिक्षु के दुट्ठुल्ल (पाराजिक और संघादिशेष) अपराध को भिक्षुओ की सम्मति के बिना अनुपसम्पन्न पुरुष से कहे तो उसे पाचित्तिय है ॥५८॥

१०. दसम पाचित्तियं—पथवीखणने

आळवक भिक्षु नवकर्म (जमीन खोदना) करते-करवाते थे जिससे एकेन्द्रिय जीवों की—विराधना होती थी। तब भ० ने यह शिक्षापद दिया—

१०. "यो पन भिक्खु पथविं खणेय्य वा खणापेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥५९॥

१०. जो भिक्षु पृथ्वी खोदे या खोदवाये तो उसे पाचित्तिय है ॥५९॥

२. भूतगामवग्गो दुतियो

११. एकादसमपाचित्तियं— भूतगामपातब्ये

आळवक भिक्षु नवकर्म करते-करवाते हुए वृक्षादि को काटकर फेंक देते थे। एक वृक्ष को काटा जिससे उसमे रहने वाले देवता को चोट आई। उस देवता ने उस भिक्षु का बध करना चाहा पर भगवान् ने ऐसा करने से उसे रोक दिया और शिक्षापद दिया—

११. भूतगामपातब्यताय पाचित्तियं॰ ॥६०॥

११. भूतगाम (तृण, वृक्ष आदि) के गिराने मे पाचित्तिय है ॥६०॥

१२. बारसमपाचित्तियं—अञ्ञेनञ्ञं पटिचरणे

कौशाम्बी मे छन्न भिक्षु के अनाचरण करने पर संघ ने उससे पूछा पर छन्न ने संघ को ठीक तरह से उत्तर नही दिया। इस पर भगवान् ने नियम बनाया—

अञ्ञवादके विहेसके पाचित्तियं ति ॥६१॥

संघ के पूछने पर उत्तर देने की इच्छा न करने मे पाचित्तिय है ॥१२॥

१३. तेरसमपाचित्तियं—भिक्खु उज्झापने

दब्ब मल्लपुत्त संघ को पिण्डपात आदि देता था। मेत्तिय-भुम्मजक भिक्खु। दब्ब के इस दान को उसके छन्द का प्रतीक मानकर निन्दा करते। भगवान् ने यह जानकर नियम बनाया—

१३. "उज्झापनके खिय्यनके पाचित्तियं" ॥६२॥

निन्दा और बदनामी करने मे पाचित्तिय है।

१४. चोद्दसपाचित्तियं—सेनासनअनुद्धरणे

श्रावस्ती मे भिक्षु हेमन्तकाल में खुली जगह मे पलग आदि लाकर सोते थे। पर उन्हे बिना उठाये वहाँ से चल देते थे। इस पर तथागत ने यह शिक्षापद दिया—

१४. "यो पन भिक्खु संघिक मञ्चं वा पीठं वा भिसिं वा कोच्छं वा अज्झोकासे सन्थरित्वा वा सन्थरापेत्वा वा तं पक्कमन्तो नेव उद्धरेय्य न उद्धरापेय्य, अनापुच्छं वा गच्छेय्य, पाचित्तिय ति" ।।६३।।

१४. जो भिक्षु संघ के मंच (पलग), चौकी, बिस्तर या गद्दे को खुली जगह मे बिछाकर या बिछवाकर वहाँ से जाते समय उन्हे न उठाता है, अथवा न उठवाता है या बिना पूछे ही चला जाता है, तो पाचित्तिय है ।।६३।।

१५. पन्नरसमपाचित्तियं—सन्थरित्वा सेय्ये अनुद्धरिते

सत्तरसवर्गीय भिक्षु संघ के बिहार मे शय्याओ पर सोते, परन्तु उन्हे बिना उठाये चल देते। इस पर भ० ने यह नियम बनाया—

१५. "यो पन भिक्खु संघिके विहारे सेय्यं सन्थरित्वा वा सन्थरापेत्वा वा तं पक्कमन्तो नेव उद्धरेय्य न उद्धरापेय्य, अनापुच्छं वा गच्छेय्य, पाचित्तिय ति" ।।६४।।

१५. जो भिक्षु संघ के विहार मे बिस्तर बिछाकर या बिछवाकर वहाँ से जाते समय उसे न उठाता है, न उठवाता है या बिना पूछे ही चला जाता है, तो पाचित्तिय है ।।६४।।

१६. सोळसमपाचित्तियं—अनुपखज्जसेय्यकप्पने

षड्वर्गी भिक्षु पहले आये भिक्षुओं का ध्यान रखे बिना सो जाते थे। इस पर भगवान् ने नियम बनाया—

१६. "यो पन भिक्खु संघिके विहारे जानं पुब्बुपगतं[1] भिक्खुं अनुपखज्ज सेय्यं कप्पेय्य—यस्स सम्बाधो भविस्सति सो पक्कमिस्सती ति, एतदेव पच्चयं करित्वा अनञ्ञं, पाचित्तिय ति ।।६५।।

१६. जो भिक्षु जानकर संघ के बिहार मे पहले से आये भिक्षु का बिना

---

1. पुब्बूपगतं—स्या. ।

ध्यान रखे बिस्तर लगाये, यह सोचकर कि दूसरा 'जिसे जगह की कमी होगी वह वहाँ से चला जायेगा' तो पाचित्तिय है ॥६५॥

१७. सत्तरसमपाचित्तिय—भिक्खुनिक्कड्ढने

षड्वर्गीय भिक्षुओं ने श्रावस्ती मे कुछ भिक्षुओं को अपने विहार से गर्दन पकड़ कर बाहर निकाल दिया। तब भ० ने कहा—

१७. "यो पन भिक्खु भिक्खुं कुपितो अनत्तमनो संघिका विहारा निक्कड्ढेय्य वा निक्कड्ढापेय्य वा, पाचित्तिय ति" ॥६६॥

१८. जो भिक्षु कुपित और असन्तुष्ट होकर किसी भिक्षु को संघ के विहार से निकाले अथवा निकलवाये तो उसे पाचित्तिय है ॥६६॥

१८. अट्ठारसमपाचित्तियं—आहच्च पादके मञ्चे अभिनिसीदने

श्रावस्ती के एक विहार मे दो भिक्षु रहते थे। एक ऊपर और एक नीचे। ऊपर रहने वाला भिक्षु अपने मञ्च पर जोर से चढता और बैठता था जिससे नीचे रहने वाले भिक्षु के शिरपर वह मञ्चपाद गिर गया। तब भ० ने यह नियम बनाया—

१८. "यो पन भिक्खु सङ्घिके विहारे उपरिवेहासकुटिया आहच्च-पादकं मञ्चं वा पीठ वा अभिनिसीदेय्य वा अभिनिपज्जेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥६७॥

१८. जो भिक्षु संघ के विहार मे ऊपर के कोठे मे पैर जोर से रखते हुए मंच (पलग) या चौकी पर एकायक बैठे या लेटे तो पाचित्तिय है ॥६७॥

१९. ऊनवीसतिमपाचित्तियं—महल्लकं विहारं कारयमाने

कौशाम्बी मे भिक्षु छन्न पुराने बिहार की मरम्मत कराते समय यव के खेत मे खड़े हुए थे। खेतवाला यह देखकर रुष्ट हुआ तब भ० ने यह नियम बनाया—

१९. "महल्लक पन भिक्खुना विहार कारयमानेन याबद्वारकोसा अग्गळट्ठपनाय[1] आलोकसन्धिपरिकम्माय द्वत्तिच्छदनस्स[2] परियाय अप्प-हरिते ठितेन अधिट्ठातब्ब। ततो चे उत्तरिं[3] अप्पहरिते पि ठितो अधिट्ठ-हेय्य पाचित्तियं" ति ॥६८॥

---

1. अग्गलट्ठपनाय—सी०　　2. द्वितिच्छदनस्स—स्या०, रो०।
3. उत्तरि—रो०, म०।

१९. भिक्षु को स्वामीवाले (महल्लक) विहार को बनवाते समय, दरवाजे में किवाड़ों के बन्द करने और जंगले के घुमाने या लीपने के समय हरियाली से अलग खड़ा हो वैसा करना चाहिये। उससे आगे यदि वह हरियाली पर खड़े होकर करे तो पाचित्तिय है ॥६८॥

२०. वीसतिमपाचित्तियं—सप्पाणक उदक सिञ्चने

आळवक भिक्षु नवकर्म करते समय जीवों सहित जल से तृण अथवा मिट्टी का सिञ्चन करते थे। भगवान् ने यह जानकर कहा—

२०. "यो पन भिक्खु जानं सप्पाणकं उदकं तिणं वा मत्तिक वा सिञ्चेय्य वा सिञ्चापेय्य वा, पाचित्तिय" ति ॥६९॥

२०. जो भिक्षु जानकर प्राणी-सहित पानी से तृण या मिट्टी को सींचे अथवा सिंचवाये, तो पाचित्तिय है ॥६९॥

३. भिक्खुनोवादवग्गो ततियो

२१. एकवीसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनोवादकसम्मन्ने

श्रावस्ती में स्थविर भिक्षु-भिक्षुणियों को उपदेश देने पर चीवर, पिण्डपात आदि का लाभ लेते थे। षड्वर्गीय भिक्षुओं ने भी यह देखकर भिक्षुओं को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। उपदेश में वे तिरच्छान कथा कहते थे। भिक्षुणियों ने यह बात भ० से कही। भगवान् ने नियम बनाया—

२१. "यो पन भिक्खु असम्मतो भिक्खुनियो ओवदेय्य पाचित्तियं" ति ॥७०॥

२१. जो भिक्षु संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणियों को उपदेश दे, तो पाचित्तिय है ॥७०॥

२२. बावीसतिमपाचित्तियं—अत्थङ्गते सुरिये ओवादने

श्रावस्ती में कुछ भिक्षु क्रम से भिक्षुणियों को उपदेश देते थे। जब चूड़-पन्थक का क्रम आया तो उसने "अधिचेतसो अप्पमज्जतो" का उपदेश बारबार दिया। यह उपदेश सूर्यास्त के बाद तक चला। फलतः भिक्षुणियों को अपने विहार तक पहुँचते-पहुँचते रात हो गई। मनुष्यों ने उन्हें अब्रह्मचारिणी कहकर निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया—इस घटना पर भ० ने नियम बनाया—

२२. "सम्मतो पि चे भिक्खु अत्थङ्गते सुरिये भिक्खुनियो ओवदेय्य, पाचित्तियं" ति ॥७१॥

२२. सम्मति होने पर भी यदि सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश दे, तो पाचित्तिय है ॥७१॥

२३. तेवीसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनुपस्सयुपसङ्कमने

कपिलवस्तु मे षड्वर्गीय भिक्षु भिक्षुणियों के बिहार मे जाकर उपदेश देते थे। भिक्षुणियों ने भगवान् से कहा और भगवान् ने नियम बनाया—महाप्रजापति गोतमी के बीमार पड़ने पर भगवान् ने उस नियम मे सुधार किया। अन्तत: नियम यह बना—

२३. "यो पन भिक्खु भिक्खुनुपस्सय उपसङ्कमित्वा भिक्खुनियो ओवदेय्य, अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं। तत्थायं समयो। गिलाना होति भिक्खुनी – अय तत्थ समयो" ति ॥७२॥

२३. जो भिक्षु समय के अतिरिक्त भिक्षुणी-आश्रम मे जाकर भिक्षुणियो को उपदेश करे, तो पाचित्तिय है। वहाँ यह समय है—भिक्षुणी का रोगिणी होना—यह वहाँ समय है ॥७२॥

२४. चतुवीसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनोवादकथेरानुधंसने

कुछ भिक्षु उपदेशक भिक्षुओ के सम्बन्ध मे यह कहते थे कि ये भिक्षु भिक्षुणियो को आमिष (चीवर पिण्डपात आदि) की प्राप्ति के लिए उपदेश देते है। तब भगवान् ने कहा—

२४. "यो पन भिक्खु एवं वदेय्य— 'आमिसहेतु थेरा' भिक्खू भिक्खुनियो ओवन्दती' ति, पाचित्तियं" ति ॥७३॥

२४. जो भिक्षु ऐसा कहे—'आमिष (भोजन, वस्त्र आदि) के लिए भिक्षु भिक्षुणियो को उपदेश देते हैं, तो पाचित्तिय है ॥७३॥

२५. पञ्चवीसतिमपाचित्तियं—अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया चीवरदाने

श्रावस्ती मे किसी भिक्षु ने भिक्षुणी को चीवर दे दिया और स्वयं के लिए किसी अन्य भिक्षु से चीवर माँगने लगा। भ० ने इसकी निन्दा की। बाद में मात्र परिवर्तन करने के लिए स्वीकृति मिली। इस प्रकार यह नियम बना—

---

1. सी०, स्या० पोत्थकेसु नत्थि।

२५. "यो पन भिक्खु अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया चीवरं ददेय्य, अञ्ञत्र पारिवत्तका, पाचित्तियं ति ॥७४॥

२५. जो भिक्षु अज्ञातिका भिक्षुणी को, बदलने के अतिरिक्त, चीवर दे, तो पाचित्तिय है ॥७४॥

२६· छब्बीसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनिया चीवरसिब्बने

उदायी भिक्षु ने एक भिक्षुणी के चीवर को सिल दिया और उसके बीच कुछ छिद्र से रहने दिये। भिक्षुणी से कहा कि वह इस चीवर को पहिनकर उपदेश सुनने आये। भिक्षुणी जब उपदेश सुनने उस चीवर को आई तो सभी ने उसे अलज्जी कहा। उदायी का यह कृत्य है। यह पता चलने पर भ० ने उसकी निन्दा की और नियम बनाया—

२६. "यो पन भिक्खु अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया चीवरं सिब्बेय्य वा सिब्बापेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥७५॥

२६. जो भिक्षु अज्ञातिका भिक्षुणी के चीवर को सिले या सिलवाये तो पाचित्तिय है ॥७५॥

२७· सत्तवीसतिमपाचित्तियं–भिक्खुनीहि एकतो अद्धानमग्गप्पटिपज्जो

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षु भिक्षुणियों के साथ मन्त्रणाकर एक मार्ग पर चलते थे। मनुष्यो ने उनकी निन्दा की। भ० ने ऐसा करना वर्जित किया। एक बार साकेत से श्रावस्ती जाते समय भिक्षु भिक्षुणियो को साथ नही ले आये। भिक्षुणिया पीछे आई। चोरो ने उन्हे दूषित किया। भिक्षुणियो ने यह बात भगवान् से कही। भ० ने सुधारकर नियम बनाया—

२७. "यो पन भिक्खु भिक्खुनिया सद्धिं संविधाय एकद्धानमग्गं पटिपज्जेय्य, अन्तमसो गामन्तरं पि, अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं। तत्थायं समयो। सत्थगमनीयो होति मग्गो सासङ्कसम्मतो सप्पटिभयो—अयं तत्थ समयो" ति ॥७६॥

२७. जो भिक्षु समय के अतिरिक्त भिक्षुणी के साथ निश्चित करके चाहे दूसरे ही गाँव तक, एक ही मार्ग से जाय तो पाचित्तिय है। वहाँ यह समय है—जब कि वह मार्ग सार्थ (व्यापारियो का समूह) का हो या भय और शंकापूर्ण माना जाता हो—यह वहाँ समय है ॥७६॥

२८. अट्ठवीसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनिया एकतो नावाभिरुहने

षड्वर्गीय भिक्षु भिक्षुणियों के साथ मंत्रणाकर नाव पर चढ़कर क्रीड़ा करते थे। भ० ने ऐसा करने से मना किया। बाद में एकबार नाव में अकेली रहने पर चोरों ने उन्हें दूषित किया। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

२८. "यो पन भिक्खु भिक्खुनिया सद्धिं संविधाय एकं नावं अभिरूहेय्य उद्धंगामिनिं[1] वा अधोगामिनिं वा, अञ्ञत्र तिरियं तरणाय, पाचित्तियं" ति ॥७७॥

२८. जो भिक्षु भिक्षुणी के साथ सलाह करके, तिरछे उतरनेवाली को छोड, प्रवाह के ऊपर जाने वाली या नीचे जाने वाली नाव पर चढ़े तो पाचित्तिय है ॥७७॥

२९. ऊनतिंसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनिपरिपाचितभोजने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी किसी गृहस्थ के घर से भिक्षा लेती थी। उस गृहस्थ ने एक समय सारिपुत्त आदि भिक्षुओं को निमन्त्रित किया। देवदत्त आदि भिक्षुओं ने जान बूझकर भिक्षुणियों के लिए परिपाचित पिण्डपात खा लिया। भगवान् ने कहा—

२९. "यो पन भिक्खु जानं भिक्खुनीपरिपाचितं पिण्डपातं भुञ्जेय्य, अञ्ञत्र पुब्बे गिहिसमारम्भा, पाचित्तियं" ति ॥७८॥

२९. जो भिक्षु जान बूझकर भिक्षुणी के पकवाये भोजन को, गृहस्थ के विशेष समारोह के अतिरिक्त खाये तो पाचित्तिय है ॥७८॥

३०. तिंसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनिया रहो निसज्जने

उदायी भिक्षु भिक्षुणी के साथ एकान्त स्थान में बैठता था। सभी ने इसकी निन्दा की। तब भ० ने यह नियम बनाया—

३०. "यो पन भिक्खु भिक्खुनिया सद्धिं एको एकाय रहो निसज्जं कप्पेय्य, पाचित्तियं" ॥७९॥

३०. जो भिक्षु भिक्षुणी के साथ अकेले एकान्त मे बैठे, तो पाचित्तिय है ॥७९॥

४. भोजन वग्गो चतुत्थो

३१. एकतिंसतिमपाचित्तियं—आवसथपिण्डभोजने

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षु पिण्ड के लिए जाते। पिण्ड न मिलने पर

---

1. उद्धगामिनिं—सी०, स्या०।

आवसथ में जाकर भोजन कर लेते। ऐसा उन्होंने अनेक दिन किया और फिर सोचा कि आराम में जाने की क्या आवश्यकता ? दूसरे दिन भी वहीं रहे। दिन में कई बार भोजन किया। भगवान् ने यह जानकर नियम बनाया—

३१. "अगिलानेन भिक्खुना एको आवसथपिण्डो भुञ्जितब्बो। ततो चे उत्तरिं[1] भुञ्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८०॥

३१. निरोग भिक्षु को एक निवास-स्थान में एक ही बार भोजन ग्रहण करना चाहिये। इससे अधिक भोजन ग्रहण करे तो पाचित्तिय है ॥८०॥

३२. बतिंसतिमपाचित्तियं—गणभोजने

देवदत्त कुलों मे जाकर राजगृह मे भोजन करते थे। भगवान् ने मना किया। बाद की घटनाओं पर इस नियम में सुधार हुआ कि गिलान, चीवर घन आदि के समय गणभोजन किया जा सकता है। नियम इस प्रकार है—

३२. "गणभोजने, अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं। तत्थायं समयो। गिलानसमयो, चीवरदानसमयो, चीवरकारसमयो, अद्धानगमनसमयो, नावाभिरुहनसमयो, महासमयो, समणभत्तसमयो – अयं तत्थ समयो" ति ॥८१॥

३२. समय के अतिरिक्त ग्ण के साथ भोजन करने मे पाचित्तिय है। वहाँ यह समय है—रोगी होने का समय, चीवर-दान का समय, चीवर के निर्माण का समय, लम्बे मार्ग पर जाने का समय, नाव पर चढने का समय, महासमय (अकाल का समय, जब कि गाँव मे चार भिक्षु भी भिक्षाटन करके पूरा भोजन न पा सकें) और श्रमणो के भोजन का समय ॥८१॥

३३. तेत्तिंसतिमपाचित्तियं - परम्परभोजने

वैशाली मे दलिद्र कर्मकार ने भिक्षुसघ को भोजन का निमन्त्रण दिया। कर्मकार के स्वामी ने इसके लिए अतिरिक्त वेतन दे दिया। उसने बहुत ही स्वादिष्ट भोजन बनवाया। पर भिक्षुसंघ ने सोचा कि कर्मकार निर्धन है इस लिए भोजन थोड़ा थोड़ा ग्रहण किया। कर्मकार को बुरा लगा और उसने कहा कि क्या मैं यथेष्ट भोजन नही दे सकता ? निमन्त्रण अन्यत्र हो और भोजन अन्यत्र करें यह भिक्षुओं के लिए ठीक नहीं। इस पर भगवान् ने परस्पर भोजन करना मना कर दिया। चीवरदान आदि के कारण इस नियम मे सुधार हुआ। कुल नियम यह है—

३३. "परम्परभोजने, अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं। तत्थायं समयो।

---

1. उत्तरि—रो० म०

गिलानसमयो, चीवरदानसमयो, चीवरकारसमयो—अयं तत्थ समयो" ति ॥ ८२ ॥

३३. समय के अतिरिक्त परस्पर एक साथ बैठकर भोजन करने में पाचित्तिय है। वहाँ यह समय है—रोगी होने का समय, चीवर-दान का समय, चीवर बनाने का समय ॥८२॥

३४. चतुतिंसतिमपाचित्तियं—पूवमन्थपटिग्गहणे

श्रावस्ती मे काणमाता उपासिका श्रद्धा सम्पन्न थी। उसका पुत्र काण स्वामी के पास जा रहा था। इसलिए पाथेय साथ ले जाने के लिए उसने काण के लिए पुआ बनाये। इतने मे पिण्डचारी भिक्षु आ गये। उसने पुआ भिक्षु को दे दिया। उस भिक्षु ने अन्य भिक्षु से कहा। इस प्रकार पुआ समाप्त हो गये। इधर का। के स्वामी ने बुलाया कि यदि काण नही आयेगा तो किसी दूसरे को रख लिया जायेगा। तीन बार इस तरह भिक्षुओं के लिए पुआ बने और समाप्त हो गये। उधर काण नही पहुँच पाया। स्वामी ने काण के स्थान पर किसी दूसरे को रख लिया। काँणमाता भगवान् के पास रोती हुई पहुँची। तब भगवान ने नियम बनाया—

३४. "भिक्खुं पनेव कुलं उपगतं पूवेहि वा मन्थेहि वा अभिहट्ठुं पवारेय्य, आकङ्खमानेन भिक्खुना द्वित्तिपत्तपूरा पटिग्गहेतब्बा ततो चे उत्तरिं पटिग्गण्हेय्य, पाचित्तियं। द्वित्तिपत्तपूरे पटिग्गहेत्वा ततो नीहरित्वा भिक्खूहि सद्धिं संविभजितब्बं। अयं तत्थ सामीची" ति ॥८३॥

३४. यदि गृहस्थ घर पर आये भिक्षु को साग्रह पुआ या मट्ठा लाकर दे तो इच्छा होने पर भिक्षु को पात्र के मेखला तक भरा ग्रहण करना चाहिये। उससे अधिक ग्रहण करे, तो पाचित्तिय है। पात्र को मेखला तक भरकर उसे ग्रहण कर और वहाँ से निकल कर भिक्षुओं मे बाँटना चाहिए—यह वहाँ उचित है ॥ ८३ ॥

३५. पञ्चविंसतिमपाचित्तियं—पवारिते पुन खादने

श्रावस्ती मे किसी ब्राह्मण ने भिक्षुओं को निमन्त्रित किया। भिक्षुओं ने उसके यहाँ भोजन किया और अन्य स्थानों से भोजन लिया। भगवान् ने यह जानकर नियम बनाया—

३५. "यो पन भिक्खु भुत्तावी पवारितो अनतिरित्तं खादनीयं वा भोजनीयं वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥८४॥

३५. जो भिक्षु भोजनकर लेने पर तृप्त हो जाने पर खादनीय या भोजनीय वस्तु को अधिक खाये या भोजन करे, तो पाचित्तिय है ॥८४॥

३६. छत्तिंसतिमपाचित्तियं—भुत्ताविं पुन पवारणे

कोसल से श्रावस्ती को दो भिक्षु आ रहे थे। उनमें एक अनाचारी था। दूसरे ने उससे अनाचारिता से दूर रहने के लिए कहा। उसे यह अच्छा नहीं लगा। श्रावस्ती मे आने पर अनाचारी भिक्षु पिण्डपात ले आया और भोजन कर लेने के बाद भी दूसरे भिक्षु को साग्रह खिलाया। खिलाने पर आक्षेप किया। भ० ने यह जानकर नियम बनाया—

३६. "यो पन भिक्खु भिक्खुं भुत्ताविं पवारितं अनतिरित्तेन खादनीयेन वा भोजनीयेन वा अभिहट्ठुं पवारेय्य—'हन्द, भिक्खु, खाद वा भुञ्ज वा' ति, जानं आसादनापेक्खो, भुत्तस्मिं, पाचित्तियं" ति ॥८५॥

३६. जो भिक्षु किसी भिक्षु के भोजन कर लेने पर तृप्त हो जाने पर, अधिक खादनीय या भोजनीय वस्तु को साग्रह लाकर दे—"अहो भिक्षु! खाओ, भोजन करो"—यह सोचकर कि यदि यह भिक्षु इस भोजन को ग्रहण कर लेगा तो बाद में आक्षेप करूँगा, तो पाचित्तिय है ॥८५॥

३७. सत्ततिंसतिमपाचित्तियं—वकालभोजने

राजगृह मे लोगों ने नहा-धोकर सत्तरस भिक्षुओ को भोजनदान दिया। आराम मे जाकर उन्होने विकाल भोजन किया। षड्वर्गीय भिक्षुओं ने इसकी निन्दा की। भगवान् ने नियम बनाया—

३७, "यो पन भिक्खु विकाले खादनीयं वा भोजनीयं वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा पाचित्तियं ति ॥८६॥

३७. जो भिक्षु विकाल (मध्याह्न के पश्चात्) मे खाद्य अथवा भोज्य पदार्थ खाये या भोजन करे तो पाचित्तिय है ॥८६॥

३८. अट्ठतिंसतिमपाचित्तियं—सन्निधिकारे

आयुष्मान आनन्द का उपाध्याय बेलट्ठसीस भिक्षा लेकर आराम मे सुख-पूर्वक रहता और यथेष्ट भोजन किया करता था। कई दिनो बाद एक बार जब भिक्षाचर्या करते हुए भिक्षुओ ने उन्हे देखा तो पूछा—क्या आप संचित भोजन करते हैं? बेलट्ठसीस ने उसे स्वीकार किया। तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

३८. "यो पन भिक्खु सन्निधिकारकं खादनीयं वा भोजनीयं वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥८७॥

३८. जो भिक्षु खाद्य या भोज्य को खाये या संचित भोजन करे तो पाचित्तिय है ॥८७॥

३९. ऊनचत्तारीसतिमपाचित्तियं—पणीतभोजनविञ्ञापने

षड्वर्गीय भिक्षु अपने लिए प्रणीत और खाद्य भोजन मंगवाकर खाते थे। भ० ने नियम बनाया—

३९. "यानि खो पन तानि पणीतभोजनानि, सेय्यथीद[1]—सप्पि नवनीतं तेलं, मधु, फाणितं, मच्छो, मंसं, खीरं, दधि। यो पन भिक्खु एवं रूपानि पणीतभोजनानि अगिलानो अत्तनो अत्थाय, विञ्ञापेत्वा भुञ्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८८॥

३९. वे जो उत्तम भोजन माने गये हैं, जैसे—घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड, मछली, मास, दूध, दही—जो भिक्षु ऐसे उत्तम भोजन को रोगी न होने पर भी अपने लिए माँग कर खाये तो पाचित्तिय है ॥८८॥

४०. चत्तारीसतिमपाचित्तियं—दन्तपोनखादने

वैशाली मे कोई भिक्षु पासुकूलिक होकर श्मशान मे रहता था। वह किसी की दी हुई चीज ग्रहण नही करता था। स्वयं लेकर खाता-पीता था। यह जान कर भिक्षु उस पर कुपित हुए। तब भ० ने नियम बनाया—

४०. "यो पन भिक्खु अदिन्नं मुखद्वारं आहारं आहरेय्य, अञ्ञत्र उदकदन्तपोना, पाचित्तियं" ति ॥८९॥

४०. जो भिक्षु जल और दातौन के अतिरिक्त बिना दिया आहार ग्रहण करे तो पाचित्तिय है ॥८९॥

५. अचेलकवग्गो पञ्चमो

४१. एकचत्तारीसतिमपाचित्तियं—अञ्ञतित्थियानं भोजनदाने

कोई भिक्षु आजीवक भिक्षु के लिए घी, भात आदि भोजन दिया करता था। उपासकों ने यह बात भ० से कही। भ० ने नियम बनाया—

४१. "यो पन भिक्खु अचेलकस्स वा परिब्बाजकस्स वा परिब्बाजिकाय वा सहत्था खादनीयं वा भोजनीयं वा ददेय्य, पाचित्तियं" ति ॥९०॥

---

1. सेय्यथिद—म.।

४१. जो भिक्षु अचेलक (नग्न साधु), परिव्राजक या परिव्राजिका को अपने हाथ से खाद्य या भोजन दे तो पाचित्तिय है ॥६०॥

४२. बाचत्तारीसतिमपाचित्तियं—भिक्खु उय्योजने

श्रावस्ती में उपनन्द भिक्षु ने किसी अन्य भिक्षु से कहा—"चलो गाँव में भोजन के लिए चलें"। उसे ले जाकर बाद में कहा—"तुम जाओ, तुम्हारे साथ रहना हमे अनुकूल नहीं"। उस भिक्षु ने आराम मे जाकर यह बात भिक्षुओं और भगवान् को कही। भ० ने शिक्षापद दिया—

४२. "यो पन भिक्खु भिक्खु[1]–'एहावुसो, गामं वा निगमं वा पिण्डाय पविसिस्सामी' ति तस्स दापेत्वा वा अदापेत्वा वा उय्योजेय्य—'गच्छावुसो, न मे तया सद्धिं कथा वा निसज्जा वा फासु होति, एककस्स मे कथा वा निसज्जा वा फासु होती' ति, एतदेव पच्चय करित्वा अनञ्ञं, पाचित्तियं" ति ॥ ६१ ॥

४२. जो भिक्षु भिक्षु से ऐसा कहे—"आओ आवुस ! ग्राम अथवा निगम मे भिक्षाटन के लिए चलें।" फिर उसे दिलाकर या न दिलाकर प्रेरित करे—"आवुस ! जाओ, तुम्हारे साथ मुझे बात करना या बैठना अच्छा नहीं लगता। "अकेले ही बैठना अच्छा लगता है।" दूसरा कारण न होने पर, केवल इतना ही यदि कारण है तो पाचित्तिय है ॥६१॥

४३. तेचत्तारीसतिमपाचित्तियं—कुले अनुपखज्ज निसज्जने

श्रावस्ती मे आयुष्मान् उपनन्द सहायक (मित्र) के घर जाकर उसकी स्त्री से बात कर रहा था। इतने मे उसका पति आया। उसने कहा आयुष्मान् को भिक्षा दे दो। स्त्री ने भिक्षा दे दी। पति ने कहा उपनन्द से कि तुम जाओ। पर पत्नी कहती—मत जाओ। पति ने आकर यह बात भ० से कही। भ० ने नियम बनाया—

४३. "यो पन भिक्खु सभोजने कुले अनुपखज्ज निसज्जं कप्पेय्य, पाचित्तियं" ति ॥६२॥

४३. जो भिक्षु भोजनवाले कुल मे प्रविष्ट होकर लगातार बैठता है, उसे पाचित्तिय है ॥६२॥

४४ चतुचत्तारीसतिमपाचित्तियं—मातुगामेन रहो निसज्जने

श्रावस्ती मे भिक्षु उपनन्द सहायक (मित्र) के घर जाकर उसकी स्त्री से

---

1. भिक्खु एवं वदेय्य—स्या०।

एकान्त स्थान में बैठकर बात किया करता था। मित्र ने आकर यह बात भ० से कही। भ० ने कहा—

४४. "यो पन भिक्खु मातुगामेन सद्धिं रहो पटिच्छन्ने आसने निसज्जं कप्पेय्य, पाचित्तियं" ति ॥६३॥

४४. जो भिक्षु स्त्री के साथ एकान्त मे प्रतिच्छन्न (आवृत) आसन में बैठे तो पाचित्तिय है ॥६३॥

४५. पञ्चचत्तारीसतिमपाचित्तियं—एको एकाय रहो निसज्जने

उपनन्द सहायक की स्त्री के साथ अकेले एकान्त स्थान में बैठता था। भ० ने कहा—

४५. "यो पन भिक्खु मातुगामेन सद्धिं एको एकाय रहो निसज्जं कप्पेय्य, पाचित्तियं" ति ॥६४॥

४५. जो भिक्षु स्त्री के साथ अकेले, एकान्त मे गुप्त रूप से बैठे, तो पाचित्तिय है ॥६४॥

४६. छचत्तारीसतिमपाचित्तियं—कुलानि पयिरुपासने

उपनन्द भिक्षु उपासक के द्वारा निमन्त्रित होने पर भोजन के पूर्व ही भोजन रहते हुए भी उसके घर पहुँचकर भिक्षा माँगता था। उपासक ने भगवान् से कहा। भ० ने कहा—

४६. "यो पन भिक्खु निमन्तितो सभत्तो समानो सन्तं भिक्खुं अनापुच्छा पुरेभत्तं वा पच्छाभत्तं वा कुलेसु चारित्तं आपज्जेय्य, अञ्ञत्र समया, पाचित्तियं। तत्थायं समयो। चीवरदानसमयो, चीवरकारसमयो—अयं तत्थ समयो" ति ॥६५॥

४६. जो भिक्षु समय के अतिरिक्त, निमंत्रित होने पर भोजन रहने पर भी सामने बैठे भिक्षु को बिना पूछे भोजन के पहले या पीछे गृहस्थो के घर मे जाय तो पाचित्तिय है। वहाँ यह समय है—चीवर-दान का समय, चीवर बनाने का समय—वहाँ यह समय है ॥६५॥

४७. सत्तचत्तारीसतिमपाचित्तियं—पच्चयपवारणसादियने

महानाम शाक्य संघ को चातुर्मासिक भैषज्य आदि देना चाहता था। तथा-

गत ने उसे अनुमति दे दी। पर भिक्षु आवश्यकता से अधिक ग्रहण करने लगे। इस पर तथागत ने नियम बनाया—

४७. "अगिलानेन भिक्खुना चतुमासप्पच्चयपवारणा सादितब्बा, अञ्ञत्र पुनपवारणाय, अञ्ञत्र निच्चपवारणाय; ततो चे उत्तरिं सादियेय्य, पाचित्तियं" ति ॥६६॥

४७. निरोग भिक्षु को पुनः प्रवारणा और नित्य प्रवारणा के अतिरिक्त चातुर्मास के भोजन आदि पदार्थ के दान का सेवन करना चाहिये। उससे बढ़कर यदि सेवन करे तो पाचित्तिय है ॥६६॥

४८. अट्ठचत्तारीसतिमपाचित्तियं—उय्युत्तसेनादस्सने

श्रावस्ती मे पसेनदिकोसल (प्रसेनजित) के सेना-प्रदर्शन को देखने के लिए षड्वर्गीय भिक्षु आये। पसेनदिकोसल ने उन भिक्षुओं से आने का कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि आपके ही दर्शन करने आये हैं। राजा ने कहा—तथागत के दर्शन कीजिये। मेरे दर्शन करने से क्या लाभ! इस पर उन भिक्षुओं को अन्य भिक्षुओं और लोगो ने निन्दात्मक शब्द कहे। भगवान् ने नियम बनाया—

४८. "यो पन भिक्खु उय्युत्तं सेनं दस्सनाय गच्छेय्य, अञ्ञत्र तथारूपप्पच्चया, पाचित्तियं" ति ॥६७॥

४८. जो भिक्षु किसी कार्य के बिना सेना-प्रदर्शन को देखने जाय तो पाचित्तिय है ॥६७॥

४६. ऊनपञ्ञासमपाचित्तियं—सेनाय वासे

षड्वर्गीय भिक्षुओ ने सेनानिवेश मे तीन रात से भी अधिक समय व्यतीत किया। भ० ने इस पर नियम बनाया—

४६. "सिया च तस्स भिक्खुनो कोचिदेव पच्चयो सेनं गमनाय, दिरत्ततिरत्तं तेन भिक्खुना सेनाय वसितब्बं। ततो चे उत्तरिं वसेय्य, पाचित्तियं" ति ॥६८॥

४६. यदि उस भिक्षु को सेना मे जाने का कोई विशेषकार्य हो तो उसे दो-तीन रात सेना मे रहना चाहिए। उससे अधिक रहे तो पाचित्तिय है ॥६८॥

५०. पञ्ञासमपाचित्तियं—उय्योधिकगमने

षड्वर्गीय भिक्षु सेना-निवेश मे दो-तीन रात रहते हुए भी सेना व्यूह को देखने जाते थे। तथागत ने इस घटना पर नियम बनाया—

1. उत्तरि—म०, रो०।

५०. "दिरत्ततिरत्तं चे भिक्खु सेनाय वसमानो उय्योधिकं वा बलग्गं वा सेनाब्यूहं वा अनीकदस्सनं वा गच्छेय्य, पाचित्तियं" ति ॥९९॥

५०. दो-तीन रात रहते हुए भी यदि भिक्षु रण-क्षेत्र, सेना का अग्रभाग, सेना-व्यूह या अनीक (सेना के विभिन्न संकायों की क्रमिक स्थापना) को देखने जाए, तो पाचित्तिय है ॥९९॥

६· सुरापानवग्गो छट्ठो

५१· एकपञ्ञासमपाचित्तियं—सुरापाने

बुद्ध भद्रावती की ओर जा रहे थे। मार्ग में गोपालक मिले। उन्होंने बुद्ध से कहा—जटिलाश्रम में न जायें। वहाँ एक बड़ा नाग रहता है। भगवान् भद्रावती मे पहुँचे। सागत उसी आश्रम मे जाकर ध्यानस्थ हो गये। ध्यान के प्रभाव से नाग स्वत. समाप्त हो गया। कौशाम्बी के उपासको ने यह जानकर कहा कि अम्बतित्थक नाग से सागत का सग्राम हुआ। एकबार भिक्षा के समय उपासकों ने पूछा सागत के लिए क्या दुर्लभ है ? षड्वर्गीय भिक्षुओ ने कहा—कापोतक पसन्ना। उपासको ने सागत भिक्षु को कापोतक पसन्ना दे दी। पीने के बाद सागत गिरते हुए दिखाई दिये। भगवान् ने नियम बनाया—

५१. "सुरामेरय पाने पाचित्तिय" ति ॥१००॥

५१. सुरा (पकी शराब) और मेरय (कच्ची शराब) पीने मे पाचित्तिय है ॥१००॥

५२. द्वापञ्ञासमपाचित्तियं—अङ्गुलिपतोदके

षड्वर्गीय भिक्षु सत्तरसवर्गीय भिक्षु को अंगुलि से गुदगुदाकर हँसा रहे थे। तब भगवान् ने नियम बनाया।

५२. "अङ्गुलिपतोदके पाचित्तिय" ति ॥१०१॥

५२. अंगुलि से गुदगुदाने या हँसाने मे पाचित्तिय है ॥१०१॥

५३. तेपञ्ञासमपाचित्तियं—उदके हसधम्मे

श्रावस्ती मे सत्तरसवर्गीय भिक्षु अचिरवती नदी के किनारे क्रीडा कर रहे थे। पसेनदिकोसल ने उनका यह खेल अपने प्रासाद के ऊपरी भाग से देख लिया। भगवान् को यह बताने के लिए उन्होंने उन भिक्षुओं को गुड़पिण्ड दे दिया, यह कहकर कि उसे भगवान् को दे दें। भिक्षुओ ने जाकर भगवान् को दिया। वार्ता के बीच पता चला भिक्षु उदक क्रीड़ा कर रहे थे। भगवान् ने नियम बनाया।

५३. "उदके हसधम्मे पाचित्तियं"[1] ति ॥१०२॥

५३. जल मे उपहास करने मे पाचित्तिय है ॥१०२॥

५४. चतुपञ्ञासमपाचित्तियं—अनादरिये

कौशाम्बी मे भिक्षु छन्न अनाचरण करता था। रोकने पर और भी अनादर-पूर्वक अनाचार मे लीन हो जाता। यह जानकर भगवान् ने कहा—

५४. "अनादरिये पाचित्तिय" ति ॥१०३॥

५४. अनादर करने में पाचित्तिय है ॥१०३॥

५५. पञ्चपञ्ञासमपाचित्तियं—भिसापने

षड्वर्गीय भिक्षु सत्तरसवर्गीय को डरवाते थे। तब भगवान् ने नियम बनाया—

५५. "यो पन भिक्खु भिक्खुं भिसापेय्य पाचित्तियं" ॥१०४॥

५५. जो भिक्षु भिक्षु को भय उत्पन्न करे तो पाचित्तिय है ॥१०४॥

५६. छपञ्ञासमपाचित्तियं—जोतिविसिब्बने

कुछ भिक्षु हेमन्तकाल मे आग जलाकर तापते थे। उस समय लकडी मे कृष्णसर्प सन्तप्त होकर निकला। भिक्षु उसे देखकर भागे। तब भगवान् ने कहा—

५६. "यो पन भिक्खु अगिलानो विसिब्बनापेक्खो[2] जोतिं समादहेय्य वा समादहापेय्य वा, अञ्ञत्र तथारूपप्पच्चया, पाचित्तिय" ति ॥१०५॥

५६. जो भिक्षु वैसी आवश्यकता न होने पर निरोग होते हुए आग तापने की इच्छा से (विसिब्बिनापेक्खो) आग जलाये या जलवाये तो पाचित्तिय है ॥१०५॥

५७. सत्तपञ्ञासमपाचित्तियं—नहाने

राजगृह मे भिक्षु ग्रीष्म मे नहाते थे। बिम्बिसार विकाल मे नहाकर विलेपन लगाकर भगवान् के पास पहुँचा। उसे देखकर भिक्षुओ को नियम बनाया गया—

५७. "यो पन भिक्खु ओरेनद्धमासं नहायेय्य, अञ्ञत्र समया, पाचित्तिय। तत्थाय समयो। दियड्ढो मासो सेसो गिम्हानं ति वस्सानस्स पठमो मासो इच्चेते अड्ढतेय्यमासा उण्हसमयो, परिळाहसमयो, गिलान-

1. हस्सधम्मे—सी०, स्या०; हासधम्मे—रो०। 2. विसीवनापेक्खो—स्या०।

समयो, कम्मसमयो, अद्धानगमनसमयो, वातवुट्ठिसमयो — अयं तत्थ समयो' ति ॥१०६॥

५७. जो भिक्षु समय के अतिरिक्त आधा मास से पहले (ओरेनद्धमासं) नहाये तो पाचित्तिय है। वहाँ समय यह है—ग्रीष्म के पीछे का डेढ़ माह और वर्षा का प्रथम माह, यह ढाई माह और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (परिवे ा को साफ करने आदि का) समय, रास्ता चलने का समय तथा आँधी-पानी का समय—यह वहाँ समय है ॥१०६॥

५८ अट्ठपञ्ञासमपाचित्तियं—दुब्बण्णकारणे

साकेत से श्रावस्ती आते समय कुछ भिक्षुओं के चीवर चोरों ने छीन लिये। राजभटों ने उन चोरों को पकड़कर चीवर वापिस दिलवा दिये। पर भिक्षु उन चीवरों को पहचान नहीं सके। तब भ० ने यह शिक्षापद दिया—

५८. "नवं पन भिक्खुना चीवरलाभेन तिण्ण दुब्बण्णकरणानं अञ्ञतरं दुब्बण्णकरण आदातब्ब—नील वा कद्दम वा कालसामं वा। अनादा चे भिक्खु तिण्ण दुब्बण्णकरणानं अञ्ञतर दुब्बण्णकरण नव चीवरं परिभुञ्जेय्य, पाचित्तिय' ति ॥१०७॥

५८. भिक्षु को नया चीवर पाने पर नीला (कंसनीला या पलासनीला), काला या कीचड़ इन तीन दुर्वर्ण करनेवाले पदार्थों मे से एक से बदरंग (दुर्वर्ण) करना चाहिये। यदि भिक्षु तीन बदरग (दुर्वर्ण) करनेवाले पदार्थों मे से किसी एक से नये चीवर को बिना बदरग (दुर्वर्ण) किये उपयोग करे, तो पाचित्तिय है ॥१०७॥

५९. ऊनसट्ठिमपाचित्तियं—चीवरविकप्पने

श्रावस्ती मे उपनन्द ने स्वयं ही एक भिक्षु को चीवर प्रदान कर उसका उपभोग करने लगा। भ० ने यह शिक्षापद दिया—

५६. 'यो पन भिक्खु भिक्खुस्स वा भिक्खुनिया वा सिक्खमानाय वा सामणेरस्स वा सामणेरिया वा सामं चीवरं विकप्पेत्वा अप्पच्चुद्धारणं परिभुञ्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०८॥

५६. जो भिक्षु दूसरे भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रामणेर या श्रामणेरी को स्वयं चीवर प्रदान कर बिना लौटाने की सम्मति पाये उपयोग करे तो पाचित्तिय है ॥१०८॥

६०. सट्ठिमपाचित्तियं—चीवरअपनिधाने

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षु सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं के पास चीवर आदि छिपा देते थे और पूछने पर हँसते थे। सत्तरसवर्गीय भिक्षु रोते थे। भ० ने यह घटना जानकर शिक्षापद दिया—

६०. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स पत्तं वा चीवरं वा निसीदनं वा सूचिघरं वा कायबन्धन वा अपनिधेय्य वा अपनिधापेय्य वा, अन्तमसो हसापेक्खो[1] पि, पाचित्तिय" ति ॥१०६॥

६०. जो भिक्षु दूसरे भिक्षु के पात्र, चीवर, आसन, सुई रखने की फोंफी (सूचीघर) या कमरबन्द (कायबन्ध) को हटाकर चाहे परिहास के लिए ही क्यों न रखे, पाचित्तिय है ॥१०६।

७. सप्पाणकवग्गो सत्तमो

६१. एकसट्ठिमपाचित्तियं—सञ्चिच्च पाणं जीविता वोरोपने

उदायी भिक्षु कौओं को मारते और उनका शीर्ष भाग अलग कर टांग देते। भ० ने इसकी निन्दा की और नियम बनाया—

६१. "यो पन भिक्खु सञ्चिच्च पाणं जीविता वोरोपेय्य, पाचित्तिय" ति ॥११०॥

६१. जो भिक्षु जानबूझ कर जीव-हिंसा करे तो पाचित्तिय है ॥११०॥

६२. द्वासट्ठिमपाचित्तियं – सप्पाणक उदकपाने

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षु जानबूझ कर जीवयुक्त पानी पीते थे। तब भ० ने नियम बनाया—

६२. "यो पन भिक्खु जानं सप्पाणकं उदकं परिभुञ्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१११॥

६२. जो भिक्षु जानकर प्राणियुक्त जल को पिये तो पाचित्तिय है ॥१११॥

६३. तेसट्ठिमपाचित्तियं—अधिकरणउक्कोटने

षड्वर्गीय भिक्षु धर्मानुसार निर्णय हो जाने पर भी उसे फिर से उठाते थे। भ० ने इसकी निन्दा की और कहा—

६३. "यो पन भिक्खु जानं यथाधम्मं निहताधिकरणं पुनकम्माय उक्कोटेय्य, पाचित्तिय" ति ॥११२॥

---

1. हासापेक्खा—रो०, हस्सापेक्खा—सी०, स्या०।

६४. चतुसट्ठिमपाचित्तियं—दुट्ठुल्लापत्तिपटिच्छादने

आयुष्मान् उपनन्द अपना वीर्यमोचन दोष छिपाना चाहते थे। उसी समय कोई अन्य भिक्षु भी इसी दोष से दूषित हो गया। संघ ने उसे परिवास का दण्ड दिया। उसने कहा उपनन्द भी इस दोष से दूषित है। तब भ० ने नियम बनाया—

६४. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स जानं दुट्ठुल्लं आपत्तिं पटिच्छादेय्य, पाचित्तिय" ति ॥११३॥

६४. जो भिक्षु जानते हुए भिक्षु से दुट्ठुल्ल (पाराजिका और संघादिशेष) अपराध को छिपाये तो पाचित्तिय है ॥११३॥

६५. पञ्चसट्ठिमपाचित्तियं—ऊनवीसतिवस्स उपसम्पादने

सत्तरसवर्गीय दारको-सहायको मे उपालिदारक प्रधान था। उसके माता-पिता ने सोचा—गणना आदि की शिक्षा से उपालि को कष्ट होगा पर श्रमण भिक्षु बनाने से वह सुखी होगा। उपालि और उसके साथियो को श्रमण दीक्षा मिल गई। एक दिन प्रात:काल ही उठकर व दारक भिक्षु रोते और कहते हैं—भात दो, खिचडी दो, भोजन दो। प्रात:काल भ० ने ये रुदन शब्द सुने। तब उन्होंने कहा—

६५. "यो पन भिक्खु जानं ऊनवीसतिवस्सं पुग्गलं उपसम्पादेय्य, सो च पुग्गलो अनुपसम्पन्नो, ते च भिक्खू गारय्हा, इदं तस्मिं पाचित्तियं" ति ॥११४॥

६५. जो भिक्षु जानते हुए बीस वर्ष मे कम के व्यक्ति को उपसम्पन्न करे तो वह व्यक्ति उपसम्पन्न न समझा जाये और उपसम्पन्न करनेवाले भिक्षु भी निन्दनीय हैं—यह उसमे पाचित्तिय है ॥११४॥

६६. छसट्ठिमपाचित्तियं—थेय्यसत्थेन मग्गपटिपज्जने

एक सार्थ राजगृह से जा रहा था। किसी भिक्षु ने उसके साथ जाने की इच्छा व्यक्त की। यह जानते हुए भी कि यह साथ चोरों का है, वह भिक्षु दूसरे गाँव तक सार्थ के साथ गया। भ० ने इस घटना पर शिक्षापद दिया—

६६. "यो पन भिक्खु जानं थेय्यसत्थेन सद्धिं संविधाय एकद्धानमग्गं पटिपज्जेय्य, अन्तमसो गामन्तरं पि, पाचित्तिय" ति ॥११५॥

६६. जो भिक्षु जानते हुए चोरों के सार्थ के साथ एक रास्ते से चाहे दूसरे गाँव तक ही जाय तो पाचित्तिय है ॥११५॥

६७. सत्तसट्ठिमपाचित्तियं—मातुगामेन मग्गपटिपज्जने

एक भिक्षु कोसल से श्रावस्ती जा रहा था पतिविग्रही स्त्री भी भिक्षु की अनुमतिपूर्वक उसके साथ चल पड़ी। इसके बाद अपनी स्त्री को खोजते हुए पति ने भिक्षु के साथ उसे पाया। फलत. भिक्षु को उसने पीटा और किसी तरह उसे छोडा। भगवान् ने यह जानकारी होने पर नियम बनाया—

६७' "यो पन भिक्खु मातुगामेन सद्धिं संविधाय एकद्धानमग्गं पटिपज्जेय्य, अन्तमसो गामन्तरं पि, पाचित्तियं" ति ॥११६॥

६७. जो भिक्षु सलाह करके स्त्री के साथ एक रास्ते से, भले ही दूसरे गाँव तक जाय तो पाचित्तिय है ॥११६॥

६८. अट्ठसट्ठिमपाचित्तियं – मिच्छादिट्ठिय

अरिट्ठ शत्रु के मन मे यह पापमयी दृष्टि आई कि मैं भगवान् के धर्म को ऐसे जानता हूँ कि भ० ने जिन धर्मों को विघ्नकारक कहा है, उनके सेवन करने पर भी वे विघ्न पैदा नही कर सकते। "यह सुनकर अन्य भिक्षुओ ने कहा—भ० पर इस प्रकार का आरोप न लगायें। यह सही नही है।" भगवान् ने यह जानकर अपने सिद्धान्त को स्पष्ट किया और नियम बनाया—

६८. "यो पन भिक्खु एवं वदेय्य—'तथाहं भगवता धम्मं देसितं आजानामि यथा येमे अन्तरायिका धम्मा वुत्ता भगवता ते पटिसेवतो नालं अन्तरायाया' ति सो भिक्खु भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—'आयस्मा एवं अवच, मा भगवन्तं अब्भाचिक्खि, न हि साधु भगवतो अब्भक्खानं, न हि भगवा एवं वदेय्य, अनेकपरियायेनावुसो, अन्तरायिका धम्मा अन्तरायिका वुत्ता भगवता, अलं च पन ते पटिसेवतो अन्तरायाया' ति। एवं च पन[3] सो भिक्खु भिक्खूहि वुच्चमानो तथेव पग्गण्हेय्य, सो भिक्खु भिक्खूहि यावततियं समनुभासितब्बो तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासियमानो तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं, नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥११७॥

६८. जो भिक्षु ऐसा कहे—"मैं भगवान् के धर्म को ऐसा जानता हूँ कि भगवान् ने जिन धर्मों का निर्वाण प्राप्ति के लिए विघ्नकारक कहा है, उनके

3. सी०, स्या० पोत्थकेसु नत्थि।

सेवन करने पर भी वे विघ्नकारक नहीं हो सकते।" तो भिक्षुओं को उसे ऐसा कहना चाहिए—"मत आयुष्मान्! ऐसा कहे। मत भगवान् पर मिथ्यारोप लगायें। भगवान् पर मिथ्यारोपण करना अच्छा नहीं है। भगवान् ऐसा नहीं कह सकते भगवान् ने निर्वाण के लिए विघ्नकारक धर्मों को अनेक प्रकार से विघ्न करने वाले कहा है। सेवन करने पर वे विघ्न करते हैं—कहा है।' इस प्रकार भिक्षुओं के कहने पर वह भिक्षु यदि हठ करे, तो भिक्षुओं को तीन बार तक उसे छोड़ने के लिए उस भिक्षु को कहना चाहिए। यदि तीन बार कहे जाने पर उसे छोड़ दे तो ठीक, अन्यथा पाचित्तिय है ॥११७॥

६९. एकूनसत्ततिमपाचित्तियं—उक्खित्तसम्भोगे

षड्वर्गीय भिक्षु जानबूझ कर उक्त प्रकार से कहने वाले अरिट्ठ भिक्षु के साथ भोजन करते, एक साथ रहते और सोते। भ० ने यह जानकर नियम बनाया—

६९. "यो पन भिक्खु जानं तथावादिना भिक्खुना अकटानुधम्मेन त दिट्ठिं अप्पटिनिस्सट्ठेन सद्धिं सम्भुञ्जेय्य वा सवसेय्य[1] वा सह वा सेय्य कप्पेय्य, पाचित्तिय" ति ॥११८॥

६९. जो भिक्षु जानते हुए उस प्रकार की मिथ्या धारणावाले तथा धर्मानुसार विचार परिवर्तन न करनेवाले उक्त विचार को न छोड़नेवाले, भिक्षु के साथ भोजन करे, एक साथ रहे या एक साथ सोये तो पाचित्तिय है ॥११८॥

७०. सत्ततिमपाचित्तियं—नासितकसामणेरसम्भोगे

श्रमणोद्देस (भिक्षु बनने का उम्मीदवार) अरिट्ठ जैसे भिक्षुओ की वन्दना करते, आदर सम्मान करते। तब भ० ने नियम बनाया—

७०. "समणुद्देसो पि चे एवं वदेय्य—'तथाहं भगवता धम्मं देसित आजानामि यथा येमे अन्तरायिका धम्मा वुत्ता भगवता ते पटिसेवतो नालं अन्तरायाया' ति, सो समणुद्देसो भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—'मावुसो समणुद्देसो, एवं अवच, मा भगवन्तं अब्भाचिक्खि, न हि साधु भगवतो अब्भक्खानं, न हि भगवा एवं वदेय्य। अनेकपरियायेन, आवुसो समणुद्देस, अन्तरायिका धम्मा अन्तरायिका वुत्ता भगवता। अलं च पन ते पटिसेवतो अन्तरायाया' ति। एवं च पन[2] सो समणुद्देसो भिक्खूहि वुच्चमानो तथेव पग्गण्हेय्य, सो समणुद्देसो भिक्खूहि एवमस्स वचनीयो—'अज्जतग्गे ते,

1. सेवासेय्य—रो०। 2. सी. स्या. पोत्थकेसु नत्थि।

आवुसो समणुद्देस, न चेव सो भगवा सत्था अपदिसितब्बो। य पि चञ्ञे समणुद्देसा लभन्ति भिक्खूहि सद्धिं दिरत्ततिरत्तं सहसेय्यं सा पि ते नत्थि। चर पिरे विनस्सा' ति। यो पन भिक्खु जानं तथानासितं समणुद्देसं उपलापेय्य वा उपट्ठापेय्य वा सम्भुञ्जेय्य वा सह वा सेय्यं कप्पेय्य पाचित्तियं'' ति ॥११६॥

७०. श्रमणोद्देश भी यदि ऐसा कहे—"मैं भगवान् के धर्म को ऐसा जानता हूँ कि भगवान् ने जिन धर्मों को निर्वाण प्राप्त करने के लिए विघ्नकारक कहा है, उनके सेवन करने पर भी वे विघ्न उपस्थित नही कर सकते।'' तो भिक्षुओ को उसे ऐसा कहना चाहिए—"आवुस श्रमणोद्देश! मत ऐसा कहो। मत भगवान् पर मिथ्यारोपण करो। भगवान् पर मिथ्यारोपण करना अच्छा नही है। भगवान् ऐसा नही कह सकते। भगवान् ने विघ्नकारक धर्मों को अनेक प्रकार से विघ्न करने वाले कहा है। उनके सेवन करने पर व विघ्न उपस्थित करते है—कहा है।'' इस प्रकार भिक्षुओं द्वारा कहे जाने पर यदि वह श्रमणोद्देश हठ करे तो भिक्षु श्रमणोद्देश से ऐसा कहे—"आवुस श्रमणोद्देश! आज से तुम उन भगवान् को अपना शास्ता (गुरु) न कहना, और जो दूसरे श्रमणोद्देश दो रात, तीन रात तक भिक्षुओ के साथ रहते है वह भी तुम्हारे लिए नही है। जा, यहाँ से निकल जा, नष्ट हो जा।'' जो भिक्षु जानते हुए इस प्रकार के निकाले हुए श्रमणोद्देश को अपने पास रखे, उससे सेवा ले, साथ खाये या साथ सोये तो पाचित्तिय है ॥११६॥

८. सहधम्मिकवग्गो अट्ठमो

७१. सत्ततिमपाचित्तियं—नासितक सामणेरसम्भोगे

कौसाम्बी मे छन्न भिक्षु के अनाचार करते समय यह कहा जाता कि ऐसा करना तुम्हारे लिए योग्य नही है। उसके उत्तर मे छन्न कहता "मैं यह तब तक नही मानूँगा जब तक किसी अन्य विनयधर भिक्षु से न पूछ लूँ।'' यह जानकर भ० ने नियम बनाया—

७१. "या पन भिक्खु भिक्खूहि सहधम्मिकं वुच्चमानो एवं वदेय्य—'न तावाहं, आवुसो, एतस्मिं सिक्खापदे सिक्खिस्सामि याव न अञ्ञं भिक्खुं ब्यत्तं विनयधरं परिपुच्छामी' ति' पाचित्तियं। सिक्खमानेन, भिक्खवे, भिक्खुना अञ्ञातब्बं परिपुच्छितब्बं परिपञ्हितब्बं। अयं तत्थ सामीची'' ति ॥१२०॥

७१. जो भिक्षु भिक्षुओं के द्वारा धार्मिक सन्दर्भ कहे जाने पर इस प्रकार कहे—"आवुस ! मैं तब तक इन शिक्षा-पदों (नियमों) को नहीं सीखूँगा जब तक कि दूसरे चतुर विनयधर भिक्षु से न पूछ लूँ, तो पाचित्तिय है। भिक्षुओ ! सीखने वाले भिक्षु को जानना चाहिए, पूछना चाहिए, प्रश्न करना चाहिए— यह वहाँ उचित है ॥१२०॥

७२. द्वासत्तिमपाचित्तियं—सिक्खापदविवण्णके

श्रावस्ती मे भगवान् बुद्ध अनेक प्रकार से विनय कथा कहते। भिक्षु उपालि के पास जाकर उसे समझते। परन्तु षड्वर्गीय भिक्षु भिक्षुओ के पास जाकर कहते—"इन क्षुद्र नियमो से क्या लाभ जो पीड़ाकारी हों। यह जानकर भिक्षुओं ने उसकी निन्दा की और भ० ने शिक्षापद दिया—

७२. "यो पन भिक्खु पातिमोक्खे उद्दिस्समाने एव वदेय्य—'किं पनिमेही खुद्दानुखुद्दकेहि सिक्खापदेहि उद्दिट्ठेहि, यावदेव कुक्कुच्चाय विहेसाय विलेखाय संवत्तन्ती' ति, सिक्खापदविवण्णके पाचित्तियं" ति ॥१२१॥

७२. जो भिक्षु पातिमोक्ख की आवृत्ति करते समय ऐसा कहे—"इन छोटे-छोटे शिक्षापदों की आवृत्ति की क्या उपयोगिता है। जो सन्देह, पीडा और दुःख पैदा करनेवाले हैं। इस प्रकार शिक्षा-पद के विरुद्ध कथा करने मे पाचित्तिय है ॥१२१॥

७३. तेसत्तिमपाचित्तियं—मोहनके

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षु अनाचार करते थे। अन्य भिक्षुओ के कहने पर वे कहते—"मैं यह जानता हूँ कि प्रातिमोक्ष की आवृत्ति प्रत्येक पक्ष मे होना चाहिए। भगवान् ने यह जानकर शिक्षापद दिया—

७३. "यो पन भिक्खु अन्वद्धमासं पातिमोक्खे उद्दिस्समाने एवं वदेय्य—'इदानेव खो अहं जानामि, अयं पि किर धम्मो सुत्तागतो सुत्तपरियापन्नो अन्वद्धमासं उद्देसं आगच्छती' ति। त चे भिक्खुं अञ्ञे भिक्खू जानेय्युं निसिन्नपुब्बं इमिना भिक्खुना द्वत्तिक्खत्तुं[1] पातिमोक्खे उद्दिस्समाने, को पन वादो भिय्यो[2], न च तस्स भिक्खुनो अञ्ञाणकेन मुत्ति अत्थि, यं च तत्थ आपत्तिं आपन्नो तं च यथाधम्मो कारेतब्बो, उत्तरिं[3] चस्स मोहो आरोपेतब्बो—'तस्स ते, आवुसो, अलाभा, तस्स ते दुल्लद्धं, यं त्वं पातिमोक्खे उद्दिस्समाने न साधुकं अट्ठिं कत्वा मनसि करोसी' ति। इदं तस्मिं मोहनके पाचित्तियं" ति ॥१२२॥

---

1. द्वित्तिक्खत्तुं—स्या०, रो०। 2. भीय्यो—सी०। 3. उत्तरिं—म०।

७३. जो भिक्षु प्रत्येक आधे माह भर पातिमोक्ख की आवृत्ति करते समय ऐसा कहे—"आवुस ! यह तो मैं अब जानता हूँ कि सूत्रों में आये, सूत्रों द्वारा अनुमोदित इस धर्म की भी प्रति पन्द्रहवें दिन आवृत्ति की जाती है। यदि भिक्षु उस भिक्षु को पूर्व से बैठा जानें, दो, तीन या अधिक पातिमोक्ख की आवृत्ति की जाने पर भी उसको वैसे ही पायें, तो बेसमझी के कारण वह भिक्षु मुक्त नहीं हो सकता। जो कुछ अपराध उसने किया है उसका धर्मानुसार प्रतिकार कराना चाहिए और आगे उस पर मोह का आरोप करना चाहिए—"आवुस ! तुझे अलाभ है, तुझे बुरा लाभ हुआ है जो कि पातिमोक्ख की आवृत्ति करते समय तू अच्छी तरह दृढ़कर मन मे धारणा नही करता।" उस मोह के करने में (मूढ़ता मे) पाचित्तिय है ॥१२२॥

७४. चतुसत्ततिमपाचित्तियं—पहारदाने

षड्वर्गीय भिक्षु सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं को पीटते थे। भ० ने यह जानकर शिक्षापद बनाया—

७४. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स कुपितो अनत्तमनो पहारं ददेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२३॥

७४. जो भिक्षु कुपित, और असन्तुष्ट होकर (किसी) भिक्षु को पीटे, तो पाचित्तिय है ॥१२३॥

७५. पञ्चसत्ततिमपाचित्तियं—तलसत्तिकउग्गिरणे

षड्वर्गीय भिक्षु कुपित होकर सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं को धमकाते थे। भ० ने तब यह शिक्षापद दिया—

७५. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स कुपितो अनत्तमनो तलसत्तिकं उग्गिरेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२४॥

७५. जो भिक्षु कुपित, असन्तुष्ट हो (किसी) भिक्षु को मारने का आकार दिखलाते हुए धमकाए, तो पाचित्तिय है ॥१२४॥

७६. छसत्ततिमपाचित्तियं—अमूलकानुद्धंसने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुओं ने किसी भिक्षु के ऊपर निर्मूल रूप से संघादिशेष का दोष लगाया। भ० ने तब यह नियम बनाया—

७६. "यो पन भिक्खु भिक्खुं अमूलकेन सङ्घादिसेसेन अनुद्धंसेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२५॥

७६. जो भिक्षु (किसी) भिक्षु के ऊपर निर्मूल संघादिशेष का लांछन लगाये, तो पाचित्तिय है ॥१२५॥

७७. सत्तसत्ततिमपाचित्तियं–कुक्कुच्च उपदहने

षड्वर्गीय भिक्षु सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं को परेशान करने के लिए जान-बूझकर यह कहते कि भगवान् ने बीस वर्ष से कम अवस्था वाले भिक्षु को उपसम्पदा देने के लिए अयोग्य घोषित किया है। तुम बीस वर्ष से कम ही अवस्था में उपसम्पन्न हो गये हो। सत्तरसवर्गीय भिक्षु यह सुनकर रोते थे। भगवान् ने इस अवस्था में नियम बनाया—

७७. "यो पन भिक्खु भिक्खुस्स सञ्चिच्च कुक्कुच्चं उपदहेय्य—'इतिस्स मुहुत्तं पि अफासु भविस्सती' ति एतदेव पच्चयं करित्वा अनञ्ञं, पाचित्तियं" ति ॥१२७॥

७७. जो भिक्षु, भिक्षु को केवल इसलिए कि उसे क्षणभर बेचैनी (दु:ख) होगी, जान-बूझकर सन्देह उत्पन्न करे, यदि अन्य कारण न हो, तो पाचित्तिय है ॥१२६॥

७८. अट्ठसत्ततिमपाचित्तियं–उपस्सुतिट्ठाने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षु शान्त भिक्षुओ के साथ कलह करते और कहते कि उन अलज्जी भिक्षुओ के साथ कलह करना सम्भव नही। दूसरे भिक्षु उनकी बात सुनते। तब भगवान् ने शिक्षापद दिया—

७८. "यो पन भिक्खु भिक्खूनं भण्डनजातानं कलहजातानं विवादापन्नानं उपस्सुतिं तिट्ठेय्य[1]—'य इमे भणिस्सन्ति तं सोस्सामी' ति एतदेव पच्चयं करित्वा अनञ्ञ, पाचित्तियं" ति ॥१२७॥

७८. जो भिक्षु झगड़ा करने वाले, कलह करने वाले, विवाद करने वाले भिक्षुओं की बात केवल इसलिए सुनने के लिए खडा हो कि 'ये जो कहेंगे उसे मैं सुनूँगा', यदि यही कारण हो, अन्य न हो, तो पाचित्तिय है ॥१२७॥

७९. ऊनासीतिमपाचित्तियं–कम्मपटिबाहने

षड्वर्गीय भिक्षु अनाचारी थे। किसी कारण से संघ एकत्रित हुआ। उन्होंने धार्मिक कार्य के लिए अपना मत दिया और बाद मे उसे अस्वीकार करने लगे। भगवान् ने इस घटना पर नियम बनाया—

1. तिट्ठेय्यं—सी०

७९. "यो पन भिक्खु धम्मिकानं कम्मानं छन्दं दत्वा पच्छा खीयनधम्मं आपज्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२८॥

७९. जो भिक्षु धार्मिक कर्मों के लिए अपनी सम्मति देकर पीछे मुकर जाता है, तो पाचित्तिय है ॥१२८॥

८०. असीतिमपाचित्तियं—छन्दं अदत्वा गते

षड्वर्गीय भिक्षु संघ का निर्णय होते समय अपना मत दिये बिना ही आसन से उठ पड़े। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

८०. "यो पन भिक्खु सङ्घे विनिच्छयकथाय वत्तमानाय छन्दं अदत्वा उट्ठायासना पक्कमेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२९॥

८०. जो भिक्षु संघ के निर्णय के समय अपनी सम्मति (छन्द) दिये बिना ही आसन से उठकर चला जाय, तो पाचित्तिय है ॥१२९॥

८१. एकासीतिमपाचित्तियं—चीवरं दिन्ने खिय्यने

दब्ब मल्लपुत्त के पास फटा चीवर था। संघ को एक चीवर मिला जिसे उसने दब्ब मल्लपुत्त को दे दिया। षड्वर्गीय भिक्षुओं ने बाद मे इस पर आपत्ति की। तब भगवान् ने कहा—

८१. "यो पन भिक्खु समग्गेन सङ्घेन चीवरं दत्वा पच्छा खीयनधम्मं आपज्जेय्य 'यथासन्थुतं भिक्खू सङ्घिकं लाभं परिणामेन्ती' ति, पाचित्तियं" ति ॥१३०॥

८१. जो भिक्षु समस्त सघ के साथ एकमत हो चीवर देकर पीछे मुकर जाता है—'मुँहदेखी करके ये भिक्षु सघ के धन को बाँटते है तो पाचित्तिय है ॥१३०॥

८२. द्वासीतिमपाचित्तियं—सङ्घिकलाभपरिणामने

कोई उपासक सघ के लिए चीवर दान देना चाहता था। षड्वर्गीय भिक्षु उसके पास पहुँच कर चीवर स्वय के लिए ले आये। भगवान् ने तब यह शिक्षापद दिया—

८२. "यो पन भिक्खु जानं सङ्घिकं लाभं परिणतं पुग्गलस्स परिणामेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१३१॥

८२. जो भिक्षु जानते हुए संघ के लिए मिले लाभ को एक व्यक्ति (पुग्गल) के लाभ के रूप मे परिणत करे, तो पाचित्तिय है ॥१३१॥

९. रतनवग्गो नवमो

८३. तेयासीतिमपाचित्तियं—राजन्ते पुरप्पवेसने

श्रावस्ती के अनाथपिण्डिक वन में भगवान् बुद्ध विराजमान थे। पसेनदि-कोसल भगवान् के दर्शन करने के लिए गया। वहाँ उसने भगवान् के पास एक उपासक को देखा। उस उपासक ने राजा को नमस्कार नही किया। पूछने पर भगवान् ने बताया कि यह उपासक बहुश्रुत और वीतराग है। एक दिन उस उपासक को जाते हुए देखा तो राजा ने कहा—आप हमारे अन्तःपुर मे उपदेश देने के लिए आवें। उसने कहा—आप भगवान् से कहे। वे किसी भिक्षु को भेज देंगे। बाद मे आनन्द के लिए इस कार्य में नियुक्त किया गया। एक दिन पसेनदि राजा मल्लिका देवी के साथ शयनगत थे। आनन्द को आते हुए देखकर वह सहसा उठ बैठी। आनन्द यह देखकर वापिस आये और भिक्षुओं को यह सब बताया। तब भगवान् ने शिक्षापद दिया—

८३. "यो पन भिक्खु रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धावसित्तस्स[1] अनिक्खन्त-राजके अनिग्गतरतनके[2] पुब्बे अप्पटिसंविदितो इन्दखीलं अतिक्कामेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१३२॥

८३. जो भिक्षु मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा के राजप्रासाद मे राजा और रानी के शयनागार से बाहर न निकलने के पूर्व ही बिना सूचना दिए, इन्द्रकील (द्वार-स्तम्भ) के आगे बढ़े, तो पाचित्तिय है ॥१३२॥

८४. चतुरासीतिमपाचित्तियं—रतन उग्गहणने

श्रावस्ती मे एक समय एक भिक्षु अचरिवती नदी मे नहा रहा था। इतने मे एक ब्राह्मण अपने रत्न जमीन पर रखकर नहाने लगा। भिक्षु उसे ले आया। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

८४. 'यो पन भिक्खु रतनं वा रतनसम्मतं वा, अञ्ञत्र अज्झारामा वा अज्झावसथा वा, उग्गण्हेय्य वा उग्गण्हापेय्य वा, पाचित्तियं। रतनं वा पन भिक्खुना रतनसम्मतं वा अज्झारामे वा अज्झावसथे वा उग्गहेत्वा वा उग्गहापेत्वा वा निक्खिपितब्बं—'यस्स भविस्सति सो हरिस्सती' ति। अयं तत्थ सामीची" ति ॥१३३॥

८४. जो भिक्षु रत्न या रत्न के समान पदार्थ को आराम या आश्रम को छोड़, अन्यत्र ले जाय या लिवा जाय तो पाचित्तिय है। रत्न या रत्न के समान

1. मुद्धाभिसितस्सो—सी०। 2. अनीभतरतनके—सी०।

पदार्थ को आराम या आश्रम में लेकर या लिवाकर भिक्षु को उसे एक जगह रख देना चाहिए कि जिसका होगा, वह ले जायेगा—यह वहाँ उचित है ।।१३३।।

८५. पञ्चासीतिमपाचित्तियं—विकालगामप्पविसने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षु विकाल समय मे गाँव में जाकर राजकथा, चोरकथा आदि तिरच्छीन कथायें कहता था। तब भगवान् ने यह शिक्षा-पद दिया—

८५. "यो पन भिक्खु सन्तं भिक्खुं अनापुच्छा विकाले गामं पविसेय्य, अञ्ञत्र तथारूपा अच्चायिका करणीया, पाचित्तियं" ति ।।१३४।।

८५. जो भिक्षु विद्यमान भिक्षु से बिना पूछे विकाल मे गाँव मे बिना किसी अत्यन्त आवश्यक काम के प्रवेश करे तो पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) है ।१३४।।

८६. छासीतिमपाचित्तियं—सूचिघरकारापने

एक समय कपिलवस्तु मे सूचिघर बनाने वाला आया। भिक्षु अपने-अपने सूचिघरों को बदलने लगे। तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

८६. यो पन भिक्खु अट्ठिमयं वा दन्तमयं वा विसाणमयं वा सूचिघरं कारापेय्य भेदनकं, पाचित्तियं" ति ।।१३५।।

८६. जो भिक्षु हड्डी, दाँत या सींग के सूचीघर (सुई रखने की फोफी) को बनवाये तो उस सूचीघर को तोड देना पाचित्तिय है ।।१३५।।

८७. सत्तासीतिमपाचित्तियं—मञ्चपीठकारापने

श्रावस्ती मे उपनन्द अपने बिहार मे ऊँचे आसन पर सोता था। एक दिन भगवान् वहाँ पहुँच गये। उपनन्द ने भगवान् को अपना आसन दिखाना चाहा। भगवान् उसे देखकर वापिस चले आये और नियम बनाया—

८७. "नवं पन भिक्खुना मञ्च वा पीठ वा कारयमानेन अट्ठङ्गुलपादकं कारेतब्बं सुगतङ्गुलेन, अञ्ञत्र हेट्ठिमाय अटनिया; तं अतिक्कामयतो छेदनकं पाचित्तियं" ति ।।१३६।।

८७. नयी चारपाई या चौकी को बनवाते समय भिक्षु उन्हे निचले ओट (पाद) को छोड बुद्ध के अंगुल से आठ अंगुलवाले पावों को बनवाये। इसके अतिक्रमण करने पर पावो को नाप कर कटवा देना पाचित्तिय है ।।१३६।।

८८. अट्ठासीतिमपाचित्तियं—तूलोनद्धमञ्चपीठकारापने

षड्वर्गीय भिक्षु मञ्च और पीठ को रुई से भरवाते थे। अन्य भिक्षु यह देखकर दु:खित होते। तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

८८. "यो पन भिक्खु मञ्चं वा पीठं वा तूलोनद्धं कारापेय्य, उद्दालनकं पाचित्तियं" ति ॥१३७॥

८८. जो भिक्षु चारपाई या चौकी को रूई भरकर बनवाये और उसके बाद उखेड़ डाले तो पाचित्तिय है ॥१३७॥

८९. उननवुतिमपाचित्तियं—निसीदनकारापने

षड्वर्गीय भिक्षुओं ने भगवान् से अनुमति पाते ही अप्रमाण आसन (निसीदन) बनवा लिये। भगवान् ने यह जानकर प्रमाण दिया—

८९. "निसीदन पन भिक्खुना कारयमानेन पमाणिकं कारेतब्बं। तत्रिदं पमाण - दीघसो द्वे विदत्थियो, सुगतविदत्थिया; तिरियं दियड्ढं। दसा विदत्थि[1]। तं अतिक्कामयतो छेदनकं पाचित्तियं" ति ॥१३८॥

८९. बैठने का आसन बनवाते समय भिक्षु उसे प्रमाण के अनुसार बनवाये। प्रमाण इस प्रकार है—लम्बाई मे बुद्ध के बेतिये से दो बेतिया। चौडाई मे डेढ़ बेतिया और मोटाई मे एक। इसका अतिक्रमण करने पर काट डालना पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) है ॥१३८॥

९०. नवुतिमपाचित्तियं—कण्डुप्पटिच्छादिकारापने

षड्वर्गीय भिक्षु कण्डु (खुजली) को ढाँकने के लिए प्रमाणहीन वस्त्र बनवाते थे। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

९०. "कण्डुप्पटिच्छादिं पन भिक्खुना कारयमानेन पमाणिका कारेतब्बा। तत्रिद पमाणं - दीघसो चतस्सो विदत्थियो, सुगतविदत्थिया; तिरियं द्वे विदत्थियो। तं अतिक्कामयतो छेदनकं पाचित्तियं ॥१३९॥

९०. खुजली ढाँकने के वस्त्र को बनवाते समय भिक्षु प्रमाण के अनुसार बनवाये। प्रमाण इस प्रकार है—बुद्ध के बेतिया से चार बेतिया लम्बा, और दो चौडा। इसका अतिक्रमण करने पर काट डालना पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) है ॥१३९॥

९१. एकनवुतिमपाचित्तियं—वस्सिक साटिक कारापने

षड्वर्गीय भिक्षु वार्षिकशाटिका का कोई प्रमाण नही रखते थे। तब भगवान् ने यह प्रमाण दिया—

---

1. विदन्थी—सी०।

९१. "वस्सिकसाटिकं पन भिक्खुना कारयमानेन पमाणिका कारेतब्बा। तत्रिदं पमाणं—दीघसो छ विदत्थियो, सुगतविदत्थिया; तिरियं अड्ढतेय्या। तं अतिक्कामयतो छेदनकं पाचित्तियं" ति ॥१४०॥

९१. वार्षिकशाटिका बनवाते समय भिक्षु उसे प्रमाण के अनुसार बनवाये। प्रमाण इस प्रकार है—बुद्ध के बेतिया से लम्बाई छ: बेतिया, और चौड़ाई ढाई बेतिया। इसका अतिक्रमण करने पर काट डालना पाचित्तिय (प्रायश्चित्त) है ॥१४०॥

९२. द्वेनवुतिमपाचित्तियं—सुगतचीवरप्पमाण चीवर कारापने

श्रावस्ती में भिक्षु नन्द बुद्ध के चीवर के प्रमाण में चीवर बनवाकर पहिनता था। किसी दूसरे भिक्षु ने दूर से उसे भगवान् बुद्ध समझ लिया। तब भगवान् बुद्ध ने यह नियम बनाया—

९२. "यो पन भिक्खु सुगतचीवरप्पमाण चीवर कारापेय्य अतिरेकं वा, छेदनकं पाचित्तियं। तत्रिदं सुगतस्स सुगतचीवरप्पमाणं—दीघसो नव विदत्थियो, सुगतविदत्थिया; तिरियं छ विदत्थियो। इदं सुगतस्स सुगतचीवरप्पमाण" ति ॥१४१॥

९२. जो भिक्षु बुद्ध के चीवर के बराबर या उससे बड़ा चीवर बनवाये तो काट डालना पाचित्तिय (प्रायश्चित) है। बुद्ध के चीवर का प्रमाण इस प्रकार है—बुद्ध के बेतिया से लम्बाई नव बेतिया और चौड़ाई छ: बेतिया। यह बुद्ध के बुद्ध चीवर का प्रमाण है ॥१४१॥

उद्दिट्ठा खो, आयस्मन्तो, द्वेनवुति पाचित्तिया धम्मा। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

आयुष्मानो! ये बानबे पाचित्तिय धर्म कहे गये। आयुष्मानो से पूछता हूँ—क्या आप लोग इनमें परिशुद्ध हैं? दूसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? आयुष्मान् परिशुद्ध हैं, इसीलिए मौन है—ऐसा मैं धारण करता हूँ।

॥ पाचित्तिय समाप्त ॥

६. पाटिदेसनीयकण्डं[१]

इमे खो पनायस्मन्तो चत्तारो पाटिदेसनीया धम्मा उद्देस आगच्छन्ति।
आयुष्मानो! ये चार पाटिदेसनीय धर्म कहे जाते हैं।

१. पठमपाटिदेशनीयं—भिक्खुनिहत्थतो खादनीयगहणे

श्रावस्ती मे किसी भिक्षुणी ने किसी भिक्षु को देखकर कहा—भन्ते! भिक्षा ग्रहण करें। उस भिक्षु ने उसकी पूरी भिक्षा ले ली। बाद मे भिक्षुणी को भिक्षा नही मिली। चार दिन तक ऐसा ही रहा। बाद मे भिक्षुणी एक स्थान पर गिर गई। उस दुर्बल भिक्षुणी को एक सेठ घर ले गया और भोजन कराया। अन्य भिक्षुओं ने निन्दा की। भ० ने तब नियम बनाया—

१. "यो पन भिक्खु अञ्ञातिकाय भिक्खुनिया अन्तरघरं पविट्ठाय हत्थतो खादनीयं[1] वा भोजनीयं[2] वा सहत्था पटिग्गहेत्वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, पटिदेसेतब्बं तेन भिक्खुना—'गारय्हं, आवुसो, धम्मं आपज्जिं असप्पायं पाटिदेसनीय, त पटिदेसेमी'" ति ॥१४२॥[६]

१. जो भिक्षु गृहस्थ के घर मे प्रविष्ट अज्ञातिका भिक्षुणी के हाथ से खाद्य, या भोज्य को स्वय अपने हाथ से ग्रहणकर खाये या भोजन करे तो उस भिक्षु को पटिदेसना (प्रतिदेशना अर्थात् अपराध की स्वीकृति) करनी चाहिए—"आवुस! मैंने निन्दनीय, अयुक्त, प्रतिदेशना करने योग्य कार्य को किया, उसकी मैं प्रतिदेशना करता हूँ" ॥१४२॥

२. दुतियपाटिदेसनीयं—भिक्खुनी-वोसासने

भिक्षुओ को भोजन के लिए गृहस्थ निमन्त्रित किया करते थे। षड्वर्गीय भिक्षु जहाँ भोजन करने जाते थे, षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ वहाँ पहुँचकर यह कहती "यहाँ दाल दो, यहाँ भात दो।" भ० को जब यह पता चला तो उन्होने शिक्षापद दिया—

२. "भिक्खू पनेव कुलेसु निमन्तिता भुञ्जन्ति, तत्र चे सा[3] भिक्खुनी वोसासमानरूपा ठिता होति- 'इध सूपं देथ, इध ओदन देथा' ति, तेहि

1. खादनियं—स्या०। 2. भोजनियं—रो०। 3. स्या. पोन्थके नत्थि०।

भिक्खूहि सा भिक्खुनी अपसादेतब्बा–'अपसक्क ताव, भगिनि, याव भिक्खू भुञ्जन्ती' ति। एकस्स चे[1] पि[1] भिक्खुनो न[2] पटिभासेय्य[2] तं भिक्खुनिं अपसादेतुं–'अपसक्क ताव, भगिनि, याव भिक्खू भुञ्जन्ती' ति पटिदेसेतब्बं तेहि भिक्खूहि—'गारय्हं आवुसो धम्मं आपज्जिम्हा असप्पायं पाटिदेसनीयं त पटिदेसेमा'' ति ॥१४३॥

२. गृहस्थ के कुलों मे निमंत्रित हो भिक्षु भोजन करते हैं। वहाँ यदि वह भिक्षुणी स्नेह दिखलाती हुई खडी हो कहती है—"यहाँ सूप (दाल) दो, यहाँ भात दो", तो उन भिक्षुओं को उस भिक्षुणी के लिए रोक देना चाहिए—"भगिनी ! जब तक भिक्षु भोजन करते है तब तक तू दूर चली जा।" यदि एक भिक्षु को भी उस भिक्षुणी का यह कहकर हटाना ठीक न जँचे कि—"भगिनी ! जब तक भिक्षु भोजन करते है, तब तक तू दूर चली जा" तो उन सारे भिक्षुओं को प्रतिदेशना करनी चाहिए—"आवुसो ! हमने निन्दनीय, अयुक्त, प्रतिदेशना करने योग्य कार्य को किया, उसकी हम प्रतिदेशना करते है" ॥१४३॥

३. ततियपाटिदेसनीयं—सहत्थाखादनीयपटिग्गहणे

श्रावस्ती मे भिक्षु कुछ कुलो मे जाकर बिना निमन्त्रित हुए स्वयं हाथ से लेकर भोजन ग्रहण करते थे। भ० ने यह जानकर कहा—

३. "यानि खो पन तानि सेक्खसम्मतानि कुलानि, यो पन भिक्खु तथारूपेसु सेक्खसम्मतेसु कुलेसु पुब्बे अनिमन्तितो अगिलानो खादनीयं वा भोजनीयं वा सहत्था पटिग्गहेत्वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, पटिदेसेतब्ब तेन भिक्खुना–'गारय्ह, आवुसो, धम्म आपज्जि असप्पाय पाटिदेसनीय, त पटिदेसेमी'' ति ॥१४४॥

३. जो वे शैक्ष्य माने गये कुल हैं उन कुलो मे जो भिक्षु बिना निमंत्रित हुए या नीरोग रहते हुए जाकर खाद्य या भोज्य को अपने हाथ से ग्रहण कर खाये या भोजन करे तो उस भिक्षु को प्रतिदेशना करनी चाहिए—"आवुस ! मैंने निन्दनीय, अयुक्त, प्रतिदेशना करने योग्य कार्य को किया, उसकी मैं प्रतिदेशना करता हूँ" ॥१४४॥

४. चतुत्थपाटिदेसनीयं- अप्पटिसंविदितखादनीयपटिग्गहणे

शाक्यदासो के लिए शाक्यदासियाँ अरण्य मे भोजन ले आयी। उस भोजन को वे भिक्षु अपने हाथ से ग्रहण करते। तब भ० ने यह नियम बनाया—

---

1. पि चे—सी०; स्या०। 2. नप्पटिभासेय्य—सी० स्या०।
3. एत्थ सी०, स्या, पोत्थकेसु विहरन्ता ति आधिका पाठो दस्सति।

४. यानि खो पन तानि आरञ्ञकानि सेनासनानि सासङ्कसम्मतानि सप्पटिभयानि, यो पन भिक्खु तथारूपे सु सेनासने सु[1] पुब्बे अप्पेटिसंविदितं खादनीयं वा भोजनीयं वा अज्झारामे सहत्था पटिग्गहेत्वा अगिलानो खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, पटिदेसेतब्बं तेन भिक्खुना—'गारय्हं, आवुसो, धम्मं आपज्जिं असप्पायं पाटिदेसनीयं, तं पटिदेसेमी'' ति ॥१४५॥

४. जो वे भयावने शंकायुक्त आरण्यक आश्रम हैं वैसे आश्रमों में विहार करनेवाला, जो भिक्षु आराम के भीतर भी पहले से न निवेदित किये खाद्य या भोज्य (भात, सत्तू, मांस आदि) को नीरोग रहते अपने हाथ से लेकर खाये या भोजन करे तो उस भिक्षु को प्रतिदेशना करनी चाहिए—"आवुस ! मैंने निन्दनीय, अयुक्त, प्रतिदेशना करने योग्य कार्य को किया, उसकी मैं प्रतिदेशना करता हूँ" ॥१४५॥

उद्दिट्ठा खो, आयस्मन्तो, चत्तारो पाटिदेसनीया धम्मा। **तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा" ? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा" ? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा" ? परिसुद्धेत्था-यस्मन्तो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति ।**

आयुष्मानो ! ये चार पाटिदेसनीय धर्म कहे गये । आयुष्मानो से पूछता हूँ—क्या आप लोग इनमे परिशुद्ध हैं ? दूसरी बार भी पूछता हूँ— क्या परिशुद्ध हैं ? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं ? आयुष्मान् परिशुद्ध है, इसी लिए मौन हैं—ऐसा मै धारण करता हूं ।

पाटिदेसनीय समाप्त ।

---

1. एत्थ सी०, स्या०, पोत्थकेसु 'विहरन्तो' ति अधिको पाठो दिस्सति ।

७. सेखियकण्डं (१४६–२२०)

इमे खो पनायस्मन्तो सेखिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आयुष्मानो ! ये शैक्ष्यधर्म कहे जाते हैं—

१. परिमण्डलवग्गो पठमो

सेखिय (शिक्षणीय) कण्ड मे पचहत्तर शिक्षणीय बातो को निर्दिष्ट किया गया है। इन बातों से सम्बद्ध प्राय: सभी घटनाओ मे षड्वर्गीय भिक्षु रहे हैं। ये भिक्षु अनुचित आचरण करते है और भगवान् बुद्ध उन्हे सामने रखकर नियम बनाते जाते हैं। इन घटनाओ से सम्बद्ध कथायें बिलकुल छोटी-छोटी और सीधी-सादी तथा यथासम्बद्ध है अत: उन्हे बिना लिखे शिक्षणीय बातों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

१. "परिमण्डलं निवासेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१४६॥

१. परिमण्डल (चारो ओर से ढाँककर) पहनूँगा—वह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१४६॥

२. "परिमण्डलं पारुपिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१४७॥

२. परिमण्डल ओढूँगा—यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१४७॥

३. "सुप्पटिच्छन्नो[1] अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१४८॥

३. गृहस्थो के घर मे अच्छी तरह शरीर को आच्छादित करके जाऊँगा। ॥१४८॥

४. "सुप्पटिच्छन्नो अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति" ॥१४९॥

४. घर मे अच्छी तरह शरीर को आच्छादित कर बैठूँगा ॥१४९॥

५. "सुसंवुतो अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया ति ॥१५०॥

५. घर मे अच्छी तरह संयम के साथ बैठूँगा ॥१५०॥

---

1. सुपटिच्छन्नो—सी०, स्या०, रो०।

६. "सुसंवुतो अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया ति ॥१५१॥

६. घर में अच्छी तरह संयम पूर्वक बैठूँगा ॥१५१॥

७. "ओक्खित्तचक्खु अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१५२॥

७. घर मे नीची आँख कर जाऊँगा ॥१५२॥

८. "ओक्खित्तचक्खु अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५३ ॥

८. घर मे नीची आँख कर बैठूँगा ॥ १५३ ॥

९. "न उक्खित्तकाय अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५४ ॥

९. घर मे शरीर को बिना उतान किये जाऊँगा ॥ १५४ ॥

१०. "न उक्खित्तकाय अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५५ ॥

१०. घर मे शरीर को बिना उतान किये बैठूँगा ॥ १४५ ॥

२. उज्जग्घिकवग्गो दुतियो

११. "न उज्जग्घिकाय अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५६ ॥

११. गृहस्थो के घर मे हँसते अथवा अट्टहास करते हुए न जाऊँगा ॥१५६॥

१२. "न उज्जग्घिकाय अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५७ ॥

१२. गृहस्थो के घर मे हँसते अथवा अट्टहास करते हुए न बैठूँगा ॥१५७॥

१३. "अप्पसद्दो अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५८ ॥

१३. घर में मौन होकर जाऊँगा ॥ १५८ ॥

१४. "अप्पसद्दो अन्तरघर निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १५९ ॥

१४. घर मे मौन होकर बैठूँगा ॥ १५९ ॥

१५. "न कायप्पचालकं अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६० ॥

१५. घर में शरीर को घुमाते हुए न जाऊँगा ॥ १६० ॥

१६. "न कायप्पचालकं अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" पि ॥ १६१ ॥

१३. घर मे शरीर को घुमाते हुए न बैठूँगा ॥ १६१ ॥

१७. "न बाहुप्पचालकं अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६२ ॥

१७. घर में बाहु (हाथ) को हिलाते हुए न जाऊँगा ॥ १६२ ॥

१८. "न बाहुप्पचालकं अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६३ ॥

१८. घर मे बाहु को हिलाते हुए न बैठूँगा ॥ १६३ ॥

१६. "न सीसप्पचालकं अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६४ ॥

१६. घर मे सिर को हिलाते हुए न जाऊँगा ॥ १६४ ॥

२०. "न सीसप्पचालकं अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६५ ॥

२०. घर मे सिर को हिलाते हुए न बैठूँगा ॥ १६५ ॥

३. खम्भक वग्गो

२१. "न खम्भकतो अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६६ ॥

२१. घर मे कमर पर हाथ रखकर न जाऊँगा ॥ १६६ ॥

२२. "न खम्भकतो अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६७ ॥

२२. घर में कमर पर हाथ रखकर न बैठूँगा ॥ १६७ ॥

२३. "न ओगुण्ठितो अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६८ ॥

२३. घर मे सिर ढँककर न जाऊँगा ॥ १६८ ॥

२४. "न ओगुण्ठितो अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १६९ ॥

२४. घर मे सिर ढंककर न बैठूँगा ॥ १६९ ॥

२५. "न उक्कुटिकाय अन्तरघरे गमिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७० ॥

२५. घर मे पंजों के आधार पर न जाऊँगा ॥ १७० ॥

२६. "न पल्लत्थिकाय अन्तरघरे निसीदिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७१ ॥

२६. घर मे पालथी लगाकर न बैठूँगा ॥ १७१ ॥

२७. "सक्कच्चं पिण्डपातं पटिग्गहेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७२ ॥

२७. भिक्षान्न को सत्कारपूर्वक ग्रहण करूँगा ॥ १७२ ॥

२८. "पत्तसञ्ञी पिण्डपातं पटिग्गहेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७३ ॥

२८. भिक्षान्न को भिक्षा-पात्र की ओर ख्याल रखते हुए ग्रहण करूँगा ॥ १७३ ॥

२९. "समसूपकं पिण्डपातं पटिग्गहेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७४ ॥

२९. मात्रा के अनुसार दाल के साथ भिक्षान्न ग्रहण करूँगा ॥ १७४ ॥

३०. "समतित्तिकं[1] पिण्डपातं पटिग्गहेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७५ ॥

३०. पात्र मे समतल भिक्षान्न को ग्रहण करूँगा ॥ १७५ ॥

४. सक्कच्च वग्गो

३१. "सक्कच्चं पिण्डपातं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१७६॥

३१. सत्कार के साथ भिक्षान्न को खाऊँगा ॥ १७६ ॥

३२. "पत्तसञ्ञी पिण्डपातं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥ १७७ ॥

---

1. समतित्थिकं—रो० ।

३२. पात्र की ओर ध्यान रखते हुए भिक्षान्न को खाऊँगा ॥ १७७ ॥

३३. "सपदानं पिण्डपातं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१७८॥

३३. एक ओर से भिक्षान्न को खाऊँगा ॥ १७८ ॥

३४. "समसूपकं पिण्डपातं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१७९॥

३४. मात्रा के अनुसार सूप के साथ भिक्षान्न को खाऊँगा ॥१७९॥

३५. "न थूपकतो ओमद्दित्वा पिण्डपातं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८०॥

३५. पिंड को मीड-मीड कर भोजन नही करूँगा ॥१८०॥

३६. "न सूप वा व्यञ्जनं वा ओदनेन पटिच्छादेस्सामि भिय्योकम्यतं उपादाया ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८१॥

३६. अधिक की इच्छा से दाल या व्यजन (सागभाजी) को भात से नही ढाँकूँगा ॥१८१॥

३७. "न सूप वा ओदनं वा अगिलानो अत्तनो अत्थाय विञ्ञापेत्वा भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८२॥

३७. नीरोग होते अपने लिए दाल या भात माँगकर भोजन नही करूँगा ॥१८२॥

३८. "न उज्झानसञ्ञी परेसं पत्तं ओलोकेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८३॥

३८. अवज्ञा के विचार से दूसरो के पात्र को नही देखूँगा ॥१८३॥

३९. नातिमहन्तं कबळं करिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८४॥

३९. न बहुत बडा ग्रास बनाऊँगा ॥१८४॥

४०. परिमण्डलं आलोपं करिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८५॥

४०. ग्रास को गोल बनाऊँगा ॥१८५॥

५. कबळवग्गो

४१. "न अनाहटे कबळे मुखद्वारे विवरिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८६॥

४१. ग्रास को बिना मुख तक लाये मुख के द्वार को न खोलूँगा ॥१८६॥

४१. "न मुञ्जमानो सब्बं हत्थं मुखे पक्खिपिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८७॥

४२. भोजन करते समय सारे हाथ को मुख में न डालूँगा ॥१८७॥

४३. "न सकबळेन मुखेन ब्याहरिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८८॥

४३. ग्रास पड़े हुए मुख से बात नहीं करूँगा ॥१८८॥

४४. "न पिण्डुक्खेपकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१८९॥

४४. ग्रास उछाल-उछाल कर नहीं खाऊँगा ॥१८९॥

४५. "न कबळावच्छेदकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९०॥

४५. ग्रास को काट-काटकर नहीं खाऊँगा ॥ १९० ॥

४६. "न अवगण्डकारकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९१॥

४६. न गाल फुला-फुलाकर खाऊँगा ॥ १९१ ॥

४७. "न हत्थनिद्धुनकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९२॥

४७. हाथ झाड़-झाड़कर नहीं खाऊँगा ॥ १९२ ॥

४८. "न सित्थावकारकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९३॥

४८. जूठन बिखेर-बिखेर कर नहीं खाऊँगा ॥ १९३ ॥

४९. "न जिह्वानिच्छारकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९४॥

४९, जीभ चटकार-चटकार कर नहीं खाऊँगा ॥ १९४ ॥

५०. "न चपुचपुकारकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९५॥

५०. चप-चप करके नहीं खाऊँगा ॥ १९५ ॥

६. सुरुसुरुवग्गो

५१. "न सुरुसुरुकारकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९६॥

५१. सुड़-सुड़कर नहीं खाऊँगा ॥ १९६ ॥

५२. "न हत्थनिल्लेहकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९७॥

५२. हाथ चाट-चाटकर नहीं खाऊँगा ॥ १९७ ॥

५३. "न पत्तनिल्लेहकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९८॥

५३. पात्र चाट-चाटकर नही खाऊँगा ॥ १९८ ॥

५४. "न ओट्ठनिल्लेहकं भुञ्जिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥१९९॥

५४. ओठ चाट-चाटकर नहीं खाऊँगा ॥ १९९ ॥

५५. "न सामिसेन हत्थेन पानीयथालकं पटिग्गहेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२००॥

५५. जूठन लगे हाथ से पानी का बर्तन नही पकड़ूँगा ॥२०० ॥

५६. "न ससित्थकं पत्तधोवनं अन्तरघरे छड्डेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०१॥

५६. जूठन लगे पात्र के धोवन को घर में नही छोड़ूँगा ॥ २०१ ॥

५७. "न छत्तपाणिस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०२॥

५७. हाथ मे छाता धारण किये नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥ २०२ ॥

५८. न दण्डपाणिस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०३॥

५८. हाथ मे दण्ड लिए नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२०३॥

५९. "न सत्थपाणिस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०४॥

५९. हाथ मे शस्त्र लिए नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूँगा ॥२०४॥

६०. "न आवुधपाणिस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०५॥

६०. हाथ मे आयुध लिए नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा। ॥२०५॥

७. पादुकावग्गो

६१. "न पादुकारूळ्हस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०६॥

६१. खड़ाऊँ पर चढ़े नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२०६॥

६२. न उपाहनारूळ्हस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया' ति ॥२०७॥

६२. जूता पहने नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूँगा ॥२०७॥

६३. "न यानगतस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी सिक्खा करणीय" ति ॥२०८॥

६३. सवारी मे बैठे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२०८॥

६४. "न सयनगतस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२०९॥

६४. शय्या मे लेटे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूँगा ॥२०९॥

६५. "न पल्लत्थिकाय निसिन्नस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२१०॥

६५. पालथी मारकर बैठे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२१०॥

६६. "न वेठितसीसस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी[1] ति सिक्खा करणीया" ति ॥२११॥

६६. सिर लपेटे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूँगा ॥२११॥

६७. "न ओगुण्ठितसीसस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२१२॥

६७. ढँके सिर वाले नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२१२॥

६८. "न छमाय निसीदित्वा आसने निसिन्नस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२१३॥

६८. स्वयं भूमि पर बैठकर आसन पर बैठे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूँगा ॥२१३॥

६९. "न नीचे आसने निसीदित्वा उच्चे निसिन्नस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया"ति ॥२१४॥

६९. नीचे आसन पर बैठकर ऊँचे आसन पर बैठे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूँगा ॥२१४॥

---

1. देसिस्सामी—सी० ।

७०. "न ठितो निसिन्नस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२१५॥

७०. खड़े हो, बैठे नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूंगा ॥२१५॥

७१. "न पच्छतो गच्छन्तो पुरतो गच्छन्तस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥११६॥

७१. स्वयं पीछे पीछे चलते आगे आगे जाते नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नही दूंगा ॥२१६

७२. "न उप्पथेन गच्छन्तो पथेन गच्छन्तस्स अगिलानस्स धम्मं देसेस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥११७॥

७२. स्वयं रास्ते से हटकर चलते हुए, रास्ते से चलते नीरोग व्यक्ति को धर्म का उपदेश नहीं दूंगा ॥२१७॥

७३. "न ठितो अगिलानो उच्चार वा पस्सावं—वा करिस्सामी ति सिक्खा करणीय" ति ॥२१८॥

७३. नीरोग रहते खड़े-खडे मल-मूत्र नही करूंगा ॥२१८॥

७४. "न हरिते अगिलानो उच्चाक वा पस्सावं वा खेळं वा करिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२१६॥

७४. नीरोग रहते हरियाली मे मल-मूत्र नही करूंगा ॥२१६॥

७५. "न उदके अगिलानो उच्चार वा पस्साव वा खेळं वा करिस्सामी ति सिक्खा करणीया" ति ॥२२०॥

७५. निरोग रहते पानी मे मलमूत्र नही करूंगा ॥२२०॥

उद्दिट्ठा खो, आयस्मन्तो, सेखिया धम्मा। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि— "कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो, तस्मा तुण्ही, 'एवमेतं धारयामी' ति।

सेखिया निट्ठिता।

आयुष्मानो ! ये (पचहत्तर) सेखिय धर्म कहे गये हैं। आयुष्मानो से पूछता हूं—क्या आप लोग इनमे परिशुद्ध हैं ? दूसरी बार भी पूछता हूं—क्या परिशुद्ध हैं ? तीसरी बार भी पूछता हूं—क्या परिशुद्ध हैं ? आयुष्मान् परिशुद्ध हैं, इसी लिए मौन हैं—ऐसा मैं धारण करता हूं।

सेखिय समाप्त।

८. अधिकरणसमथा धम्मा (२२१-२२७)

इमे खो पनायस्मन्ते सत्त अधिकरण समथा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आयुष्मानो ! अधिकरण (कलह) को शान्त करने के लिए ये सात अधि-करण-समथ (शान्ति के उपाय) कहे जाते हैं ।

१. षड्वर्गीय भिक्षु अनुपस्थित भिक्षुओं को भी तर्जनीय कर्म आदि देते थे । तब भ० ने यह नियम बनाया—

१, उप्पन्नुपपन्नानं अधिकरणान समथाय वूपसमाय सम्मुखाविनयो दातब्बो ।। २२१।।

१. समय-समय पर उत्पन्न हुए अधिकरण (कलह-विवाद) को शान्त करने के लिए सम्मुख विनय (परस्पर मे एक दूसरे के पक्ष को भली-भाँति समझा) देना चाहिए ।।२२१।।

२. मेत्तिय मुम्मजक भिक्षु ने दर्भ मल्लपुत्र पर दुराचार का दोषारोपण लगाया । तब संघ ने उसे स्मृति विनय दी ।

२. सतिविनयो दातब्बो ।।२२२।।

२. निर्मूल दुराचार का दोप लगाये जाने पर भिक्षु को स्मृति विनय देना चाहिए ।।२२३।।

३. गर्ग भिक्षु पागल हो जाने पर आचरण के विरुद्ध बोलता था । स्वस्थ हो जाने पर संघ ने उसे अमूढ विनय दिया ।

३. अमूळ्ह विनयो दातब्बो ।।२२३।।

३. अमूढ़ विनय (पागलपन मे धर्म विरुद्ध कहने पर प्रायश्चित लेना) देना चाहिए ।।२२३।।

४. षड्वर्गीय भिक्षु बिना स्वीकृति कराये भिक्षुओं को तर्जनीय, नियस्स, प्रव्राजनीय, प्रतिसारणीय, और उत्क्षेपणीय कर्म देते थे । तब भ० ने यह नियम बनाया—

४. पटिञ्ञाय कारेतब्बं ।।२२४।।

प्रतिज्ञात करण (स्वीकार) कराना चाहिए ।।२२४।।

५. भिक्षुओं के बीच अनेक प्रकार से कलह, विवाद और झगड़े होते थे । भगवान् उन्हें बहुमत के माध्यम से शान्त करने के लिए कहा—

५. येभुय्यसिका ।।२२५।।

कलह को बहुमत से शान्त करना चाहिए ॥२२५॥

६. उबाल भिक्षु संघ के बीच आपत्ति के विषय में पूछने पर अस्वीकार कर स्वीकार करते थे, स्वीकार कर अस्वीकार करते थे, दूसरा प्रकरण (अप्रासंगिक) प्रारम्भ कर देते थे, और असत्य बोलते थे। अल्पेच्छ भिक्षुओं ने यह बात भगवान् से कही। तब भ० ने यह नियम बनाया—

६. तस्सपापियसिका[1] ॥२२६॥

दण्ड देना चाहिए ॥२२६॥

७. भिक्षुओ के बीच अनेक प्रकार से झगड़े होते थे। भिक्षुओ ने यह अनुभव किया कि यदि वे झगडे प्रतिज्ञात करण द्वारा शान्त किये गये तो, संभव है, और अधिक अशान्ति पैदा हो जाय। ऐसी सम्भावना होने पर भ० ने कहा, ऐसे झगड़ों को उभाड़ना नही चाहिए बल्कि ऐसे ढाक देना चाहिए जैसे तृण से कोई वस्तु ढाँक दी जाती है।

७. "तिणवत्थारको" ॥२२७॥

विवादों को तृण से ढाँकने जैसा शान्त करना चाहिए ॥२२७॥

उद्दिट्ठा खो आयस्मन्तो सत्त अधिकरणसमथा धम्मा। तत्थायस्मन्ते पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? दुतियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? ततियं पि पुच्छामि—कच्चित्थ परिसुद्धा? परिसुद्धेत्थायस्मन्तो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी' ति।

अधिकरणसमथा धम्मा निट्ठिता।

आयुष्मानो! ये सात अधिकरण शमथ धर्म कहे गये हैं। आयुष्मानों से पूछता हूँ—क्या आप लोग इनमें परिशुद्ध हैं? दूसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछता हूँ—क्या परिशुद्ध हैं? आयुष्मान् परिशुद्ध हैं, इसीलिए मौन हैं—ऐसा मैं धारण करता हूँ।

अधिकरणशमथ समाप्त।

उद्दिट्ठं खो आयस्मन्तो निदानं; उद्दिट्ठा चत्तारो पाराजिका धम्मा; उद्दिट्ठा तेरस सङ्घादिसेसा धम्मा; उद्दिट्ठा द्वे अनियता धम्मा; उद्दिट्ठा तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा; उद्दिट्ठा द्वेनवुत्ति पाचित्तिया धम्मा; उद्दिट्ठा चत्तारो पाटिदेसनिया धम्मा; उद्दिट्ठा सेखिया धम्मा; उद्दिट्ठा सत्त अधिकरणसमथा

---

1. तस्सपापिय्यसिका—सी०, रो०।

धम्मा। एत्तकं तस्स भगवतो सुत्तागतं सुत्तपरियापन्नं अवद्धमासं उद्देसं आगच्छति। तत्थ सब्बेहेव समग्गेहि सम्मोदमानेहि अविवदमानेहि सिक्खितब्बं ति।

भिक्खुविभङ्गो[1] निट्ठितो[2]

आयुष्मानो! निदान कह दिया गया; पाराजिका धर्म कह दिये गये, तेरह संघादिशेष धर्म कहे गये; दो अनियत धर्म कहे गये, तीस निस्सग्गिय—पाचित्तिय धर्म कहे गये, चार पाटिदेसनीय धर्म कहे गये, पचहत्तर सेखिय धर्म कहे गये, सात अधिकरणशमथ धर्म कहे गये। इतने ही उन भगवान् के सुत्तों मे आये हैं, सुत्तों मे पूर्ण है, जिनकी प्रति पक्ष आवृत्ति की जाती है। वहाँ सबको एक मत हो, परस्पर अनुमोदन करते विवाद न करते, सीखना चाहिए।

भिक्षुप्राति मोक्ष समाप्त।

1. महाविभङ्गो—म:, महाविभङ्गं—रो.।
2. निट्ठितं—रो.।

भिक्खुनी पातिमोक्खो

(भिक्खुनी विभङ्गो)

भिक्खुनी पातिमोक्खो

निदान

भिक्खुनी पातिमोक्ख का निदान भिक्खु पातिमोक्ख के समान है। इसके मूल पद्य इस प्रकार हैं—

१. सम्मज्जनी पदीपो च उदकं आसनेन च।
उपोसथस्स एतानि पुब्बकरणन्ति वुच्चति ॥१॥

बिहारादि को स्वच्छ करना (संमार्जनी), दीपक जलाना (पदीपो), जल रखना और आसन बिछाना ये उपोसथ (कृष्ण चतुर्दशी और अमावस्या) के चार पूर्वकरण कहे जाते हैं ॥१॥

१. छन्दपारिसुद्धि उतुक्खानं भिक्खुनी-गणना च ओवादो।
उपोसथस्स एतानि पुब्बकिच्चन्ति वुच्चति ॥१॥

छन्द (सम्मति) और परिशुद्धि, ऋतुकाल का कथन, भिक्षुणी गणना और भिक्षुणियो को उपदेश देना ये पाँच उपोसथ के पूर्वकृत्य हैं ॥२॥

१. उपोसथो यावतिका च भिक्खुनी,
कम्मप्पत्ता सभागापत्तियो च।
न विज्जन्ति वज्जनीया च पुग्गला,
तस्मिं न होन्ति, पत्तकल्लन्ति वुच्चति ॥३॥

उपोसथ के दिनों मे जितनी भिक्षुणियाँ उपोसथ प्राप्त करने योग्य होती हैं वे विकालादि भोजन जैसे अपराधो से दूर रहती हैं। उस उपोसथ मे २१ प्रकार के वर्जनीय व्यक्ति नही होते। इन चार लक्षणों से युक्त संघ का उपोसथ कर्म सोपयुक्त (प्राप्तकल्प) कहा जाता है ॥३॥

इसी प्रकार शेष भाग भी भिक्खु पातिमोक्ख के निदान जैसा है। अतएव उसको दुहराना यहाँ आवश्यक नहीं।

१. पाराजिककण्डं (१—८)

इमे खो पनाय्यायो अट्ठ पाराजिका धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आर्याओ ! ये आठ पाराजिक अपराध कहे जाते है ।

१--४ पठमादि पाराजिकानि

भिक्खुनी पाराजिक नियमो के प्रथम चार पाराजिक नियम भिक्खु पाराजिक नियमो के प्रथम चार पाराजिक नियमो के समान हैं । पाठक कृपया वहां देख लें ।

५. पञ्चम पाराजिकं—परामसनसादिते

श्रावस्ती की बात है । साळ्ह मिगारनत्ता भिक्षुणी संघ के लिए एक बिहार बनवाना चाहता था । उसी समय भिक्षुणी संघ मे नन्दा, नन्दवती, सुन्दरीनन्दा और थुल्लनन्दा भिक्षुणियाँ प्रव्रजित हुई थी । उनमे सुन्दरीनन्दा सर्वाधिक सुन्दरी, तरुणी, विदुषी और अनलसा थी । भिक्षुणी संघ ने बिहार निर्माण का काम उसे ही दे दिया । फलत: वह बार-बार साढ्ह के पास जाती और साढ्ह उसके पास आता । दोनों परस्पर मे आसक्त हो गये । सुन्दरीनन्दा से काम सम्पर्क करने के उद्देश्य से साढ्ह ने भिक्षुणी संघ के लिए पिण्डदान करने का निश्चय किया । सुन्दरीनन्दा यह समझ गई । वह पिण्डचर्या के लिए नही आई; अस्वस्थ होने का बहाना कर दिया । साढ्ह ने यह जानकर नौकरो से भिक्षुणी संघ के लिए भोजन कराने का आदेश दिया और स्वयं सुन्दरीनन्दा के पास उपाश्रय मे पहुँच गया । सुन्दरीनन्दा उस समय पलंग पर लेटी हुई थी । साढ्ह और सुन्दरीनन्दा ने कामासक्त होकर काम-संसर्ग किया । समीप मे एक अन्य अस्वस्थ भिक्षुणी भी लेटी हुई थी । उसने यह सब देख लिया और अल्पेच्छ भिक्षुणियो से कह दिया । उन्होने उसकी निन्दा की । और भ० ने यह शिक्षापद दिया—

५. "या पन भिक्खुनी अवस्सुता अवस्सुतस्स पुरिसपुग्गलस्स अधक्खकं उब्भजाणुमण्डलं आमसनं वा परामसनं वा गहणं वा छुपनं वा पटिपीळनं[1]

---

1. पतिपीळनं—रो०; पतिपीलनं—सी० ।

वा सादियेय्य, अयं पि पाराजिका होति असंवासा उब्भजाणुमण्डलिका" ति ॥५॥

५. जो भिक्षुणी कामासक्त होकर कामासक्त पुरुष के जानु भाग के ऊपर के निचले भाग का स्पर्श करे, घर्षण करे, ग्रहण करे, छुए, परिपीड़न (दबाना) का आस्वादन करे तो वह उर्ध्वजानु मंडलिका भिक्षुणी पाराजिका होती है ॥५॥

६. छट्ठपाराजिकं--पाराजिकापत्तिप्पटिच्छादने

सुन्दरीनन्दा साळह के सम्पर्क से गर्भिणी हो गई। थुल्लनन्दा को उनका यह सम्पर्क पूर्वज्ञात था। परन्तु उसने न उनको कहा और न गण को ही बताया। भ० ने भिक्षुओ को बुलाया और कहा—

६. "या पन भिक्खुनी जानं पाराजिकं धम्मं अज्झापन्नं भिक्खुनिं नेवत्तना पटिचोदेय्य न गणस्स आरोचेय्य, यदा च सा ठिता वा अस्स-चुता वा नासिता वा अवस्सटा[1] वा, सा पच्छा एवं वदेय्य—'पुब्बेवाहं, अय्ये, अञ्ञासिं एतं भिक्खुनिं एवरूपा च सा भगिनी ति, नो च[2] खो अत्तना पटिचोदेस्सं[3] न गणस्स आरोचेस्सं"[4] ति, अयं पि पाराजिका होति असंवासा वज्जप्पटिच्छादि[5]का" ति ॥६॥

जो कोई भिक्षुणी जानबूझकर पाराजिक दोष युक्त भिक्षुणी को न स्वयं (नेवत्तना) टोके, न भिक्षुणी गण को सूचित करे, और जब वह भिक्षुणी अपने वेष मे स्थित हो जाय, अथवा काल कवलित हो जाय, अथवा नष्ट हो जाय, अथवा तीर्थान्तर मे दीक्षित हो जाय, तब पीछे ऐसा कहे—"हे आर्ये! ऐसा मैं पहले से ही जानती थी, यह भगिनी ऐसी ऐसी है, किन्तु न स्वयं मैंने रोका और न भिक्षुणीगण को बताया। दोष छिपाने वाली ऐसी भिक्षुणी भी पाराजिका धर्म युक्ता होती है। उसके साथ रहना योग्य नही ॥६॥

७. सत्तमपाराजिकं— उक्खित्तकभिक्खु—अनुवत्तने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी समग्र सघ द्वारा पृथक् किये गये अरिट्ठ भिक्षु का अनुगमन करती थी। तब भ० ने यह कहा—

७. "या पन भिक्खुनी समग्गेन सङ्घेन उक्खित्तं भिक्खुं धम्मेन

---

1. अवसटा—स्या०, रो०। 2. चे०—सी०। 3. पटिचोदेय्यं—रो०। 4. आरोचेय्यं—रो०। 5. वज्जपटिच्छादिका—सी०, स्या०, रो०।

विनयेन सत्थुसासनेन अनादरं अप्पटिकारं[1] अकतसहायं तमनुवत्तेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'एसो खो, अय्ये, भिक्खु समग्गेन सङ्घेन उक्खित्तो धम्मेन विनयेन सत्थुसासनेन अनादरो अप्पटिकारो अकतसहायो. माय्ये, एतं भिक्खुं अनुवत्ती' ति। एवं च पन[2] सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासियमाना तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं। नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, अयं पि पाराजिका होति असंवासा उक्खित्तानुवत्तिका'' ति ॥७॥

जो कोई भिक्षुणी समग्र संघ द्वारा निष्कासित धर्म—विनय—बुद्ध शासन मे आदर रहित, प्रतिकार रहित, और एकाकी (अकत सहायं) भिक्षु का अनुगमन करे तो भिक्षुणियाँ उस भिक्षुणी को यह कहे—"हे आर्ये ! यह भिक्षु समग्र संघ द्वारा निष्कासित है, धर्म—विनय बुद्ध शासन मे आदर रहित, प्रतिकार रहित और एकाकी इस भिक्षु का अनुगमन मत करो।" इस प्रकार उन भिक्षुणियो द्वारा कही जाने पर वह भिक्षुणी यदि उसी प्रकार दुराग्रह करती रहे तो भिक्षुणियो को उस भिक्षुणी से तीन बार तक उस भिक्षु को छोड़ने के लिए कहना चाहिए। यदि तीन बार तक कहने पर छोड़ दे तो ठीक है, यदि न छोड़े तो निष्कासित भिक्षु का अनुगमन करने वाली वह भिक्षुणी पाराजिका धर्म युक्त होती है और संवास के योग्य नही होती।

८. अट्ठमपाराजिकं—हत्थग्गहणसादियने

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षुणियां कामासक्त होकर पुरुषवर्ग का हाथ पकड़ती, संलाप करती और संघाटिका गृहण करती। तब भगवान् ने यह शिक्षापद दिया—

८. "या पन भिक्खुनी अवस्सुता अवस्सुतस्स पुरिसपुग्गलस्स हत्थग्गहणं वा सादियेय्य, सङ्घाटिकण्णग्गहणं वा सादियेय्य, सन्तिट्ठेय्य वा, सल्लपेय्य वा, सङ्केतं वा गच्छेय्य पुरिसस्स वा अब्भागमनं सादियेय्य, छन्नं वा अनुपविसेय्य, कायं वा तदत्थाय उपसंहरेय्य एतस्स असद्धम्मस्स पटिसेवनत्थाय, अयं पि पाराजिका होति असंवासा अट्ठवत्थुका'' ति ॥८॥

जो भिक्षुणी कामासक्त होकर कामासक्त पुरुष का हाथ ग्रहण करे और

1. अप्पतिकारं—सी०; अप्पटिकारं—रो०।
2. स्या०, रो०, म० पोत्थकेसु नत्थि।

संघाटी का छोर पकड़ कर आस्वादन ले, अथवा उसके साथ खड़ी रहे, अथवा उससे संलाप करे, अथवा प्रच्छन्न स्थान में प्रवेश करे, अथवा शरीर को उसके शरीर का सेवन करने के लिए उस पर छोड़े तो यह भिक्षुणी भी पाराजिका होती है, संवास के योग्य नही नहीं होती।

उद्दिट्ठा खो, अय्यायो, अट्ठ पाराजिका धम्मा। येसं भिक्खुनी अञ्ञतरं वा अञ्ञतरं वा आपज्जित्वा न लभति भिक्खुनीहि सद्धिं संवासं, यथा पुरे तथा पच्छा, पाराजिका होति असंवासा। तत्थाय्यायो पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतिय पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

पाराजिककण्डं निट्ठितं।

आर्यायो! ये आठ पराजिक धर्म हैं। उनमे से किसी एक का भी दोष आने पर भिक्षुणी अन्य भिक्षुणियो के साथ नही रह सकती। जैसे पहले वैसे बाद मे पाराजिक होकर सवास के योग्य नही होती। आर्यायो से पूछती हूँ—"क्या आप लोग परिशुद्ध हैं?" दूसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग परिशुद्ध हैं?" तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप परिशुद्ध हैं?" आर्यायें परिशुद्ध हैं, इसीलिए चुप है, ऐसा मैं मानती हूँ।

॥ पाराजिककण्डं निट्ठितं ॥

---

२. संघादिसेकसण्डं* (६-२५)

इमे खो पनाय्यायो सत्तरससङ्घादिसेसा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आर्यायो ! ये सत्रह दोष संघादिसेस कहे जाते हैं—

१. पठमसङ्घादिसेसो—उस्सयवादे

श्रावस्ती में एक उपासक भिक्षुणी संघ को उदोसित देकर कालकवलित हो गया। उसके दो पुत्र थे एक श्रद्धा सम्पन्न था और दूसरा श्रद्धाशून्य। श्रद्धाशून्य पुत्र थुल्लनन्दा आदि भिक्षुणियों को उदोसित से निकल जाने के लिए कहता। महामात्यो के सहयोग से वह उदोसित भिक्षुणी संघ को स्थायी रूप से मिल गया। विरोधी पुत्र को महामात्यो ने थुल्लनन्दा के कहने पर तर्जित किया और दण्डित किया। तब भ० ने यह नियम बनाया—

१. 'या पन भिक्खुनी उस्सयवादिका विहरेय्य गहपतिना वा गहपतिपुत्तन वा दासेन वा कम्मकारेन[1] वा अन्तमसो समणपरिब्बाजकेना पि, अयं भिक्खुनी पठमापत्तिक धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥६॥

१. जो भिक्षुणी भ्रमन्ता (उस्सयवादिका) होकर गृहपति, अथवा गृहपतिपुत्र, अथवा दास, अथवा कर्मकर, अथवा अन्तत: श्रमण परिव्राजक के साथ भी विहार करे, तो वह भिक्षुणी प्रथम श्रेणी के दोष की अपराधिनी है और संघ से निष्कासन संघादिशेष है ॥६॥

२. दुतियसंघादिसेसो—चोरिं पब्बाजने

२. वैशाली में एक लिच्छवि एक स्त्री का घात करना चाहता था। वह स्त्री चोरनी और अतिचारिनी थी। उसने थुल्लनन्दा के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। लिच्छवि उसे खोजता हुआ श्रावस्ती पहुँचा और पसेनदि कोसल से यह बात कही। उसने कहा—यदि वह भिक्षुणी बन चुकी है तो अप्राप्य है। वह लिच्छवि कुपित हुआ और कहने लगा—ये भिक्षुणियाँ कैसी हैं जो चोरी करने वाली स्त्री को प्रव्रज्या देती हैं। भ० ने यह जानकर शिक्षापद दिया—

---

1. कम्मकरेन—सी०, स्या०।

* सत्तरसकण्डं—स्या०।

२. "या पन भिक्खुनी जानं चोरिं वज्झं विदितं अनपलोकेत्वा राजानं वा सङ्घं वा गणं वा पूगं वा सेणिं[1] वा अञ्ञत्र कप्पा वुट्ठापेय्य, अयं पि भिक्खुनी पठमापत्तिकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ॥१०॥

२. जो भिक्षुणी जानबूझ कर चोरनी या बध्याको राजा, भिक्षुणी संघ, गण (प्रजातन्त्र), पूग (सामूहिक शासन), और श्रेणी (श्रेणी का शासन) को सूचित किये बिना ही अन्य मत मे साधुनी बनी हुई को छोड़ भिक्षुणी बनावे तो यह भिक्षुणी भी प्रथम श्रेणी के दोष की अपराधिनी है ॥१०॥

३· ततियसंघादिसेसो—एका गामन्तरगमने

भद्रा कापिलानी की शिष्या भिक्षुणियों के साथ कलहकर अपने परिवारजनों के पास अकेली आ गई। यह जानकर भ० ने शिक्षापद दिया—

३. "या पन भिक्खुनी एका वा गामन्तरं गच्छेय्य, एका वा नदीपारं गच्छेय्य, एका वा रत्तिं विप्पवसेय्य, एका वा गणम्हा ओहियेय्य, अयं पि भिक्खुनी पठमापत्तिकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥११॥

३. जो भिक्षुणी अकेली दूसरे ग्राम को जाय, अकेली नदी पार करे, अथवा अकेली रात्रि-प्रवास करे, अथवा अकेली गण से पृथक् होकर जाय तो यह भिक्षुणी भी० ॥११॥

४. चतुत्थ संघादिसेसो—गणस्स छन्दं ओसारणे

श्रावस्ती मे चण्डकाली नाम की भिक्षुणी कलह करने वाली थी। थुल्लनन्दा भिक्षुणी उस पर आक्रोस करती। संघ द्वारा वह पृथक् कर दी गई थी। थुल्लनन्दा भिक्षुणी के प्रति उसका कोई सम्मान भी नही था। फिर भी बाला समझकर थुल्लनन्दा ने उसे अपना लिया। यह जानकर भ० शिक्षापद दिया—

४. "या पन भिक्खुनी समग्गेन सङ्घेन उक्खित्तं भिक्खुनीं धम्मेन विनयेन सत्थुसासनेन अनपलोकेत्वा कारकसङ्घं अनञ्ञाय गणस्स छन्दं ओसारेय्य, अयं पि भिक्खुनी पठमापत्तिकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥१२॥

४. जो भिक्षुणी समग्र संघ द्वारा धर्म, विनय और बुद्धशासन से पृथक् की

1. सेनिं—सी०।

गई (उत्क्षिप्त) भिक्षुणी को कर्मकारक संघ के बिना पूछे, गण के अभिप्राय को बिना जाने अपना लेती है, वह भिक्षुणी भी······॥१२॥

५· पञ्चमसंघादिसेसो—पुरिसहत्थतो खादनीयगहणे

सुन्दरीनन्दा भिक्षुणी बहुत सुन्दर थी। लोग उसे देखकर मोहित होते और प्रसन्नता पूर्वक भोजन देते। उस दिये हुए भोजन को सुन्दरीनन्दा भी कामासक्त होकर ग्रहण करती। तब भ० ने कहा—

५. "या पन भिक्खुनी अवस्सुता अवस्सुतस्स पुरिसपुग्गलस्स हत्थतो खादनीयं वा भोजनीयं वा सहत्था पटिग्गहेत्वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा, अयं पि भिक्खुनी पठमापत्तिकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥१३॥

५. जो भिक्षुणी कामासक्त होकर पुरुष वर्ग के हाथ से खाद्य, भोज्य स्वयं अपने हाथ से लेकर खाये, भोजन करे, वह भिक्षुणी भी······॥१३॥

६· छट्ठसङ्घादिसेसो—भिक्खुनी उय्योजने

सुन्दरीनन्दा भिक्षुणी को कामासक्त पुरुष बहुत भोजन देते। एक समय सुन्दरीनन्दा ने ऐसे भोजन को अस्वीकार कर दिया। यह देखकर दूसरी भिक्षुणी ने कहा—"तुमने भोजन क्यो ग्रहण नही किया?" सुन्दरीनन्दा ने कहा—"यह पुरुष कामासक्त है।" उस भिक्षुणी ने तब कहा कि पुरुष कैसा भी हो, तुम तो कामासक्त हो नही। अत: भोजन ग्रहण करना चाहिए। भ० ने यह घटना जानकर शिक्षापद दिया—

६. "या पन भिक्खुनी एवं वदेय्य—'किं ते, अय्ये, एसो पुरिस-पुग्गलो करिस्सति अवस्सुतो वा अनवस्सुतो वा, यतो त्वं अनवस्सुता। इङ्घ, अय्ये, यं ते एसो पुरिसपुग्गलो देति खादनीयं वा भोजनीयं वा तं त्वं सहत्था पटिग्गहेत्वा खाद वा भुञ्ज वा' ति, अय पि भिक्खुनी पठमापत्तिकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥१४॥

६. जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी से ऐसा बोले—'हे आर्ये! विषय वासना मे आसक्त अथवा अनासक्त यह पुरुष तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगा, क्योंकि तुम अनासक्त हो? अत:, हे आर्ये! यह पुरुष तुम्हें जो भी खाद्य अथवा भोज्य देता है, उसे अपने हाथ से ग्रहण कर खाओ और भोजन करो'। यह भिक्षुणी भी० ॥१४॥

७. सत्तमसङ्घादिसेसो—सञ्चरित्तापज्जने

इस संघादिशेष की घटना पातिमोक्ख के पंचम संघादिशेष के समान है—

७. "यो पन भिक्खुनीसञ्चरित्तं समापज्जेय्य, इत्थिया वा पुरिसमतिं पुरिसस्स वा इत्थिमतिं, जायत्तने वा, जारत्तने वा अन्तमसो तङ्खणिकाय पि सङ्घादिसेसो" ति ॥१५॥

७. जो भिक्षुणी दूत बनकर किसी स्त्री के संदेश को पुरुष से अथवा पुरुष के सन्देश को स्त्री से कहे कि तुम जार हो जाओ अथवा पत्नी हो जाओ अथवा क्षणमात्र के लिए भी अन्ततः उसकी हो जाओ तो वह भिक्षुणी भी० ॥१५॥

८. अट्ठमसङ्घादिसेसो—अमूलकाधिकरणे

इस नियम की रचना भिक्खुपातिमोक्ख के अष्टम संघादि शेष की घटना पर आधारित है।

८. या पन भिक्खुनी भिक्खुनीं दुट्ठो दोसो अप्पतीतो अमूलकेन पाराजिकेन धम्मेन अनुद्धंसेय्य 'अप्पेव नाम नं इमम्हा ब्रह्मचरिया चावेय्यं' ति, ततो अपरेन समयेन समनुग्गाहीयमानो वा असमनुग्गाहीयमानो वा अमूलकं चेव तं अधिकरणं होति भिक्खुनी च दोसं पतिट्ठाति, सङ्घादिसेसो" ति ॥१६॥

८. जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी पर दूषित चित्त से, क्रोध से अप्रतीत रूप से निराधार पाराजिक दोष का आरोपण करे ताकि वह इस ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाये। बाद में किसी समय पूछे जाने पर वह विवाद निर्मूल सिद्ध हो और वह भिक्षुणी दोषी सिद्ध हो तो वह भी० ॥१६॥

९. नवमसङ्घादिसेसो—अञ्ञभागियाधिकरणे

इस विधान की रचना मे भिक्खुपातिमोक्ख के नवम संघादिशेष मे घटित घटना मूल कारण है—

९ "या पन भिक्खुनी भिक्खुनीं दुट्ठो दोसो अप्पतीतो अञ्ञ-भागियस्स अधिकरणस्स किञ्चिदेसं लेसमत्तं उपादाय पाराजिकेन धम्मेन अनुद्धंसेय्य—'अप्पेव नाम नं इमम्हा ब्रह्मचरिया चावेय्यं' ति। ततो अपरेन समयेन समनुग्गाहीयमानो[1] वा असमनुग्गाहीयमानो वा अञ्ञ-भागियं चेव तं अधि-

1. समनुग्गाहियमानो—सी. स्या. रो.।

करणं होति कोचिदेसो लेसमत्तो उपादिन्नो, भिक्खुनी च दोसं पतिट्ठाति, सङ्घादिसेसो" ति ॥१७॥

९. जो भिक्षुणी किसी दूसरी भिक्षुणी पर दूषित चित्त से क्रोधित होकर अप्रतीत रूप से किसी और दूसरे विवादांश को लेकर पाराजिक दोष लगाये ताकि वह ब्रह्मचर्य से च्युत हो जाये। बाद मे पूछे जाने पर वह विवाद निर्मूल सिद्ध हो ओर दोष लगाने वाली भिक्षुणी ही दोषी सिद्ध हो तो वह भिक्षुणी भी० ॥१७॥

१०. दसमसङ्घादिसेसो---कुपितवाचायं

चण्डकाली भिक्षुणी अन्य भिक्षुणियों से लड़ती-झगड़ती और कहती—मै बुद्ध धर्म और सघ को छोडती हूँ। मुझे श्रामणियों और भिक्षुणियो से क्या तात्पर्य ! अल्पेच्छ भिक्षुणियाँ चण्डका की निन्दा करती। तब भ० ने यह कहा—

१०. "या पन भिक्खुनी कुपिता अनत्तमना एवं वदेय्य—बुद्धं पच्चाचिक्खामि, सङ्घं पच्चाचिक्खामि, सिक्खं पच्चाचिक्खामि। किं नुमाव समणियो या समणियो सक्यधीतरो ! सन्तञ्ञा पि समणियो लज्जिनियो कुक्कुच्चिका सिक्खाकामा, तासाहं सन्तिके ब्रह्मचरियं चरिस्सामी' ति, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'माय्ये, कुपिता अनत्तमना एवं अवच—बुद्धं पच्चाचिक्खामि, धम्मं पच्चाचिक्खामि, सङ्घं पच्चाचिक्खामि, सिक्खं पच्चाचिक्खामि। किं नुमाव समणियो या समणियो सक्यधीतरो ! सन्तञ्ञा पि समणियो लज्जिनियो कुक्कुच्चिका सिक्खाकामा, तासाहं सन्तिके ब्रह्मचरियं चरिस्सामी ति, अभिरमाय्ये[1], स्वाक्खातो धम्मो; चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाया' ति। एवं च सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासीयमाना[2] तं पटिनिस्सज्जेय्य इच्चेतं कुसल; नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, अयं पि भिक्खुनी यावततियक धम्म आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसो" ति ॥१८॥

१०. यदि कोई भिक्षुणी कुपित और असन्तुष्ट होकर यह कहे—"मैं बुद्ध को छोडती हूँ, मैं धर्म को छोडती हूँ, मैं संघ को छोड़ती हूँ। शाक्यपुत्रीय श्रामणियों से मुझे क्या मतलब ! लज्जा, संकोच और शीलग्रहण की इच्छा करनेवाली अन्य श्रामणियाँ भी हैं। मैं उनके पास जाकर ब्रह्मचर्य का आचरण

1. अभिरमय्ये—सी; स्या. रो.। 2. समनुभासिय माना—सी; स्या. रो.।

करूँगी।" तो अन्य भिक्षुणियों को उस भिक्षुणी से ऐसा कहना चाहिये—"कुपित, असन्तुष्ट न हो आर्ये! ऐसा मत कहो—"मैं बुद्ध को ···· ।" यह धर्म अच्छे प्रकार से कहा गया है। दुःख का अन्त करने के लिए सम्यक् प्रकार से ब्रह्मचर्य का आचरण करो।" इस प्रकार से कही जाने पर भी यदि वह भिक्षुणी उसी प्रकार अपने हठ पर आरूढ़ रहे तो तीन बार उससे उस हठ को त्याग करने के लिए कहना चाहिये। यदि छोड़ दे तो ठीक, अन्यथा वह संघादिसेस है ॥१८॥

११. अट्ठमसंघादिसेसो—कुपितवाचायं

चण्डकाली भिक्षुणी ने श्रावस्ती मे किसी अभियोग मे पराजित होने पर कुपित और असन्तुष्ट होकर भिक्षुणियों को रागी, द्वेषी कहा। तब भगवान् ने भिक्षुओं को बुलाकर यह नियम बनाया—

११. "या पन भिक्खुनी किस्मिञ्चिदेव अधिकरणे पच्चाकता कुपिता अनत्तमना एवं वदेय्य—"छन्दगामिनियो च भिक्खुनियो, दोसगामिनियो च भिक्खुनियो, मोहगामिनियो च भिक्खुनियो, भयगामिनियो च भिक्खुनियो' ति, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'मय्ये, किस्मिञ्चिदेव अधिकरणे पच्चाकता कुपिता अनत्तमना एवं च अवच—छन्दगामिनियो च भिक्खुनिया दोसगामिनियो च भिक्खुनियो मोहगामिनियो च भिक्खुनियो भयगामिनियो च भिक्खुनियो ति। अय्या खो छन्दा पि गच्छेय्य, दोसा पि गच्छेय्य, मोहा पि गच्छेय्य, भया पि गच्छेय्या' ति। एव च सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स वत्थुस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासीयमाना तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं; नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, अयं पि भिक्खुनी यावततियकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥१९॥

११. जो भिक्षुणी किसी विवाद मे पराजित होने पर कुपित और असन्तुष्ट होकर ऐसा बोले—"भिक्षुणियाँ रागगामिनी हैं, भिक्षुणियाँ दोषगामिनी हैं, भिक्षुणियाँ मोहगामिनी हैं, भिक्षुणियाँ भयगामिनी हैं।" तो अन्य भिक्षुणियाँ उस भिक्षुणी से ऐसा कहे—"आर्ये! किसी विवाद मे पराजित हो जाने पर कुपित, असन्तुष्ट हो ऐसा न कहिये—"भिक्षुणियाँ रागगामिनी हैं, भिक्षुणियाँ ।" आर्या ही राग, दोष, मोह और भय के पीछे जा सकती हैं।" उन भिक्षुणियों के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर यदि वह भिक्षुणी वैसे ही

दुराग्रही बनी रहे तो भिक्षुणियाँ तीन बार तक उससे उस दुराग्रह को छोड़ने के लिए कहें। यदि तीन बार कहने पर वह उसे छोड़ दे तो कुशल है, यदि न छोड़े तो वह भिक्षुणी भी० ॥१६॥

१२. बारसमसंघादिसेसो—तथेव पग्गण्हितो

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी की अन्तेवासिनी भिक्षुणियाँ प्रतिकूल पापाचरण करती, मिथ्याजीविका करती, और भिक्षुणी संघ का उपहास करतीं थी। यह जानकर भ० ने यह शिक्षापद दिया—

१२. "भिक्खुनियो पनेव संसट्ठा विहरन्ति पापाचारा पापसद्दा पापसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका, अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। ता भिक्खुनियो भिक्खुनीहि एवमस्सु वचनीया—'भगिनियो खो संसट्ठा विहरन्ति पापाचारा पापसद्दा पापसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। विविच्चथाय्ये[1]। विवेकञ्ञेव भगिनीनं सङ्घो वण्णेती'। एवं च ता भिक्खुनियो भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्युं ता भिक्खुनियो भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स वत्थुस्स[2] पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासीयमाना तं पटिनिस्सज्जेय्युं, इच्चेतं कुसलं; नो चे पटिनिस्सज्जेय्युं, इमा पि भिक्खुनियो यावततियकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं ति ॥२०॥

१२. यदि भिक्षुणियाँ प्रतिकूल आचरण करती, दुराचार और अपशब्द कहती, मिथ्याजीविका करती, भिक्षुणी संघ का उपहास अथवा उसके प्रति विद्रोह करती और एक दूसरे के पाप कार्यों का प्रतिच्छादन (गोपन) करती तो दूसरी भिक्षुणियो को उन भिक्षुणियो से यह कहना चाहिए—"हे भगनियो! आप यह सब करती हैं। इन सभी दुराचरणो से दूर रहो। भगनियों (भिक्षुणियो) का संघ तो विवेक की प्रशंसा करता है। इस प्रकार भिक्षुणियों द्वारा उन भिक्षुणियों को ऐसा कहे जाने पर यदि वे अपना दुराग्रह छोड़ देती हैं तो ठीक है, अन्यथा तीन बार उनसे यह कहो। यदि तीन बार तक कहने पर वे अपना दुराग्रह छोड़ दें तो कुशल है। अन्यथा वे भिक्षुणियाँ भी संघादिशेष की दोषी हैं ॥२०॥

१३. तेरसमसंघादिसेसो—तथेव पग्गण्हिते

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी अन्य भिक्षुणियो से कहती—"तुम लोग अलग मत रहो, स्वतन्त्र रहो और पापाचरण करो। संघ मे अन्य भिक्षुणियाँ भी

1. विविच्चथय्ये—सी०, स्या०, रो०। 2. स्या०, म०, रो० पोत्थकेसु नत्थि।

ऐसी ही हैं। परन्तु उन्हें कोई कुछ नहीं कहता। दुर्बल जानकर तुम्हें ही ऐसा कहा जाता है। भ० ने यह घटना जानकर शिक्षापद दिया—

१२. "या पन भिक्खुनी एवं वदेय्य—'संसट्ठा व, अय्ये, तुम्हे विहरथ। मा तुम्हे नाना विहरित्थ। सन्ति सङ्घे अञ्ञा पि भिक्खुनियो एवाचारा एवंसद्दा एवंसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका, अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। ता सङ्घो न किञ्चि आह। तुम्हञ्ञेव सङ्घो उञ्ञाय परिभवेन अक्खन्तिया वेभस्सिया दुब्बल्या एवमाह—भगिनियो खो संसट्ठा विहरन्ति पापाचारा पापसद्दा पापसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका, अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। विविच्चथाय्ये। विवेकञ्ञेव भगिनीनं सङ्घो वण्णेती' ति। सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'मा, अय्ये, एवं अवच—संसट्ठा व, अय्ये, तुम्हे विहरथ। मा तुम्हे नाना विहरित्थ। सन्ति सङ्घे अञ्ञा पि भिक्खुनियो एवाचारा एवंसद्दा एवंसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका, अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। ता सङ्घो न किञ्चि आह। तुम्हञ्ञेव सङ्घो उञ्ञाय परिभवेन अक्खन्तिया वेभस्सिया दुब्बल्या एवमाह—भगिनियो खो संसट्ठा विहरन्ति पापाचारा पापसद्दा पापसिलोका, भिक्खुनीसङ्घस्स विहेसिका, अञ्ञमञ्ञिस्सा वज्जप्पटिच्छादिका। विविच्चथाय्ये। विवेकञ्ञेव भगिनीनं सङ्घो वण्णेती' ति। एवं च सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियं चे समनुभासियमाना तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं; नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, अयं पि भिक्खुनी यावततियकं धम्मं आपन्ना निस्सारणीयं सङ्घादिसेसं" ति ॥२१॥

१२. जो भिक्षुणी दूसरी भिक्षुणी से इस प्रकार बोले—"आर्यायो! तुम सभी (बुरे) संसर्ग में रहो। पृथक्-पृथक् मत रहो। संघ मे अन्य भिक्षुणियाँ भी इसी प्रकार आचार वालीं, इसी प्रकार अपशब्द वाली, इसी प्रकार अपकीर्ति वाली, भिक्षुणी संघ से विद्रोह करने वालीं, परस्पर के दोषों का प्रतिच्छादन करने वाली हैं। भिक्षुणी संघ उन्हें कुछ नही कहता। तुम्हे ही दुर्बल जानकर कोप से तुम्हारा ही परिभव (अपमान) करता है और कहता है—भगिनियो! तुम सब दुराचारिणी, पापाचारिणी, अपकीर्ति वालीं होकर विहार करती हो, भिक्षुणी संघ में द्रोह पैदा करने वाली हो और परस्पर के दोषों को छिपाने वाली हो। भगिनियों का संघ एकान्त और विवेक का प्रशंसक है।" तो भिक्षुणियों के द्वारा वह भिक्षुणी इस प्रकार कही जाय—आर्या! ऐसा मत

कहो—"आर्यायो ! तुम सभी बुरे संसर्ग में रहो० ।" इस प्रकार उन भिक्षुणियों के द्वारा कही जाने पर भी यदि वह भिक्षुणी० ॥२१॥

१४. चतुद्दसमसङ्घादिसेसो—संघभेदे

यह नियम भिक्षु प्रातिमोक्ष के दसवें पाराजिक के सन्दर्भ में घटित घटना के आधार पर बनाया गया है—

१४. "यो पन भिक्खुनी समग्गस्स सङ्घस्स भेदाय परक्कमेय्य, भेदन-संवत्तनिकं वा अधिकरणं समादाय पग्गय्ह तिट्ठेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'मा अय्ये, समग्गस्स सङ्घस्स भेदाय परक्कमि, भेदन संवत्तनिकं वा अधिकरणं समादाय पग्गय्ह अट्ठासि । समेत, अय्ये, सङ्घेन । समग्गो हि सङ्घो सम्मोदमानो अविवदमानो एकुद्देसो फासु विहरती' ति । एवं च सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं चे समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय । यावततियं चे समनुभासियमाना तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसलं; नो चे पटिनिस्सज्जेय, सङ्घादिसेसो" ति ॥२२॥

जो भिक्षुणी समग्र संघ में भेद करने का उपक्रम करे अथवा भेदनकारी अधिकरण (विवाद) को लेकर दुराग्रही बनी रहे, उसे अन्य भिक्षुणियां इस प्रकार कहें—आर्ये ! समग्र संघ में भेद उत्पन्न न करें, भेदनकारी कलह को दुराग्रह पूर्वक पकड़े न बैठें । संघ से मेल करें । कलहहीन समग्र संघ एक उद्देश्य होकर सुख पूर्वक बिहार करता है । इस प्रकार उन भिक्षुणियों द्वारा कही जाने पर भी यदि वह भिक्षुणी उसी प्रकार दुराग्रह को पकड़ी रहे तो ० ॥२२॥

१५. पन्नरसमसंघादिसेसो—सङ्घभेदकानुवत्तने

यह नियम भिक्षु प्रातिमोक्ष के ग्यारहवें संघादिसेस से बिलकुल समानता रखता है ॥२३॥

१६. सोळसमसंघादिसेसो—दुब्बचभूते

यह नियम भिक्षु प्रातिमोक्ष के बारहवें संघादिसेस के समान है ॥२४॥

१७. सत्तरसमसंघादिसेसो—कुलदूसने

यह विनय नियम भिक्षु प्रातिमोक्ष के तेरहवें नियम जैसा है । वहाँ से देखा जा सकता है ॥२५॥

उद्दिट्ठा खो, अय्यायो, सत्तरस सङ्घादिसेसा धम्मा — नव पठमापत्तिका, अट्ठ यावततियका। येसं भिक्खुनी अञ्ञतरं वा अञ्ञतरं वा आपज्जति[1], ताय भिक्खुनिया उभतोसङ्घे पक्खमानत्तं चरितब्बं। चिण्णमानत्ता[2] भिक्खुनी[3] यत्थ सिया वीसतिगणो भिक्खुनीसङ्घो तत्थ सा भिक्खुनी अब्भेतब्बा। एकाय पि चे ऊनो वीसतिगणो[4] भिक्खुनी—सङ्घो तं भिक्खुनिं अब्भेय्य। सा च भिक्खुनी अनब्भिता, ता च भिक्खुनियो गारय्हा, अयं तत्थ सामीचि।

तत्थाय्यायो पुच्छामि — "कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि— "कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि— "कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो[5], तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामि ति।

आर्यायो! ये सत्रह संघादिसेस निर्दिष्ट किये गये—नव प्रथमापत्तिक (प्रथम बार में ही दोष माने जाने वाले) और आठ यावततियक (तीन बार तक दोहराने पर)। इनमें से यदि भिक्षुणी कोई एक अपराध करे तो वह भिक्षुणी दोनों (भिक्षु-भिक्षुणी) संघों में एक पक्ष का मानत्व (परिवास) करे। मानत्व पूरा हो जाने पर वह भिक्षुणी जहाँ बीस भिक्षुणियों का संघ हो वहाँ पहुँचे। यदि बीस से एक भी भिक्षुणी कम हुई और उस संघ ने उस भिक्षुणी को अपराध से मुक्त किया तो वस्तुत: वह भिक्षुणी अपराध से मुक्त नहीं होती। वे भिक्षुणियाँ निन्दनीय हैं। यह यहाँ उचित है।

आर्यायों से पूछती हूँ—क्या आप इन दोषों से परिशुद्ध हैं? दूसरी बार भी पूछती हूँ—क्या आप परिशुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछती हूँ—क्या आप परिशुद्ध हैं? आर्यायें परिशुद्ध हैं, इसीलिए मौन हैं। ऐसा मैं मानती हूँ।

॥ सङ्घादिसेसकण्डं निट्ठितं ॥

1. आपज्जित्वा—रो०। 2. चिण्णमानत्ताय—सी०, स्या०।
3. भिक्खुनिया—सी०, स्या०। 4. ऊनवीसतिगणो—रो०।
5. परिसुद्धेत्थय्यायो—सी०, स्या०, रो०।

३. निस्सग्गियकण्डं (२६–५६)

इमे खो पनय्यायो[1] तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आर्याओ ! ये तीस अपराध निस्सग्गिय-पाचित्तिय कहे जाते हैं ।

१. पत्तवग्गो पठमो

१. पठमनिस्सग्गियं– पत्तसन्निचये

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ अनेक पात्रों को इकट्ठा करती थी । लोगों ने इसकी निन्दा की । भिक्षुणियों ने यह जानकर उसकी भर्त्सना की । तब भ० ने यह नियम बनाया—

१. "या पन भिक्खुनी पत्तसन्निचयं करेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥२६॥

१. जो भिक्षुणी पात्रों का संचय करे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२६॥

२. दुतियनिस्सग्गियं—चीवरभाजापने

बहुत-सी भिक्षुणियाँ आवास में अपने चीवरों को छोड़कर गाँवों मे जाती । उपासकों ने उनके रूक्ष चीवरों को देखकर उन्हे ईर्यापथसम्पन्न मानकर अकाल चीवर दे दिये । थुल्लनन्दा के पास कठिन चीवर तो था ही । इस चीवर को उसने कालचीवर मानकर ग्रहण किया-कराया । उपासकों और भिक्षुणियों ने उसकी निन्दा की । तब भ० ने यह शिक्षापद दिया—

२. "या पन भिक्खुनी अकालचीवरं 'कालचीवरं' ति अधिट्ठहित्वा भाजापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति ॥२७॥

२. जो भिक्षुणी अकालचीवर को कालचीवर मानकर ग्रहण कराये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२७॥

३. ततियनिस्सग्गियं—चीवरपरिवत्तने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी अन्य भिक्षुणियों से चीवर बदलकर उनका उपयोग

---

1. पनय्यायो—सी०, स्या०, रो० ।

करती थीं । एकबार एक भिक्षुणी परिवर्तित चीवर को ले गई । थुल्लनन्दा ने उससे उस चीवर को लाने के लिए कहा और कहा कि तुम अपना चीवर वापिस ले लो और हमारा चीवर वापिस दे दो । यह बात उस भिक्षुणी ने अन्य भिक्षुणियों से कही । तब भ० ने यह शिक्षापद दिया—

३. "या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया सद्धिं चीवरं परिवत्तेत्वा सा पच्छा एवं वदेय्य—'हन्दाय्ये, तुय्हं चीवरं आहर, मेतं चीवरं, यं तुय्हं तुय्हमेवेतं, यं मय्हं मय्हमेवेतं, आहर, मेतं, सकं पच्चाहरा' ति अच्छिन्देय्य वा अच्छिन्दापेय्य वा, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥२८॥

३. जो भिक्षुणी अन्य भिक्षुणी से चीवर बदलकर बाद में पूछे और कहे—"आर्ये ! तुम अपने इस चीवर को ले लो । जो तुम्हारा है वह तुम्हारा हो और जो मेरा है वह मेरा हो । उस चीवर को ले आओ और अपना चीवर वापिस ले जाओ ।" यह कहकर चीवर को छीने या छिनाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२८॥

४. चतुत्थनिस्सग्गियं—अञ्ञं विञ्ञापेत्वा अञ्ञं विञ्ञापने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी एक बार अस्वस्थ हो गई । उपासक ने आकर कुशलप्रश्न पूछा । थुल्लनन्दा ने उससे घी लाने को कहा । वह कार्षापण देकर घी ले आया । थुल्लनन्दा ने बाद मे घी के स्थान पर तेल मँगाया । दूकानदार ने वस्तु बदलने मे अस्वीकृति व्यक्त की । उपासक ने अन्य भिक्षुणियों से थुल्लनन्दा की बात कही । तब भ० ने यह शिक्षापद दिया ।

४. "या पन भिक्खुनी अञ्ञं विञ्ञापेत्वा अञ्ञं विञ्ञापेय्य निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥२९॥

जो भिक्षुणी किसी एक वस्तु के लिए कहे और फिर दूसरी वस्तु को माँगे तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥२९॥

५. पञ्चमनिस्सग्गियं—अञ्ञं चेतापने

एक समय थुल्लनन्दा भिक्षुणी अस्वस्थ हुई । एक उपासक उसके पास कुशल-प्रश्न पूछने के लिए आया । थुल्लनन्दा ने उससे कहा—अमुक घर जाकर कार्षापण ले आओ । इसी प्रकार एक शिक्षमाणा से कहा—तुम बाजार से तेल ले आओ । तेल लाने पर उससे कहा—नहीं, घी चाहिए था । शिक्षमाणा बाजार गई पर दूकानदार ने तेल वापिस नहीं किया । परिणामत: वह रोने लगी । यह देखकर नियम बनाया गया—

५. "या पन भिक्खुनी अञ्ञं चेतापेत्वा अञ्ञं चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति ॥३०॥

५. जो भिक्षुणी अन्य वस्तु को मँगाकर फिर अन्य वस्तु को मँगाये, तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ।

६. छट्ठनिस्सग्गियं—अञ्ञं चेतापने

श्रावस्ती की बात है। उपासकों ने भिक्षुणी संघ के लिए किसी दूसरे प्रावारक के घर मे चीवर के लिए परिक्षार रख दिया और भिक्षुणियों से कह दिया कि वे वहाँ से ले लें। भिक्षुणियों ने उस परिक्षार से भैषज्य मँगा ली। यह जानकर उपासको को अत्यन्त दुःख हुआ। तब भ० ने नियम बनाया—

६. "या पन भिक्खुनी अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन सङ्घिकेन अञ्ञं चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तिय ति ॥३१॥

जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले, अन्य उद्देश्य वाले सघ के परिक्षार से अन्य वस्तु मँगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३१॥

७. सत्तमनिस्सग्गियं—संयाचिकेन अञ्ञं चेतापने

कथा छठे निस्सग्गिय पाचित्तिय जैसी ही है। मात्र अन्तर यह है कि यहाँ 'सयाचिकेन' शब्द दिया गया है—

७. "या पन भिक्खुनी अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन सङ्घिकेन संयाचिकेन अञ्ञं चेतापेय्य, निसग्गियं पाचित्तियं" ति ॥३२॥

जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले अन्य उद्देश्य वाले संघ के लिए याचित वस्तु से अन्य वस्तु मँगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३२॥

८. अट्ठमनिस्सग्गियं—अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञं चेतापने

श्रावस्ती मे परिवेणवासिनी भिक्षुणियाँ अन्यतर जन समुदाय से यवागु (खिचड़ी) माँगती। जन समुदाय ने भिक्षुणियो को यवागु के लिए किसी दूकानदार के घर म परिक्षार रख दिया और भिक्षुणियो से कह दिया "अमुक घर में परिक्षार रख दिया है। वहाँ से चावल लेकर खिचड़ी पकाकर खा लेना। भिक्षुणियों ने उस परिक्षार से भैषज्य मँगवाकर खाया। उस जन समुदाय को जब यह पता चला तो वह क्रोधित हुआ। तब भ० ने यह नियम बनाया—

८. "या पन भिक्खुनी अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन महाजनिकेन अञ्ञं चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं" ति ॥३३॥

जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले परिक्षार से अन्य उद्देश्य वाले महाजन समुदाय की वस्तु से अन्य वस्तु मँगाये, उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है ।।३३।।

९. नवमनिस्सग्गियं—अञ्ञं चेतापने

घटना लगभग उपर्युक्त जैसी ही है—

९. "या पन भिक्खुनी अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन महाजनिकेन संयाचिकेन अञ्ञा चेतापेय्य निसग्गियं पाचित्तियं ति ।।३४।।

जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले, अन्य उद्देश्य वाले महाजन के द्वारा माँगे हुए परिक्षार से अन्य वस्तु मँगाये, उसे निस्सग्यि पाचित्तिय है ।।३४।।

१०. दसमनिस्सग्गियं—संयाचिकेन अञ्ञं चेतापने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी बहुश्रुता थी । बहुत से उपासक उसकी सेवा करने आते थे । उन्होंने जो परिक्षार दिया उससे भिक्षुणियों ने भैषज्य खरीद लिया । तब भ० ने नियम बनाया—

१०. "या पन भिक्खुनी अञ्ञदत्थिकेन परिक्खारेन अञ्ञुद्दिसिकेन पुग्गलिकेन संयाचिकेन अञ्ञ चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति ।।३५।।

जो भिक्षुणी अन्य निमित्त वाले, अन्य प्रयोजन वाले किसी व्यक्ति विशेष के लिए याचित वस्तु से अन्य वस्तु मँगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ।।३५।।

इति पत्तवग्ग ।।१।।

२. चीवरवग्गो द्वितियो ।।२।।

११. एकादसमनिस्सग्गियं—गरुपावुरणचेतापने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी बहुश्रुता थी । एक समय राजा पसेनदि कम्बल लेकर उसके पास गया और उपदेश सुनने के बाद पूछा—आपको किस चीज की आवश्यकता है ? उत्तर मे उसने कहा—"यही कम्बल दे दीजिए ।" पसेनदि कम्बल लेकर चला आया । अन्य लोगों ने इस कृत्य की आलोचना की । तब भ० ने कहा कि—

११. "गरुपावुरणं[1] पन भिक्खुनिया चेतापेन्तिया चतुक्कंसपरमं चेतापेतब्बं । ततो चे उत्तरिं[2] चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति ।।३६।।

1. गरुपापुरण—सी०, स्या० । 2. उत्तरि—म०, रो० ।

भिक्षुणी शीतकालीन प्रावारण को अधिक से अधिक चार कंस (सोलह कार्षापण) तक की कीमत का मँगाये। उससे अधिक का यदि मँगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३६॥

१२. बारसमनिस्सग्गियं—लहुपावुरणचेतापने

इस नियम से सम्बद्ध घटना ग्यारहवें निस्सग्गिय जैसी ही है। मात्र अन्तर यह है कि थुल्लनन्दा के मांगने पर पसेनदि ने उसे ग्रीष्मकाल के लिए क्षौम वस्त्र दिया तब भ० ने यह नियम बनाया—

१२. "लहुपावुरण[1] पन भिक्खुनिया चेतापेन्तिया अड्ढतेय्यकंसपरमं चेतापेतब्ब। ततो चे उत्तरिं चेतापेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं' ति ॥३७॥

ग्रीष्मकालीन प्रावरण को भिक्षुणी अधिक से अधिक ढाई कंस (दस कार्षापण) तक की कीमत का मँगाये। उससे अधिक का मँगाये तो निस्सग्गिय पाचित्तिय है ॥३७॥

१३-३० निस्सग्गियानि

भिक्खु पातिमोक्ख मे भिक्षु के लिए २७ निस्सग्गिय-पाचित्तिय निर्धारित किये गये है और भिक्षुणी पातिमोक्ख मे भिक्षुणी के लिए यह संख्या तीस तक पहुंची है। भिक्षुणी के लिए जिन अधिक निस्सग्गिय-पाचित्तियो का निर्धारण किया गया था उनका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। आगे का जो विशेष अन्तर है वह यह है कि भिक्षु के लिए तीन चीवरो का साधारणतः विधान था पर भिक्षुणियो के लिए पाँच चीवर विहित किये गये।

इसी प्रकार भिक्षु प्रातिमोक्ष मे भिक्षुओ के साथ भिक्षुणियो का सम्बन्ध आता है, वैसे ही भिक्षुणी प्रातिमोक्ष मे भिक्षुओ का सन्दर्भ आता है। इसके अतिरिक्त दोनो मे अन्तर जो भी है वह नियमों की क्रम-संख्या मे है, विषय मे नही। इसलिए यहाँ उनका उल्लेख पृथक् रूप से नही किया जा रहा है। उन्हे भिक्खु पातिमोक्ख मे देखा जा सकता है। चीवरवग्ग और जातरूपवग्ग दोनो लगभग समान है ॥५६॥

1. लहुपापुरणं—सी०, स्या०।

भिक्खुणी पातिमोक्ख के निस्सग्गिय पाचित्तिय नियमों की संख्या	भिक्खु पातिमोक्ख के नि० पा० नियमों की संख्या
१३	१
१४	२
१५	३
१६[1]	६
१७	७
१८	८
१९	९
२०	१०
२१	१८[2]
२२	१९
२३	२०
२४	२२
२५	२३
२६	२५
२७	२६
२८	२७
२९	२८
३०	३०

६१. उद्दिट्ठा खो, अय्यायो, तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा। तत्थाय्यायो[3] पुच्छामि —"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि —"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततिय पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा? परिसुद्धेत्थाय्यायो[4], तस्मा तुण्ही, एवमेत धारयामी ति।

आर्यायो! तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय धर्म कह दिये गये। आर्यायों से पूछती हूँ—"क्या आप लोग इन दोषो (धर्मों) से परिशुद्ध हैं?" दूसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग परिशुद्ध हैं? तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध हैं"? आर्यायें परिशुद्ध है, इसीलिए मौन है। इस प्रकार मैं इसे धारणकरती हूँ।

निस्सग्गियकण्डं निट्ठितं

---

१. भिक्खु पाति० की नियम क्र० संख्या ४ और ५ भिक्खुणी पाति० मे नही है।

२. भिक्खु पाति० मे ११-१७ तक नियम भिक्खु पाति० की तुलना मे अधिक है। इसी तरह वहाँ २१ वा, २४ वा और २९ वा नियम भी अधिक है।

3. तत्थय्यायो—सी०, स्या०, रो०।

4. परिसुद्धेत्थय्यायो—सी०, स्या०, रो०।

पाचित्तियकण्डं ५७–२२२

इमं खो पनाय्यायो छसट्ठिसता पाचित्तिय धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति।

आर्यायो ! ये एक सौ छयासठ पाचित्तिय दोष कहे जाते हैं।

१. लसुणवग्गो पठमो

१. पठमपाचित्तियं—लसुणखादने

श्रावस्ती में किसी उपासक ने भिक्षु संघ को लहसुन भेंट किया। क्षेत्रपाल से भी उसने उन्हें यथेच्छ देने को कह दिया। श्रावस्ती में उसी समय एक उत्सव हुआ। लहसुन उस समय वहाँ समाप्त हो गया। भिक्षुणियाँ उस उपासक के पास आकर पूछती। उपासक उत्तर देता—लहसुन समाप्त हो गया है। खेत पर जाइये। थुल्लनन्दा भिक्षुणी ने खेत पर जाकर मात्रा को बिना जाने बहुत परिमाण में लहसुन इकट्ठा कर लिया। क्षेत्रपाल यह देखकर अत्यन्त क्रोधित हुआ।

थुल्लनन्दा भिक्षुणी पूर्वजन्म में किसी ब्राह्मण के पुत्र रूप में थी। उस पुत्र की तीन धात्रियाँ थी—नन्दा, नन्दवती और सुन्दरीनन्दा। वह ब्राह्मण मरकर हंस हुआ। वह हंस प्रतिदिन उस ब्राह्मण पुत्र को अपना एक स्वर्ण पंख देता। यह देख ब्राह्मण पुत्र ने हंस को पकड़ कर उसके सभी स्वर्ण पंख काटकर उसे पंखहीन कर दिया। उसी जीव के रूप में थुल्लनन्दा ने लोभी होकर बहुत मात्रा में लहसुन तोड़ा। भ० ने यह जानकर नियम बनाया—

१. **"या पन भिक्खुनी लसुणं खादेय्य पाचित्तियं ॥५७॥**

१. जो भिक्षुणी लहसुन (मागधक) खाये उसे पाचित्तिय है ॥५७॥

२. दुतियपाचित्तियं—लोमसंहरापने

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ काम वासना से संतप्त होकर गुह्य स्थानों के लोम निकालकर अचिरवती नदी में नग्न होकर वेश्याओं के साथ एक ही घाट पर नहाती थी। यह जानकर भ० ने नियम बनाया—

२. **या पन भिक्खुनी सम्बाधे लोमं संहरापेय्य, पाचित्तियं ॥५८॥**

जो भिक्षुणी गुह्य स्थान (सम्बाध) के लोम बनवावे, उसे पाचित्तिय है। ।५८ ॥

३· ततियपाचित्तियं—तलघातके

श्रावस्ती मे दो भिक्षुणियाँ कामपीड़ित होकर गुप्त स्थान मे तलघातक (कृत्रिम मैथुन) करती थीं । यह जानकर भगवान् बुद्ध ने यह नियम बनाया—

३. तालघानके पाचित्तियं ति[1] ॥५६॥

३. कृत्रिम मैथुन मे पाचित्तिय है ॥५६॥

४· चतुत्थपाचित्तियं—जतुमट्ठके

श्रावस्ती मे कोई पुराणराजोरोधा नाम की महिला ने दीक्षा ली। कोई दूसरी भिक्षुणी काम पीडिता होकर उसके पास पहुँची और बोली—राजा तुम्हारे पास बहुत समय से जा-आ रहा है। तुम उसे कैसे धारण करती हो अर्थात् तुम उससे संभोग किस प्रकार करती हो ? उत्तर मिला—"जतुमट्ठक से।" वह भिक्षुणी जतुमट्ठक लेकर गई, पर उसे बिना धोये वहीं एक किनारे छोड़ दिया। उस पर मक्षियो का भिनकना देखकर भिक्षुणियो ने पूछा—"यह किसका कर्म है ?" उस भिक्षुणी ने कहा—मेरा"। अल्पेच्छ भिक्षुणियो ने उसकी निन्दा की और भगवान् ने नियम बनाया—

४. "जतुमट्ठके पाचित्तिय ति ॥६०॥

४. जतुमट्ठक (लाख का बना मैथुन साधन) के उपयोग करने मे पाचित्तिय है ॥६०॥

५. पञ्चम पाचित्तियं—उदकसुद्धिकमादियने

कपिलवस्तु मे महाप्रजापति गौतमी भ० के पास गई और कहा—"भगवन् ! स्त्रियाँ दुर्गन्धित है !" यह सुनकर भगवान् ने उन्हे जलशुद्धि की अनुज्ञा दी। किसी भिक्षुणी ने कहा—"भगवान् ने गुह्य भाग को जल से शुद्ध करने की अनुज्ञा दे दी है" यह मानकर गुह्य भाग को अधिक गहराई तक जल से धोने लगी। यह जानकर भगवान् ने नियम बनाया—

५. उदकसुद्धिकं पन भिक्खुनिया आदियमानाय द्वङ्गुलपुब्बपरम आदातब्ब। तं अतिक्कामेन्तिया पाचित्तिय" ति ॥६१॥

५. भिक्षुणी को उदक शुद्धि का तात्पर्य "अधिकाधिक दो अगुल के पोरो तक" ग्रहण करना चाहिये। उसका अतिक्रमण करने पर पाचित्तिय है ॥६१॥

६. छट्ठपाचित्तियं—भोजनुपट्ठाने

श्रावस्ती मे आरोहन्त नामक महामात्र प्रव्रजित हुआ। उसकी पुराण-द्वितीयका भिक्षुणी हो गई थी। वह भिक्षुणी भोजन करते हुए महामात्र भिक्षु को जल और पंखे से सेवा करती। भिक्षु उसे ऐसा करने को मना करता, पर वह नहीं मानती। भगवान् ने तब यह नियम बनाया—

६. "या पन भिक्खुनी भिक्खुस्स भुञ्जन्तस्स पानीयेन वा विधूपनेन वा उपतिट्ठेय्य, पाचित्तिय" ति ॥६२॥

३. जो भिक्षुणी भोजन करते हुए भिक्षु को जल अथवा पंखे से सेवा-सुश्रुषा करे, उसे पाचित्तिय है ॥६२॥

७. सत्तमपाचित्तियं—आमकधञ्ञविञ्ञापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ शस्यकाल मे कच्चे धान्य को मंगवाकर नगर मे जाती और वहाँ दरवाजो पर खड़े होकर भिक्षा माँगती। यह जानकर भगवान् ने नियम बनाया—

७. "या पन भिक्खुनी आमकधञ्ञं विञ्ञत्वा[1] वा विञ्ञापेत्वा[2] वा भज्जित्वा वा भज्जापेत्वा वा कोट्टेत्वा[3] वा कोट्टापेत्वा वा पचित्वा वा पचापेत्वा वा भुञ्जेय्य[4], पाचित्तियं" ति ॥६३॥

७. जो भिक्षुणी कच्चे धान्य को माँगकर अथवा मँगवाकर भूनकर अथवा भुनवाकर, कूटकर अथवा कुटवाकर, पकाकर अथवा पकवाकर खाये तो पाचित्तिय है ॥६३॥

८. अट्ठमपाचित्तियं—तिरोकुड्डछड्डने

श्रावस्ती मे कोई ब्राह्मण "भटपथ मे पूजन करूँगा" यह सोचकर शिर से नहाकर भिक्षुणियो के उपाश्रय मे रुककर राजकुल जाता। वहाँ कोई भिक्षुणी कटाह मे महामूत्र कर दीवाल के पीछे छोड़ देती। उससे उस ब्राह्मण का मस्तक अपवित्र हो गया। यह जानकर भगवान् ने नियम बनाया—

८. "या पन भिक्खुनी उच्चार वा पस्साव वा सङ्कार वा विघासं वा तिरोकुड्ड वा तिरोपाकारे वा छड्डेय्य वा छड्डापेय्य, वा पाचित्तियं" ति ॥६४॥

1. विञ्ञापेत्वा—सी०, स्या०; विञ्ञित्वा—रो०।
2. विञ्ञापापेत्वा—सी०, स्या०।
3. कोट्टित्वा—रो०।
4. परिभुञ्जेय्य—सी०।

८. जो भिक्षुणी मल (टट्टी) अथवा मूत्र को, अथवा कुड़े-कचड़े को, अथवा उच्छिष्ट (जूठे) जलादि को दीवाल के पीछे अथवा प्राकार के पीछे स्वयं छोड़े अथवा छुड़वाये, तो पाचित्तिय है ।।६४।

९. नवमपाचित्तियं—हरिते उच्चारछड्डने

उक्त प्रकार से ही जब भिक्षुणियां मल-मूत्रादि को खेत मे फेंकने लगी तो भ० ने नियम बनाया—

९. "या पन भिक्खुनी उच्चारं वा पस्सावं वा सङ्कारं वा विघासं वा हरिते छड्डेय्य वा छड्डापेय्य वा, पाचित्तियं" ति ।।६५।।

९. जो भिक्षुणी मल-मूत्र को अथवा कूड़े-कचड़े को अथवा जूठे जल-भोजनादिक को खेत (हरियाली) मे फेंके अथवा फिकवाये तो पाचित्तिय है ।।६५।।

१०. दसमपाचित्तियं—नच्चगीतवादितगमने

राजगृह मे षड्वर्गीय भिक्षुणियो गिरग्ग समज्ज (नृत्य-गीतादि) को देखने जाती । अन्य व्यक्ति खीजते कि कैसी ये भिक्षुणियाँ है जो साधारण काम भोगनीय गृहणियों के समान नृत्यादि देखने आती हैं । तब भ० ने नियम बनाया—

१०. "या पन भिक्खुनी नच्चं वा गीतं वा वादितं वा दस्सनाय गच्छेय्य, पाचित्तियं" ति ।।६६।।

१०. जो भिक्षुणी नृत्य, गीत, वादित्र को देखने जाये तो उसे पाचित्तिय है ।।६६।।

२. अन्धकारवग्गो दुतियो

११. एकदसमपाचित्तियं — सान्धकारे सन्तिट्ठिते

श्रावस्ती का प्रसंग है । भद्रा कपिलानी की शिष्या भिक्षुणी के साथ किसी करण से कोई अज्ञात पुरुष किसी गाँव से श्रावस्ती आया । वह भिक्षुणी उस पुरुष के साथ रात्रि के अन्धकार में मन्द प्रकाश मे अकेली खड़ी बात करती थी । यह देख अल्पेच्छ भिक्षुणियो ने उसकी निन्दा की । भगवान् ने तब नियम बनाया—

११. "या पन भिक्खुनी रत्तन्धकारे अप्पदीपे पुरिसने सद्धिं एकेनेका संतिट्ठेय्य वा सल्लपेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥६७॥

११. जो भिक्षुणी रात्रि के अन्धकार में दीपक के मन्द प्रकाश में अकेले पुरुष के साथ अकेली खडी रहे अथवा संलाप करे तो पाचित्तिय है ।।६७॥

१२. बारसमपाचित्तियं—पटिछन्न सन्तिट्ठते

घटना वही है। अन्तर मात्र यह है कि भिक्षुणी अकेले पुरुष के साथ प्रतिच्छन्न स्थान में संलाप करती थी। तब भ० ने यह नियम बनाया—

१२. "या पन भिक्खुनी पटिच्छन्ने ओकासे पुरिसेन सद्धिं एकेनेका सन्तिट्ठेय्य वा सल्लपेय्य वा. पाचित्तियं" ति ॥६७॥

१२. जो भिक्षुणी प्रतिच्छन्न (दीवाल, कपाट आदि के पीछे का भाग) स्थान मे अकेले पुरुष के साथ अकेली खडी रहे अथवा संलाप करे तो पाचित्तिय है ॥६८॥

१३. तेरसमपाचित्तियं--अज्झोकासे सन्तिट्ठिते

भद्रा कापिलानी जब खुले स्थान में अकेले पुरुष के साथ अकेली संलाप करने लगी तो नियम बनाया गया—

१३. "या पन भिक्खुनी अज्झोकासे पुरिसेन सद्धिं एकेनेका सन्तिट्ठेय्य वा सल्लपेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥६९॥

१३. जो भिक्षुणी खुले स्थान मे अकेले पुरुष के साथ अकेली खडी रहे अथवा संलाप करे, तो पाचित्तिय है ॥६९॥

१४. चातुद्दसमपाचित्तियं--रथिकादिसु सन्तिट्ठिते

थुल्लनन्दा भिक्षुणी चौडे मार्ग पर, व्यूह और चौराहे पर भी अकेली खडी होकर अकेले पुरुष के साथ संलाप करती थी। तब भ० ने नियम बनाया—

१४. "या पन भिक्खुनी रथिकाय वा ब्यूहे वा सिङ्घाटके वा पुरिसेन सद्धिं एकेनेका सन्तिट्ठेय्य वा सल्लपेय्य वा निकण्णिकं वा जप्पेय्य दुतियिकं वा भिक्खुनिं उय्योजेय्य, पाचित्तियं" ति ॥७०॥

१४. जो भिक्षुणी रथिका, व्यूह और चौराहे पर एकाकी पुरुष के साथ अकेली खडी रहे अथवा संलाप करे अथवा कान मे बात करे अथवा किसी दूसरी भिक्षुणी को प्रेरित करे तो पाचित्तिय है ॥७०॥

१५. पञ्चदसमपाचित्तियं—पुरेभत्तं कुलूपसङ्कमने

श्रावस्ती में कोई भिक्षुणी किसी ग्रहस्थ के घर से नित्य पिण्डिका दान लिया करती थी। एक दिन वह भिक्षुणी प्रात:काल उठकर उस ग्रहस्थ के घर पहुँची और जाकर आसन पर बैठ गई। फिर बिना पूछे ही वहाँ वापिस चली आई। ग्रहस्थ के घर में झाडू लगाने वाली ने उस आसन को भाजनान्तर में रख दिया। स्वामी को इसका ज्ञान नही था। उसने भिक्षुणी से उस आसन को माँगा और उसका पिण्डदान भी बन्द कर दिया। एक दिन घर को साफ करते समय वह आसन मिल गई। ग्रहस्थ ने क्षमा याचना कर उसे पुन: पिण्डदान देने की अभ्यर्थना की। भ० ने यह सब जानकर नियम बनाया—

१५. "या पन भिक्खुनी पुरेभत्तं कुलानि उपसङ्कमित्वा आसने निसीदित्वा सामिके अनापुच्छा पक्कमेय्य, पाचित्तियं" ति ॥७१॥

जो भिक्षुणी भोजन के पूर्व ग्रहस्थ कुलों मे जाकर आसन पर बैठकर स्वामी के बिना पूछे वहाँ से चली आये, तो पाचित्तिय है ॥७१॥

१६. सोळसमपाचित्तियं—पच्छाभत्तं कुलूपसङ्कमने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी भोजन के पश्चात् ग्रहस्थ कुलों में जाकर बिना पूछे ही आसन पर बैठती और लेट जाती थी। यह जानकर भ० ने नियम बनाया—

१६. "या पन भिक्खुनी पच्छाभत्तं कुलानि उपसङ्कमित्वा सामिके अनापुच्छा आसने अभिनिसीदेय्य वा अभिनिपज्जेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥७२॥

जो भिक्षुणी भोजनोपरान्त कुलों मे जाकर स्वामियों के बिना पूछे आसन पर बैठे अथवा लेटे तो पाचित्तिय है ॥७२॥

१७. सत्तरसमपाचित्तियं—विकाले कुलूपसङ्कमने

कुछ भिक्षुणिया श्रावस्ती को जाती हुई कोशल के जनपदीय ग्रामो मे सायंकाल किसी ब्राह्मण कुल में पहुँचकर ठहर जाने की याचना करती थी। एक ब्राह्मणी ने अपने ब्राह्मण पति के आने तक भिक्षुणियों को ठहर जाने दिया। कुछ भिक्षुणियां विस्तरों पर लेट गयी और कुछ जमीन पर। जब रात्रि मे ब्राह्मण आया तो उसने उन सभी को घर से बाहर निकाल दिया। इस घटना से भ० ने नियम बनाया—

१७. "या पन भिक्खुनी विकाले कुलानि उपसङ्कमित्वा सामिके अनापुच्छा सेय्यं सन्थरित्वा वा सन्थरापेत्वा वा अभिनिसीदेय्य वा अभिनिपज्जेय्यं वा, पाचित्तिय" ति ॥७३॥

१७. जो भिक्षुणी विकाल में गृहस्थ कुलों के पास पहुँचकर स्वामियों से अनुमति प्राप्त किये बिना ही शय्या को बिछाकर अथवा बिछवाकर उसपर बैठे अथवा लेटे तो पाचित्तिय है ।।७३।।

१८. अट्ठारसमपाचित्तियं—परं उज्झापने

भद्रा कापिलानी की शिष्या भिक्षुणी भद्रा को आदर प्रदान करने वाली भिक्षुणियों के लिए दूसरे से चीवर देने का अनुरोध करती और जो आदर नहीं करती थी उन्हें चीवर न देने के लिए प्रेरित करती । इस घटना पर भ० ने यह नियम बनाया—

१८. "या पन भिक्खुनी दुग्गहितेन दूपधारितेन परं उज्झापेय्य, पाचित्तियं ।।७४।।

१८. जो भिक्षुणी अन्यथा ग्रहणकर, अन्यथा धारणकर दूसरे को उकसाये तो पाचित्तिय है ।।७४।।

१९. ऊनवीसतिमपाचित्तियं—अत्तानं परं वा अभिसपने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ अपने पात्रो को न देखने पर चण्डकाली भिक्षुणी को पूछती कि क्या तुमने हमारे पात्र देखे हैं ? चण्डकाली भिक्षुणी खीझकर कहती यदि मैंने तुम्हारे बर्तन लिये हो तो मैं अश्रमणी हो जाऊँ और ब्रह्मचर्य से पतित हो जाऊँ । यह घटना जानकर भ० ने नियम बनाया—

१९. "या पन भिक्खुनी अत्तानं वा परं वा निरयेन वा ब्रह्मचरियेन वा अभिसपेय्य, पाचित्तियं" ति ।।७५।।

१९. जो भिक्षुणी स्वयं को अथवा दूसरे को नरक से अथवा ब्रह्मचर्य से अभिशप्त करे, तो पाचित्तिय है ।।७५।।

२०. वीसतिमपाचित्तियं—अत्तानं वधित्वा रोदने

श्रावस्ती में चण्डकाली भिक्षुणी भिक्षुणियों से लड़कर अपने को पीट-पीटकर रोती थी । इस घटना से भ० ने नियम बनाया—

२०. "या पन भिक्खुनी अत्तानं वधित्वा वधित्वा रोदेय्य, पाचित्तिय" ति ।।७६।।

२०. जो भिक्षुणी स्वयं को मार-मारकर रोये, तो पाचित्तिय है ।।७६।।

३. नग्गवग्गो ततियो

२१. एकवीसतिमपाचित्तियं—नग्गनहाने

श्रावस्ती में अचिरवती नदी मे वेश्याओं के साथ भिक्षुणियाँ एक ही घाट पर नग्न होकर नहाती थी। वेश्याओं ने उन भिक्षुणिओं से कहा कि तुम लोग इस तरुणावस्था मे ब्रह्मचर्य का पालन क्यों करती हो? कामोपभोग करो। वृद्धावस्था आ जाने पर भले ही उसे ग्रहण करो। यह घटना जानकर भ० ने नियम बनाया—

२१. "या पन भिक्खुनी नग्गा नहायेय्य, पाचित्तिय" ति ॥७७॥

२१. जो भिक्षुणी नग्न होकर नहाये तो पाचित्तिय है ॥७७॥

२२. बावीसतिमपाचित्तियं—उदकसाटिककारापने

भगवान् ने उदक साटिका पहिनने की अनुमति दी है। यह सोचकर षड्वर्गीय भिक्षुणियो ने प्रमाणहीन उदकशाटिकाएँ पहिनना प्रारम्भ कर दी। तब भ० ने उन्हे प्रमाण निर्धारित किया—

२२. "उदकसाटिक भिक्खुनिया कारयमानाय पमाणिका[1] कारेतब्बा। तत्रिद पमाण—दीघसो चतस्सो विदत्थियो, सुगतविदत्थिया; तिरियं द्व विदत्थियो। तं अतिक्कामेन्तिया छेदनक पाचित्तिय' ति ॥७८॥

२२. उदकशाटिका बनवाते समय भिक्षुणी को प्रमाण के अनुसार बनवाना चाहिए। उसका प्रमाण इस प्रकार है—भगवान् सुगत के बेतिये से चार बेतिया लम्बी, और दो बेतिया चौड़ी। इस प्रमाण का अतिक्रमण करने पर पाचित्तिय है ॥७८॥

२३. तेवीसतिमपाचित्तियं—चीवरविसिब्बने

श्रावस्ती की बात है। किसी भिक्षुणी के कीमती चीवर न ठीक कटे थे और न ठीक सिले थे। थुल्लनन्दा ने कहा कि यह चीवर तो अच्छा है पर ठीक तरह से कटा-सिला नही है। उसने कहा—मैं इसे उकेले देती हूँ। तुम सिल दोगी? थुल्लनन्दा ने स्वीकार कर लिया। परन्तु उसे सिला नही। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

२३. "या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया चीवर विसिब्बेत्वा वा विसिब्बापेत्वा वा सा पच्छा अनन्तरायिकिनी नेव सिब्बेय्य न सिब्बापनाय उस्सुक्क करेय्य, अञ्ञत्र चतुहपञ्चाहा, पाचित्तियं" ति ॥७७॥

---

1. पामाणिका—रो०।

२३, जो भिक्षुणी भिक्षुणी के चीवर को उकेलकर अथवा उकलवाकर, पीछे बाधा न होने पर भी न सिये और न सिलवाने में उत्सुकता दिखाये, तो चार-पाँच दिनों को छोड़ देने के बाद पाचित्तिय है ॥७७॥

२४· चतुवीसतिमपाचित्तिय—सङ्घाटिचारनिक्कमने

श्रावस्ती मे कुछ भिक्षुणियाँ भिक्षुणियों के हाथो पर चीवर रखकर जनपद चारिका के लिए चली जाती थीं। बहुत देर होने पर वे भिक्षुणियाँ खीझने लगी। दूसरी भिक्षुणियों ने उन भिक्षुणियों से पूछा - "ये किसके चीवर हैं"? उत्तर पाकर वे अल्पेच्छ भिक्षुणियाँ दुःखित होने लगी। तब भ० ने यह नियम बनाया —

२४. "या पन भिक्खुनी पञ्चाहिक सङ्घाटिचार अतिक्कामेय्य, पाचित्तियं" ति ॥७८॥

२४. जो भिक्षुणी संघाटी धारण के नियम को पाँचवें दिन अतिक्रमण करे तो पाचित्तिय है ॥७८॥

२५· पञ्चवीसतिमपाचित्तियं—चीवरसङ्कमनीयधारणे

श्रावस्ती में कोई भिक्षुणी भिक्षा लेकर अपने चीवर रखकर बिहार मे चली गई। इतने में दूसरी भिक्षुणी आई और चीवर ओढकर पिण्ड के लिए गाँव मे चली गई। बिहार से लौटने पर पहली भिक्षुणी ने पूछा - "क्या हमारा चीवर किसी ने देखा है? अल्पेच्छ भिक्षुणियों ने इस घटना पर दुःख व्यक्त किया और भ० ने नियम बनाया

२५. या पन भिक्खुनी चीवरसंकमनीय धारेय्य, पाचित्तियं ॥२५॥

२५, जो भिक्षुणी बिना पूछे दूसरे के चीवर को धारण करे तो पाचित्तिय है ॥७९॥

२६· छब्बीसतिमपाचित्तियं—गणलाभन्तरायकरणे

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी को किसी उपासक ने कहा—"हम लोग भिक्षुणी संघ के लिए चीवर देंगे।" थुल्लनन्दा ने इसमे "अभी तुम्हे बहुकरणीय है" कहकर विघ्न उपस्थित किया। तब नियम बनाया गया—

२६. "या पन भिक्खुनी गणस्स चीवरलाभं अन्तरायं करेय्य, पाचित्तिय" ति ॥८०॥

२६. जो भिक्षुणी भिक्षुणी संघ के गण को चीवर की प्राप्ति मे विघ्न उपस्थित करे तो पाचित्तिय है ॥८०॥

२७. सत्तवीसतिमपाचित्तियं—चीवर विभङ्गपटिबाहने

श्रावस्ती में भिक्षुणी संघ के लिए अकालचीवर मिले। उसने उन्हें बाँटना चाहा। थुल्लनन्दा भिक्षुणी की शिष्याएँ उस समय कहीं चली गयी थी। इसलिए उसने कहा—भिक्षुणी संघ अभी चीवर नही बाँटेगा। यह जानकर भिक्षुणियाँ बाहर चली गयी। परन्तु थुल्लनन्दा की शिष्यायों के आने पर चीवर बाँट दिये गये। अल्पेच्छ भिक्षुणियों ने इसकी निन्दा की। तब भ० ने नियम बनाया—

२७. "या पन भिक्खुनी धम्मिकं चीवरविभङ्गं पटिबाहेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८१॥

२७. जो भिक्षुणी चीवर का विभाजन समस्त भिक्षुणी संघ के समक्ष करने मे बाधा उपस्थित करे ता पाचित्तिय है ॥८१॥

२८. अट्ठवीसतिमपाचित्तियं—समणचीवरदाने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी श्रावस्ती मे भिक्षु के चीवर को नटादिको के लिए दे दिया करती थी इसलिए कि वे उसकी प्रशंसा करें। तब यह नियम बनाया—

२८. या पन भिक्खुनी अगारिकस्स वा परिब्बाजकस्स वा परिब्बाजिकाय वा समणचीवर ददेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८२॥

२८. जो भिक्षुणी भिक्षु के चीवर को किसी गृहस्थ परिव्राजक अथवा परिव्राजिका के लिए दे तो पाचित्तिय है ॥८२॥

२९. ऊनतिंसतिमपाचित्तियं—चीवरकालातिक्कामने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी के पास उसके उपासक आये और कहने लगे कि हम लोग भिक्षुणी संघ के लिए चीवर देंगे। थुल्लनन्दा ने चीवर की दुर्बल प्रत्याशा से चीवर काल का अतिक्रमण किया। तब यह नियम बनाया गया—

२९. "या पन भिक्खुनी दुब्बलचीवर पच्चासाय चीवरकालसमयं अतिक्कामेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८३॥

२९. जो भिक्षुणी चीवर प्राप्ति की आशा कम होने से चीवर काल की अवधि (आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) का अतिक्रमण करे, तो पाचित्तिय है ॥८३॥

३०. तिंसतिमपाचित्तियं—कठिनुद्धारपटिबाहने

श्रावस्ती में कोई उपासक बिहार बनवाना चाहता था। उसी समय कठिन चीवर का समय आया, वह कठिन चीवर भी देना चाहता था। थुल्लनन्दा ने

कहा—"कठिन चीवर के उद्धार को छोड़ो। चीवर हमें चाहिए"। उपासक ने उसकी निन्दा की तथा नियम बनाया गया—

३०. "या पन भिक्खुनी धम्मिकं कठिनुद्धारं पटिबाहेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८४॥

३०. जो भिक्षुणी धर्मानुसार (समग्र भिक्षुणी संघ के समक्ष) कठिन चीवर के उद्धार मे बाधा पहुँचाये तो पाचित्तिय है ॥८४॥

४. तुवट्टवग्गो चतुत्थो

३१. एकतिंसतिमपाचित्तिय—एकमञ्चे तुवट्टने

श्रावस्ती मे दो भिक्षुणिया एक पलंग पर सोती थी। लोगो ने इसकी निन्दा की तब यह नियम बनाया गया—

३१. 'पन भिक्खुनियो द्वे एकमञ्चे तुवट्टेय्युं, पाचित्तियं' ति ॥८५॥

३१. यदि दो भिक्षुणियां एक पलंग पर सोयें तो पाचित्तिय है।" ॥८६॥

३२. द्वत्तिंसतिमपाचित्तियं—एकत्थरण पावुरणतुवट्टने

एक ही बिस्तर पर दो भिक्षुणियों के सोने पर नियम बनाया गया—

३२. "यदि दो भिक्षुणिया एक ही बिस्तर पर एक ही आवरण मे सोयें तो पाचित्तिय है" ॥८७॥

३३. तेत्तिसतिमपाचित्तियं—भिक्खुनिया अफासुकरणे

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा और भद्रा कापिलानी, इन दोनो भिक्षुणियो मे भद्रा कापिलानी अधिक बहुश्रुता थी। उपासक पहले भद्रा को आदर देते और बाद मे थुल्लनन्दा को। थुल्लनन्दा को इस पर ईर्ष्या हुई। फलत: वह भद्रा के सामने उठती, बैठती, चंक्रमण करती। ताकि अन्य भिक्षुणियों को परेशानी हो। तब यह नियम बनाया गया—

३३. "या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया सञ्चिच्च अफासु करेय्य, पाचित्तियं' ॥८८॥

३३. यदि भिक्षुणी जानबूझकर भिक्षुणियों को तंग करे तो पाचित्तिय है ॥८८॥

३४. चतुत्तिंसतिमपाचित्तियं—सह जीविनी अनुपट्ठाने

थुल्लनन्दा भिक्षुणी को दु:खित और रोगी भिक्षुणी शिष्या की सेवा करने-कराने मे उत्सुक न देखकर नियम बनाया गया—

३४. "या पन भिक्खुनी दुक्खितं सहजीविनिं नेव उपट्ठेय्य न उपट्ठापनाय उस्सुक्कं करेय्य, पाचित्तियं" ति ॥८९॥

३४. यदि भिक्षुणी रोगी शिष्या की न सेवा करे और न सेवा करने की उत्सुकता दिखाये तो पाचित्तिय है ॥८९॥

३५. पञ्चतिंसतिमपाचित्तियं भिक्खुनीनिक्कड्ढने

भद्रा कापिलानी ने साकेत से सन्देश भेजा कि यदि थुल्लनन्दा अपने उपाश्रय मे उसे स्थान दे तो वह श्रावस्ती पहुँच सकती है। थुल्लनन्दा ने स्वीकृति दे दी। भद्रा के आने पर उपासक उसके बहुश्रुत व्यक्तित्व के कारण सर्वप्रथम उसी का अभिवादन करते थे। थुल्लनन्दा ने ईर्ष्यावशात् भद्रा को उपाश्रय से निकाल बाहर कर दिया। इस घटना से यह नियम बनाया गया—

३५. 'या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया उपस्सय दत्वा कुपिता अनत्तमना निक्कड्ढेय्य वा निक्कड्ढापेय्य वा पाचित्तिय' ति ॥९०॥

३५. यदि भिक्षुणी किसी भिक्षुणी को उपाश्रय मे स्थान देकर बाद मे कुपित और असन्तुष्ट होकर उसे निकाले अथवा निकलवाये तो पाचित्तिय है ॥९०॥

३६. छत्तिंसतिय पाचित्तियं—संसट्ठविहारे

श्रावस्ती में चण्डकाली भिक्षुणी किसी गृहपति अथवा गृहपति के पुत्र से कामासक्त होकर संसर्ग करती थी। तब यह नियम बनाया गया—

३६. "या पन भिक्खुनी संसट्ठा विहरेय्य गहपतिना वा गहपतिपुत्तेन वा सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि एवमस्स वचनीया—'माय्ये, संसट्ठा विहरि गहपतिना पि गहपतिपुत्तेन पि। विविच्चाय्ये[1]; विवेकञ्ञेव भगिनिया सङ्घो वण्णेती'ति। एवञ्च पन सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि वुच्चमाना तथेव पग्गण्हेय्य, सा भिक्खुनी भिक्खुनीहि यावततियं समनुभासितब्बा तस्स पटिनिस्सग्गाय। यावततियञ्चे समनुभासियमाना[2] तं पटिनिस्सज्जेय्य, इच्चेतं कुसल; नो चे पटिनिस्सज्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥९१॥

३६. यदि भिक्षुणी गृहपति अथवा गृहपति के पुत्र के साथ (कामासक्त होकर) काय अथवा वचन से संसर्ग करे तो अन्य भिक्षुणियाँ उस भिक्षुणी से इस प्रकार कहें—"आर्ये! गृहपति अथवा गृहपति पुत्र के साथ संसर्ग मत करो।

---

१. विविच्चय्य—सी., रो.; विविच्चाहय्ये—स्या.।

२. समनुभासीयमाना—म.।

आर्ये ! भिक्षुणी संघ एकान्तशीलता और विवेक की प्रशंसा करता है।" भिक्षुणियों के द्वारा इस प्रकार कही जाने पर भी वह भिक्षुणी यदि उसी प्रकार दुराग्रह करती रहे तो भिक्षुणियाँ उससे उस दुराग्रह को छोड़ने के लिए तीन बार तक कहे। यदि तीन बार तक कहने मे वह उस दुराग्रह को छोड़ दे तो कुशल है, यदि नही छोड़े तो पाचित्तिय है ॥६१॥

३७. सत्ततिंसतिमपाचित्तिय--असत्थिकाचारिकाये

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ उसी राष्ट्र (नगर) के अन्दर भयभीत और शंकित स्थान मे अकेली भ्रमण किया करती थी। धूर्त लोग उन्हे दूषित करते थे। यह जानकर भगवान् ने नियम बनाया—

३७. "या पन भिक्खुनी अन्तोरट्ठे सासङ्कसम्मते सप्पटिभये असत्थिका चारिक चरेय्य, पाचित्तियं" ति। ६२॥

३७. जो भिक्षुणी (अपने) राष्ट्र मे शंकित और भयभीत स्थान में अकेली भ्रमण करे उसे पाचित्तिय है ॥६२॥

३८. अट्ठतिंसतिमपाचित्तियं---असत्थिकाचरिकायं

भिक्षुणियाँ जब श्रावस्ती के बाहर अकेली भयभीत स्थानो मे विचरण करने लगी तो नियम बनाया गया—

३८. "या पन भिक्खुनी तिरोरट्ठे सासङ्कसम्मते सप्पटिभये असत्थिका चारिक चरेय्य, पाचित्तियं ' ति ।।६३।

३८. जो भिक्षुणी (अपने) राष्ट्र के बाहर शकित और भयभीत स्थान मे अकेली भ्रमण करे, उसे पाचित्तिय है ॥६३॥

३९. ऊनचत्तारीसतिमपाचित्तियं—अन्तोवस्सचारिकायं

भिक्षुणियाँ वर्षाकाल में चारिका करती और हरित तृणों को कुचलती हुई जाती थीं। इससे प्राणिघात होता था। तब यह नियम बनाया गया—

३९. "या पन भिक्खुनी अन्तोवस्स चारिकं चरेय्य पाचित्तिय" ॥६४॥

३९ जो भिक्षुणी वर्षाकाल में चारिका करे उसे पाचित्तिय है ॥६४॥

४०. चत्तारीसतिमपाचित्तियं---चित्तागारदस्सने

कुछ भिक्षुणियाँ राजगृह में ही वर्षावास करतीं, वहीं हेमन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ भी व्यतीत करतीं। तब नियम बनाया गया—

४०. "या पन भिक्खुनी वस्सं [2]वुत्था[2] चारिकं न पक्कमेय्य अन्तमसो छप्पञ्चयोजनानि पि, पाचित्तियं" ति ॥९५॥

४०. जो भिक्षुणी वर्षावास के बाद पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में कम से कम पाँच छः योजन भी चारिका न करे तो उसे पाचित्तिय है ॥९५॥

५. चित्ताकारवग्गो पञ्चमो

४१. एकचत्तारीसतिमपाचित्तियं—चित्तागारदस्सने

श्रावस्ती में प्रसेनदि कोशल के चित्रागार को देखने के लिए षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ गईं। लोगों ने उनको कामभोगी गृहणियाँ कहकर निन्दा की। तब नियम बनाया गया—

४१. "या पन भिक्खुनी राजागारं वा चित्तागारं वा आरामं वा उय्यानं वा पोक्खरणिं वा दस्सनाय गच्छेय्य, पाचित्तियं" ति ॥९६।

४१. जो भिक्षुणी राजागार (राजप्रासाद), चित्रागार (चित्रशाला), आराम, *उद्यान अथवा पुष्करिणी को देखने के लिए जाये उसे पाचित्तिय है* ॥९६॥

४२. द्वाचत्तारीसतिमपाचित्तियं—आसन्दिपरिभोगे

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ आसन और पलंग का उपयोग किया करती थीं कामभोगी गृहणियों के समान। तब भ० ने यह नियम बनाया—

४२. "या पन भिक्खूनी आसन्दिं वा पल्लङ्कं वा परिभुञ्जेय्य, पाचित्तियं" ॥९७॥

४२. जो भिक्षुणी आसन अथवा पलंग का उपयोग करे उसे पाचित्तिय है ॥९७॥

४३. तेचत्तारीसतिमपाचित्तियं—सुत्तकन्तने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ कामभोगी गृहणियो के समान सूत कातती थी। तब भ० ने यह नियम बनाया—

४३. "या पन भिक्खूनी सुत्तं कन्तेय्य, पाचित्तियं" ॥९८॥

४३. जो भिक्षुगी सूत काटे उसे पाचित्तिय है ॥९८॥

४४. चतुचत्तारीसतिमपाचित्तियं—गिहिवेय्यावच्चकरणे

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ गृहणियों के समान खिचड़ी अथवा भात पकाती और खाती थीं। तब भ० ने नियम बनाया—

2-2. वस्संवुट्ठा—म०

४४. "या पन भिक्खुनी गिहिवेय्यवच्चं करेय्य, पाचित्तियं" ति ॥९९॥

४४. जो भिक्षुणी गृहणियों के समान खिचड़ी अथवा भात खाये अथवा पकावे (गिहिवेय्यावच्चं) तो उसे पाचित्तिय है ॥९९॥

४५. पञ्चचत्तारीसतिमपाचित्तियं - अधिककरणवूपसमने

श्रावस्ती में किसी भिक्षुणी ने थुल्लनन्दा भिक्षुणी के पास आकर कहा—"आर्ये ! इस विवाद को शान्त कर दीजिए।" थुल्लनन्दा ने उसे स्वीकार कर लिया पर उस विवाद को न शान्त किया और न शान्त करने के लिए उत्सुकता दिखायी। तब भ० ने नियम बनाया—

४५. "या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया—'एहाय्ये, इमं अधिकरणं वूपसमेही' ति वुच्चमाना—'साधू' ति पटिस्सुणित्वा सा पच्छा अनन्तरायिकिनी[1] नेव वूपसमेय्य न वूपसमाय उस्सुक्कं करेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१००॥

४५. जो भिक्षुणी किसी भिक्षुणी के द्वारा "आर्ये ! यहाँ इस विवाद को शान्त कीजिए" इस प्रकार कहे जाने पर—"स्वीकार है" ऐसा कहकर वह पीछे विघ्नकारिणी बने। उस विवाद को वह न शान्त करे और न शान्त करने की उत्सुकता दिखाये तो उसे पाचित्तिय है ॥१००॥

४६. छचत्तारीसतिमपाचित्तियं—नटादीनं खादनायदाने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी नटादिकों को अपने हाथ से भोजन कराती ताकि वे उसकी प्रशंसा करें। यह जानकर भ० ने नियम बनाया—

४६. "या पन भिक्खुनी अगारिकस्स वा परिब्बाजकस्स वा परिब्बाजिकाय वा सहत्था खादनीयं वा भोजनीयं वा ददेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०१॥

४६. जो भिक्षुणी किसी गृहस्थ, परिव्राजक अथवा परिव्राजिका को अपने हाथ से खाद्य अथवा भोज्य प्रदान करे तो उसे पाचित्तिय है ॥१०१॥

४७. सत्तचत्तारीसतिमपाचित्तियं—आवसथचीवरपरिभोगे

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी आश्रम के चीवर का उपयोग करती पर उसे धोकर नही रखती थी। दूसरी ऋतुमती भिक्षुणियाँ इससे लाभ नही ले पाती थी। तब भ० ने यह नियम बनाया—

1. अन्तरायिकिनी—सी०।

४७. "या पन भिक्खुनी आवसथचीवरे अनिस्सज्जित्वा परिभुञ्जेय्य, पाचित्तिय" ॥१०२॥

४७. जो भिक्षुणी आश्रम के ऋतुकालीन चीवर का उपयोग कर उसे बिना धोये रख दे, उसे पाचित्तिय है ॥१०२॥

४८. अट्ठचत्तारीसतिमपाचित्तियं—चारिकंपक्कमने

श्रावस्ती मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी आश्रम के ऋतुकालीन वस्त्र का उपयोग करने के बाद उसे बिना धोये ही चारिका के लिए निकल जाती थी। तब नियम यह बनाया गया—

४८. "या पन भिक्खुनी आवसथं अनिस्सज्जित्वा चारिकं पक्कमेय्य पाचित्तियं" ति ॥१०३॥

४८. जो भिक्षुणी आश्रम के ऋतुकालीन चीवर का उपयोग कर उसे बिना धोये ही चारिका के लिए निकल जाये उसे पाचित्तिय है ॥१०३॥

४९. ऊनपञ्ञासपाचित्तियं - तिरच्छानविज्जापरियापुणने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणिया तिरश्चीन विद्याओं को कामभोगी गृहणियों के समान प्राप्त करती थी। यह देखकर नियम बनाया गया—

४९. "या पन भिक्खुनी तिरच्छानविज्जं परियापुणेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०४॥

४९. जो भिक्षुणी तिरश्चीन विद्याओं को पढ़े अथवा सीखे उसे पाचित्तिय है ॥१०४॥

५०. पञ्ञासमपाचित्तियं—तिरच्छानविज्जावाचने

श्रावस्ती से षड्वर्गीय भिक्षुणियां तिरश्चीन विद्याओ को पढाती थी। तब भ० ने नियम बनाया—

५०. "या पन भिक्खुनी तिरच्छानविज्जं वाचेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०५॥

५०. जो भिक्षुणी तिरच्छीन (मिथ्या) विद्याओं को पढ़ाये, उसे पाचित्तिय है ॥१०५॥

६. आरामवग्गो छट्ठो

५१. एकपञ्ञासमपाचित्तियं—अनापुच्छा आरामपवेसने

श्रावस्ती में कुछ भिक्षु ग्रामकावास मे एक ही चीवर से चीवर कर्म करते

थे। भिक्षुणियाँ उनके आवास में बिना पूछे प्रवेश करती थीं। उन भिक्षुओं ने उन भिक्षुणियों की निन्दा की और नियम बनाया गया—

५१. "या पन भिक्खुनी जानं सभिक्खुकं आराम अनापुच्छा पविसेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०६॥

५१. जो भिक्षुणी बिना अनुमति प्राप्त किये भिक्षु सहित आराम में जान-बूझकर प्रवेश करे, उसे पाचित्तिय है ॥१०६॥

५२. द्वापञ्ञासमपाचित्तियं—भिक्खुं अक्कोसने

वैशाली मे उपालिके उपाध्याय कल्पितक श्मशान में जब भ्रमण कर रहे थे तभी षड्वर्गीय भिक्षुणियों की महत्तरा भिक्षुणी कालगत हो गई। षड्वर्गीय भिक्षुणियों ने उसे जलाकर वहाँ स्तूप बनाया और रोने लगी। रोने के शब्द को सुन कल्पितक वहाँ पहुँचे और उन्होंने स्तूप को नष्ट कर दिया। बाद मे उन भिक्षुणियों ने कल्पितक के बिहार पर पत्थर आदि फेंके और उसे मृत समझकर भिक्षुणियाँ वापस हो गईं। दूसरे दिन कल्पितक को उन्होने पिण्डचर्या करते हुए देखा तो उन्हे आश्चर्य हुआ। सोचने पर उन्हे ध्यान आया कि उन्होंने अपनी योजना उपालि को बतायी थी। इसके बाद उपालि के पास उन्होंने विविध दुर्वचन कहे। इस घटना को जानकर नियम बनाया गया—

५२. "या पन भिक्खुनी भिक्खुं अक्कोसेय्य वा परिभासेय्य वा पाचित्तियं" ति ॥१०७॥

५२. जो भिक्षुणी भिक्षु को आक्रोशात्मक अथवा निन्दात्मक वचन कहे, उसे पाचित्तिय है ॥१०७॥

५३. ते पञ्ञासमपाचित्तियं—गणपरिभासने

श्रावस्ती मे चण्डकाली भिक्षुणी कलहकारिणी थी। थुल्लनन्दा भिक्षुणी उसकी निन्दा करती थी। थुल्लनन्दा एक बार जब नगर से वापिस आई तो चण्डकाली ने उससे असनादि के लिए नहीं पूछा। इसका कारण पूछने पर उसने अपने आप को अनाथ बताया और गण की निन्दा की। तब नियम बनाया गया—

५३. "या पन भिक्खुनी चण्डीकता गणं परिभासेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१०८॥

५३. जो भिक्षुणी क्रोधित होकर गण की निन्दा करे उसे पाचित्तिय है ॥१०८॥

५४. चतुपञ्ञासमपाचित्तियं—निमन्त्तितखादने

श्रावस्ती में किसी ब्राह्मण ने भिक्षुणियों को निमन्त्रित किया। भिक्षुणियों ने वहाँ भोजन कर अन्य स्थान से पिण्डपात लिया और भोजन किया। इस घटना से नियम बनाया गया—

५४. "या पन भिक्खुनी निमन्तिता वा पवारिता वा खादनीयं वा भोजनीयं वा खादेय्य वा भुञ्जेय्य वा पाचित्तियं" ति ॥१०६॥

५४. जो भिक्षुणी निमन्त्रित होने पर (भोजन से) तृप्त हो जाय और उसके बाद भी खाद्य अथवा भोज्य को खाये अथवा भोजन करे, उसे पाचित्तिय है ॥१०६॥

५५. पञ्चपञ्ञासमपाचित्तियं—कुलमच्छेरे

श्रावस्ती में कोई भिक्षुणी किसी गृहस्थ कुल में पिण्डपात के लिए गयी। भोजन करने के बाद उससे गृहपति ने कहा आर्ये! अन्य भिक्षुणियाँ भी आवें। इससे उस भिक्षुणी की ईर्ष्या हुई और अन्य भिक्षुणियों से गृहपति के विषय में दुर्वचन कहे। तब नियम बनाया गया—

"५५. या पन कुलमच्छरिनी अस्स, पाचित्तियं" ति ॥११०॥

५५. जो भिक्षुणी क्षत्रियादि कुलों से मात्सर्य भाव रखे, पाचित्तिय है ॥११०॥

५६. छपञ्ञासमपाचित्तियं—अभिक्खुकावासे वस्सूपगमने

श्रावस्ती मे किसी ग्रामकावास मे वर्षावास कर भिक्षुणियों के पूछने पर उन्होंने बताया कि उन्होंने भिक्षु रहित आवास मे वर्षावास किया। इस घटना से नियम बनाया गया—

५६. "या भिक्खुनी अभिक्खु के आवासे वस्सं वस्सेय्य, पाचित्तियं ति ॥१११॥

५६. जो भिक्षुणी भिक्षु रहित आवास में वर्षावास करे, उसे पाचित्तिय है ॥१११॥

५७. सत्तपञ्ञासमपाचित्तियं—न पवारणो

कुछ भिक्षुणियाँ ग्रामकावास में वर्षावासकर श्रावस्ती आयी। अन्य भिक्षुणियों ने उनसे पूछा क्या आप लोगो ने प्रवारणा की है। उत्तर मिला नही की। तब नियम बनाया गया—

५७. "या पन भिक्खुनी वस्सं वुत्था उभतोसङ्घे तीहि ठानेहि न पवारेय्य दिट्ठेन वा सुतेन वा वा परिसङ्काय वा, पाचित्तियं" ति ॥११२॥

५७. जो भिक्षुणी वर्षावास के बाद भिक्षु और भिक्षुणी—इन दोनों संघों के समक्ष दृष्ट, श्रुत और परिशंकित, इन तीनों प्रकार से ज्ञात अपराधों को स्वीकार न करे, उसे पाचित्तिय है ॥११२॥

५८. अट्ठमपञ्ञासमपाचित्तियं—न ओवादगमने

कपिलवस्तु मे भिक्षुणियाँ षड्वर्गीय भिक्षुयो से उपदेश सुनने के लिए चलने को कहती थी, पर वे अन्यत्र उपदेश देने चली जाती थी। तब नियम बनाया गया—

५८. 'या पन भिक्खुनी ओवादाय वा संवासाय वा न गच्छेय्य, पाचित्तिय" ति ॥११३॥

५८. जो भिक्षुणी उपदेश के लिए अथवा संवास के लिए न जाये, उसे पाचित्तिय है ॥११३॥

५९. ऊनसट्ठिमपाचित्तियं—उपोसथपुच्छने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ न उपोसथ के लिए पूछती थी और न उपदेश के लिए। तब नियम बनाया गया—

५९. "अन्वद्धमासं[1] भिक्खुनिया भिक्खुसङ्घतो द्वे धम्मा पच्चासिंसितब्बा[2]—उपोसथपुच्छकं च ओवादूपसङ्कमनं च। त अतिक्कामेन्तिया पाचित्तिय" ति ॥ १४॥

५९. भिक्षुणी को भिक्षु संघ से प्रत्येक अर्ध मास मे दो धर्म प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए—उपोसथ मे पूछना और उपदेश सुनने के लिए जाना। जो इसका अतिक्रमण करे उसे पाचित्तिय है ॥११४॥

६०. सट्ठिमपाचित्तियं—पसाखगण्डभेदापन

श्रावस्ती मे किसी भिक्षुणी ने गुह्य स्थान मे उत्पन्न फोड़े की शल्यक्रिया एकान्त मे अकेले पुरुष से कराई। दूसरों ने उसकी निन्दा की। और यह नियम बनाया गया—

६०. "यो पन भिक्खुनी पसाखे जातं गण्डं वा रुहितं वा अनपलोकेत्वा सङ्घं वा गणं वा पुरिसेन सद्धिं एकेनेका भेदापेय्य वा फालापेय्य वा

1. अन्वड्ढमासं—स्या.।

2. पच्चासी सितब्बा—म.।

धोवापेय्य वा आलिम्पापेय्य वा बन्धापेय्य वा मोचापेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥११५॥

६०. "जो भिक्षुणी गुह्य स्थान मे अत्यन्त गण्ड (फोड़े) को अथवा व्रण (सहित) को संघ अथवा गण से पूछे बिना (अनपलोकेत्वा) एकाकी पुरुष से एकाकी रूप में शल्यक्रिया करवाये अथवा धुलवाये अथवा लेप कराये अथवा बँधवाये अथवा छुड़वाये, उसे पाचित्तिय है ॥११५॥

७. गब्भिनिवग्गो सत्तमो

६१. एकसट्ठिमपाचित्तियं—गब्भिनीवुट्ठापने

श्रावस्ती मे कुछ भिक्षुणियाँ गर्भिणियों को दीक्षा दिया करती थी। तब भ० ने नियम बनाया—

६१. "या पन भिक्खुनी गब्भिनिं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥११६॥

६१. जो भिक्षुणी गर्भिणी को दीक्षित करे, उसे पाचित्तिय है ॥११६॥

६२. द्वासट्ठिमपाचित्तियं—पायन्ती वुट्ठापने

श्रावस्ती मे कुछ भिक्षुणियाँ बच्चे को दूध पिलाने वाली माता अथवा धात्री को भिक्षुणी बनाती। तब नियम बनाया गया—

६२. या पन भिक्खुनी पायन्तिं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं' ति ॥११७॥

६२. जो भिक्षुणी बच्चे को दूध पिलाने वाली माता अथवा धात्री को भिक्षुणी बनावे, उसे पाचित्तिय है ॥११७॥

६३. तेसट्ठिमपाचित्तियं—असिक्खितसिक्खावुट्ठापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ ऐसी शिक्षमाणा को उपसंपदा दे दी थी जिन्होने दो वर्षों तक षट्धर्मों का पालन नही किया। तब नियम बनाया गया—

६३. "या पन भिक्खुनी द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु असिक्खितसिक्खं सिक्खमानं वुट्ठापेय्य, पाचित्तिय' ति ॥११८॥

६३. जो भिक्षुणी दो वर्ष तक प्राणातिपात, अदिन्नादान, अब्रह्मचरिय, मुसावाद, सुरामेय्यमज्जप्पमादट्ठान और विकाल भोजन इन छः धर्मों का परिपालन न करने वाली शिक्षमाणा को उपसंपादित करे, उसे पाचित्तिय है ॥११८॥

---

1. सधित—म.।

६४. चतुसट्ठिमपाचित्तियं—असम्मतं वुट्ठापने

षट्धर्मों का परिपालन न करने वाली शिक्षमाणा को संघ की अनुमति के बिना ही दीक्षित किये जाने लगा। तब भ० ने नियम बनाया—

६४. "या पन भिक्खुनी द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु सिक्खितसिक्खं सिक्खमानं सङ्घेन असम्मतं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥११६॥

६४. जो भिक्षुणी दो वर्ष तक उक्त छ: धर्मों का परिपालन न करने वाली शिक्षमाणा को संघ की अनुमति के बिना उपसम्पदा दे, उसे पाचित्तिय है ॥११६॥

६५. पञ्चसट्ठिमपाचित्तियं—ऊनद्वादसवस्सवुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ बारह वर्ष से कम समय वाली गृहणियों को दीक्षित करती थी। ऐसी गृहणियाँ शीत, उष्णता आदि की बाधाओ को सहन नही कर पाती थी। तब नियम बनाया गया—

६५. "या पन भिक्खुनी ऊनद्वादसवस्सं गिहिगतं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२०॥

६५. जो भिक्षुणी बारह वर्ष से कम समय तक गृहणियों के रूप मे रहने वालियों को उपसम्पादित करे, उसे पाचित्तिय है ॥१२०॥

६६. छसट्ठिमपाचित्तियं—असिक्खितसिक्खावुट्ठापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ ठीक बारह वर्ष तक गृहणियों के रूप मे रहने वालियों को दो वर्ष तक छ: धर्मों की शिक्षा दिये बिना दीक्षित करती थी। वे कल्पित-अकल्पित को नही समझती थी। तब भ० ने नियम बनाया—

६६. "या पन भिक्खुनी परिपुण्णद्वादसवस्सं गिहिगतं[1] द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु असिक्खितसिक्खं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२१॥

६६. जो भिक्षुणी परिपूर्ण बारह वर्ष तक घर मे गृहिणी के रूप में रहने वाली को दो वर्ष तक छ: धर्मों की शिक्षा दिये बिना ही उपसंपदा दे, उसे पाचित्तिय है ॥१२१॥

६७. सत्तसट्ठिमपाचित्तियं—असम्मतवुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ पूरे बारह वर्ष वाली ब्याही गृहणियों को छ: धर्मो

1. गिहीगतं—सी०।

की शिक्षा देकर संघ की सम्मति के बिना दीक्षित करती थीं। तब भ० ने नियम बनाया—

६७. "या पन भिक्खु परिपुण्णद्वादसवस्सं गिहिगतं द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु सिक्खितसिक्खं सङ्घेन असम्मतं वुट्ठापेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१२२॥

६७. जो भिक्षुणी पूरे बारह वर्ष की व्याहृता को दो वर्ष तक छ: धर्मों में शिक्षित करने पर संघ की सम्मति के बिना उपसंपदा दे, उसे पाचित्तिय है ॥१२२॥

६८. अट्ठसट्ठिमपाचित्तियं—सहजीविनीअननुग्गहे

श्रावस्ती में थुल्लनन्दा भिक्षुणी, सहजीवनी को उपसम्पदा देकर दो वर्ष तक न अनुग्रह (सहायता) करती और न कराती थी। तब यह नियम बनाया गया—

६८. "या पन भिक्खुनी सहजीविनिं वुट्ठापेत्वा द्वे वस्सानि नेव अनुग्गण्हेय्य न अनुग्गण्हापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२३॥

६८. जो भिक्षुणी सहजीविनी (शिष्या) को उपसंपदा देकर दो वर्ष तक न अनुग्रह (सहायता) करे और न करावे उसे पाचित्तिय है ॥११३॥

६९. ऊनसत्ततिमपाचित्तियं—वुट्ठापितपवत्तिनी अननुबन्धने

श्रावस्ती में भिक्षुणियां उपसंपदा प्राप्त भिक्षुणियों को दो वर्ष तक साथ नहीं रखती थीं। तब नियम बनाया गया—

६९. "या पन भिक्खुनी वुट्ठापिनं पवत्तिनिं द्वे वस्सानि नानुबन्धेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२४॥

६९. जो भिक्षुणी उपसंपदा प्राप्त भिक्षुणी को दो वर्ष तक साथ न रखे उसे पाचित्तिय है ॥१२४॥

७०. सत्ततिमपाचित्तियं—अवूपकासे

थुल्लनन्दा भिक्षुणी अपनी शिष्या को भिक्षुणी बनाकर, उपसंपादित कर उसे छ:, पाँच, योजन भी नहीं ले जाती थी। तब भगवान् ने यह नियम बनाया—

७०. "या पन भिक्खुनी सहजीविनिं वुट्ठापेत्वा नेव वूपकासेय्य न वूपकासापेय्य अन्तमसो छप्पञ्चयोजनानि पि, पाचित्तियं" ति ॥१२५॥

७०. जो भिक्षुणी साथ विहार करने वाली शिष्या को उपसंपदा देकर कमसे कम पाँच छ: योजन भी न स्वयं ले जाय और न दूसरे को ले जाने दे तो उसे पाचित्तिय है ॥१२५॥

८. कुमारिभूतवग्गो—अट्ठमो

७१. एकसत्ततिम पाचित्तियं—कुमारिभूतावुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियां उन्नीस वर्ष की कुमारियों को भिक्षुणी बनाती थीं। ऐसी भिक्षुणियां शीत, उष्ण, पिपासा आदि व्याधियों को सहन करने में अक्षम रहती थी। वह देखकर नियम बनाया गया—

७१. "या पन भिक्खुनी ऊनवीसतिवस्सं कुमारिभूतं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२६॥

७१. जो भिक्षुणी उन्नीस वर्ष की कुमारी को भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१२६॥

७२. द्वासततिम पाचित्तियं— कुमारिभूतावुट्ठापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियां पूरे बीस वर्ष की कुमारियो को दो वर्ष तक छः धर्मों का पालन किये बिना ही भिक्षुणी बना देते थे। तब नियम बनाया गया—

७२. "या पन भिक्खुनी परिपुण्णवीसतिवस्सं कुमारिभूतं द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु असिक्खितसिक्खं वुट्ठापेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१२७॥

७२. जो भिक्षुणी पूरे बीस वर्ष की कुमारी को दो वर्ष तक छः धर्मों की शिक्षा दिये बिना भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१२७॥

७३. तेसत्ततिमपाचित्तियं—असम्मतावुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियां छः धर्म की शिक्षा दो वर्ष तक देने पर भी सघ की अनुमति के बिना पूरे बीस वर्ष की कुमारी को भिक्षुणी बनाती थी। तब नियम बनाया गया—

७३. "या पन भिक्खुनी परिपुण्णवीसतिवस्सं कुमारिभूतं द्वे वस्सानि छसु धम्मेसु सिक्खितसिक्खं सङ्घेन असम्मत वुट्ठपेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१२८॥

७३. जो भिक्षुणी ठीक बीस वर्ष की कुमारी को दो वर्ष तक छः धर्मों की शिक्षा देकर संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥११८॥

७४. चतुसततिमपाचितिय—ऊनद्वादसवस्सावुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियां बारह वर्ष से कम अवस्था वाली कुमारियों को भिक्षुणी बनाती थी जो कल्पित—अकल्पित को नही समझती थी। तब भगवान् ने नियम बनाया—

७४. "या पन भिक्खुनी ऊनद्वादसवस्सं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१२९॥

७४. जो भिक्षुणी बारह वर्ष से कम अवस्था वाली को भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१२९॥

७५. पञ्चसत्ततिमपाचित्तियं—असम्मतावुट्ठापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ ठीक बारह वर्ष वाली को संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणी बनाती थी। तब नियम बनाया गया—

७५. "या पन भिक्खुनी परिपुण्णद्वादसवस्सा संघेन असम्मता वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं ॥१३०॥

७५. जो भिक्षुणी पूरे बारह वर्ष वाली को संघ की अनुमति के बिना भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३०॥

७६. छसत्ततिमपाचित्तियं—खीयनधम्मापज्जने

श्रावस्ती में चण्डकाली भिक्षुणी भिक्षुणी-संघ के पास जाकर अनुमति माँगती। जब अनुमति नहीं मिलती तो 'साधु' कहकर उसे स्वीकार कर लेती। भिक्षुणी-संघ जब दूसरे को अनुमति दे देता तब चण्डकाली क्रोधित होती। इस अवस्था में नियम बनाया गया—

७६. "या पन भिक्खुनी—'अल ताव ते, अय्ये, वुट्ठापितेना' ति वुच्चमाना 'साधू' ति पटिस्सुणित्वा पच्छा खिय्यनधम्मं"[1] आपज्जेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१३१॥

७६. जो भिक्षुणी "आर्ये ! इसे भिक्षुणी मत बनाओ" कहे जाने पर "साधु (अच्छा)" यह कह देती, पर पीछे क्रोधित होती, उसे पाचित्तिय है ॥१३१॥

७७. सत्तसत्ततिमपाचित्तियं—अवुट्ठापने

श्रावस्ती में थुल्लनन्दा भिक्षुणी के पास किसी शिक्षमाणा ने भिक्षुणी होने की याचना की। थुल्लनन्दा ने कहा—"यदि तुम मुझे चीवर दो तो मैं तुम्हें भिक्षुणी बना लूँगी।" इस प्रकार कहने पर बाद मे न भिक्षुणी बनाती और न भिक्षुणी बनाने की उत्सुकता दिखाती। तब नियम बनाया गया—

७७. "या पन भिक्खुनी सिक्खमानं—'सचे मे त्वं, अय्ये, चीवर

---

१. खीयधम्मं—रो॰

बस्सति एवाहं तं वुट्ठापेस्सामी' ति वत्वा, सा पच्छा अनन्तरायिकिनी नेव वुट्ठापेय्य न वुट्ठापनाय उस्सुक्कं करेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१३२॥

७७. जो भिक्षुणी शिक्षमाणा को—"यदि तुम मुझे चीवर दोगी तो ही मैं तुम्हें भिक्षुणी बनाऊँगी" ऐसा कहकर पीछे वह कोई विघ्न-बाधा न होने पर भी उसे न भिक्षुणी बनाये और न भिक्षुणी बनाने की उत्सुकता दिखाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३२॥

७८. अट्ठसत्ततिमपाचित्तियं—अवुट्ठापने

श्रावस्ती में किसी शिक्षमाणा ने थुल्लनन्दा भिक्षुणी से भिक्षुणी होने की याचना की। थुल्लनन्दा ने कहा—"यदि तुम मेरे साथ दो वर्ष तक रहोगी तो मैं तुम्हें भिक्षुणी बनाऊँगी।" उसके बाद थुल्लनन्दा न उसे भिक्षुणी बनाती और न भिक्षुणी बनाने के प्रति उत्सुकता दिखाती। तब नियम बनाया गया—

"या पन भिक्खुनी सिक्खमानं—'सचे मं त्वं अय्ये द्वे वस्सानि अनुबन्धिस्ससि एवाहं तं वुट्ठापेस्सामी' ति वत्वा, सा पच्छा अनन्तरायिकिनी नेव वुट्ठापेय्य न वुट्ठापनाय उस्सुक्कं करेय्य, पाचित्तियं' ति ॥१३३॥

७८. जो भिक्षुणी शिक्षमाणा को "आर्ये! यदि तुम मेरे साथ दो वर्ष रहोगी तभी मैं तुम्हे भिक्षुणी बनाऊँगी" इस प्रकार कहकर पीछे बिना किसी कारण के न भिक्षुणी बनाये और न भिक्षुणी बनाने के लिए उत्सुकता दिखाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३३॥

७९. ऊनासीतिमपाचित्तियं—पुरिससंसट्ठावुट्ठापने

श्रावस्ती में थुल्लनन्दा भिक्षुणी ने पुरुष से संसर्ग करने वाली, और कुमार से संसर्ग करने वाली चण्डी चण्डकाली शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाया। तब नियम बनाया गया—

७९. "या पन भिक्खुनी पुरिससंसट्ठं कुमारकसंसट्ठं चण्डिं सोकावासं सिक्खमानं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं ति ॥१३४॥

७९. जो भिक्षुणी पुरुष (बीस वर्ष से ऊपर) और कुमार (बीस वर्ष से कम) से संसर्ग करने वाली, क्रोधाविष्टा, पर दुःखदायी शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये उसे पाचित्तिय है ॥१३४॥

८०. असीतिमपाचित्तियं—अननुञ्ञातावुट्ठापने

श्रावस्ती में थुल्लनन्दा भिक्षुणी माता, पिता अथवा स्वामी की आज्ञा के बिना शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाती थी। तब यह नियम बनाया गया—

८०. "या पन भिक्खुनी मातापितूहि, वा सामिकेन वा अननुञ्ञातं सिक्खमानं वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति । १३५॥

८०. जो भिक्षुणी माता-पिता अथवा स्वामी (पति) की आज्ञा के बिना शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३५॥

८१. एकासीतिमपाचित्तियं--पारिवासिक छन्ददानेन वुट्ठापने

राजगृह मे थुल्लनन्दा भिक्षुणी ने पारिवासिक छन्ददान से शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाया। तब यह नियम बनाया गया—

८१. "या पन भिक्खुनी पारिवासिक छन्ददानेन सिक्खमान वुट्ठापेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१३६॥

८१. जो भिक्षुणी पारिवासिक छन्ददान से शिक्षमाणा को भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३६॥

८२. द्वासीतिमपाचित्तियं—अनुवस्सं वुट्ठापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ प्रत्येक वर्ष भिक्षुणियाँ बनाती थी। तब नियम बनाया गया—

८२. "या पन भिक्खुनी अनुवस्सं वुट्ठापेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१३७॥

८२. जो भिक्षुणी प्रत्येक वर्ष भिक्षुणी बनाये उसे पाचित्तिय है ॥१३७॥

८३. तयासीतिमपाचित्तियं—द्वे वुट्ठापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ एक वर्ष मे दो भिक्षुणियाँ बनाती थी। तब नियम बनाया गया—

८३. "या पन भिक्खुनी एकं वस्सं द्वे वुट्ठापेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१३८॥

८३. जो भिक्षुणी एक वर्ष मे दो को भिक्षुणी बनाये, उसे पाचित्तिय है ॥१३८॥

९. छत्तुपाहनवग्गो नवमो

८४. चतुरासीतिमपाचित्तियं—छत्तुपाहनधारणे

श्रावस्ती में षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ नीरोग होते हुए भी कामभोगियों के समान छाता धारण करती थी। तब नियम बनाया गया—

८४. "या पन भिक्खुनी अगिलाना छत्तुपाहनं धारेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१३९॥

८४. जो भिक्षुणी नीरोग होते हुए भी छाते और जूते धारण करे, उसे पाचित्तिय है ॥१३९॥

८५. पञ्चासीतिमपाचित्तियं- यानगमने

श्रावस्ती में नीरोग होते हुए भी षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ यान से यात्रा करती थीं। तब नियम बनाया गया—

८५. "या पन भिक्खुनी अगिलाना यानेन यायेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१४०॥

८५. जो भिक्षुणी स्वस्थ होते हुए भी वाहन से जाये, उसे पाचित्तिय है ॥१४०॥

८६. छासीतिमपाचित्तियं - सङ्घाणीधारणे

श्रावस्ती मे किसी भिक्षुणी से किसी स्त्री ने कहा—"यह सङ्घाणी अमुक स्त्री को दे देना।" वह भिक्षुणी जब उस संघाणी को ले गयी तो रास्ते मे वह संघाणी धागे से छिन्न-भिन्न हो गई। लोगो ने इसकी निन्दा की। तब नियम बनाया गया—

८६. "या पन भिक्खुनी संघाणिं धारेय्य, पाचित्तिय" ति ॥१४१॥

८६. जो भिक्षुणी संघाणी (एक प्रकार की माला) को धारण करे, उसे *पाचित्तिय है ॥१४१॥*

८७. सत्तासीतिमपाचित्तियं—अलङ्कारधारणे

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ कामभोगी गृहणियों के समान अलंकार धारण करती थी। तब नियम बनाया गया—

८७. 'या पन भिक्खुनी इत्थालङ्कारं धारेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१४२॥

८७. जो भिक्षुणी स्त्रियों के अलंकार को धारण करे, उसे पाचित्तिय है ॥१४३॥

८८. अट्ठासीतिमपाचित्तियं—गन्धवण्णकनहाने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ सुगन्धित चूर्ण से कामभोगी गृहणियों के समान नहाती थी। तब यह नियम बनाया गया—

८८. "या पन भिक्खुनी गन्धवण्णकेन नहायेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१४४॥

८८. जो भिक्षुणी सुगन्धित चूर्ण से नहाये, उसे पाचित्तिय है ॥१४४॥

८९. ऊननवुतिमपाचित्तियं—वासितकपिञ्ञाकनहाने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ तिल की खली (तिलपिट्ठ) के सुगन्धित पानी से नहाती थी। तब नियम बनाया गया—

८९. "या पन भिक्खुनी वासितकेन पिञ्ञाकेन नहायेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१४५॥

८९. जो भिक्षुणी तिलपिट्ठ (तिल की खली) के सुगन्धित जल से नहाये, उसे पाचित्तिय है ॥१४५॥

९०. नवुतिमपाचित्तियं—परिमद्दापने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ भिक्षुणी से कामभोगी गृहणियों के समान अपने शरीर का मर्दन कराती थी। तब नियम बनाया गया—

९०. "या पन भिक्खुनी भिक्खुनिया उम्मद्दापेय्य वा परिमद्दापेय्य वा, पाचित्तियं" ति ॥१४६॥

९०. जो भिक्षुणी अन्य भिक्षुणी से अपने शरीर का मर्दन कराये अथवा दबवाये, उसे पाचित्तिय है ॥१४६॥

९१-९३. पाचित्तियानि—उम्मद्दापने परिमद्दापने

श्रावस्ती मे भिक्षुणियाँ शिक्षमाणा, श्रामणेरी और गृहस्थिनी से अपने देह का मर्दन आदि कराती थी। तब यह नियम बनाया गया—

९१-९३. "या पन भिक्खुनी सिक्खमानाय पे सामणेरिया... पे...गिहिनिया .... उम्मद्दापेय्य वा परिमद्दापेय्य वा पाचित्तियं" ति ॥१४७-१४९॥

९१-९३. जो भिक्षुणी शिक्षमाणा अथवा सामणेरी अथवा गृहस्थिनी से अपने शरीर का मर्दन कराये अथवा दबवाये, उसे पाचित्तिय है ॥१४७-१४९॥

९४. चतुनवुतिमपाचित्तिय—अनापुच्छानिसीदने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ भिक्षु के सामने बिना पूछे ही आसन पर बैठ जाती थी। तब नियम बनाया गया—

९४. "या पन भिक्खुनी भिक्खुस्स पुरतो अनापुच्छा आसने निसीदेय्य पाचित्तियं" ति ॥१५०॥

९४. जो भिक्षुणी भिक्षु के सामने बिना पूछे आसन पर बैठे, उसे पाचित्तिय है ॥१५०॥

९५. पञ्चनवुतिमपाचित्तियं—अनोकासकतपञ्हपुच्छने

श्रावस्ती में भिक्षुणियाँ भिक्षु से बिना समय दिये प्रश्न पूछती थीं। तब यह नियम बनाया गया—

९५. "या पन भिक्खुनी अनोकासकतं भिक्खुं पञ्हं पुच्छेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१५१॥

९५. जो भिक्षुणी अवकाश दिये बिना भिक्षु से प्रश्न पूछे, उसे पाचित्तिय है ॥१५१॥

९६. छनवुतिमपाचित्तियं—असङ्कच्छिकागामपविसने

श्रावस्ती में कोई भिक्षुणी बिना कन्चुक के किसी गाँव गई। मनुष्यों की दृष्टि उसके सुन्दर अंगों-प्रत्यंगों पर पड़ी। इस घटना को जानकर भगवान् ने यह नियम बनाया—

९६. "या पन भिक्खुनी असङ्कच्छिका गामं पविसेय्य, पाचित्तियं" ति ॥१५२॥

९६. जो भिक्षुणी कंचुक के बिना गाँव मे प्रवेश करे, उसे पाचित्तिय है ॥१५२॥

९७-१६६ पाचित्तियानि

भिक्षुणी पातिमोक्ख के ९७ से १६६ तक की संख्या के नियम भिक्खु पातिमोक्ख के पाचित्तिय से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ भिक्खु पातिमोक्ख मे पुल्लिग शब्द का प्रयोग हुआ है वहां भिक्खुनी पातिमोक्ख मे स्त्रीलिंग का और जहाँ भिक्खुपातिमोक्ख मे स्त्रीलिंग शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ भिक्खुनी पातिमोक्ख में पुल्लिग का। इसलिए ऐसे नियमों को यहाँ दुहराना अनावश्यक मानकर उनका मात्र यथाविधि संकेत कर रहा हूँ। पाठक वर्ग विस्तार से पीछे भिक्खुपातिमोक्ख में देख लें।

१. भिक्खुनी पातिमोक्ख के ९७ से १२६ तक के नियम भिक्खुपातिमोक्ख के पाचित्तिय नियम संख्या १ से ४० तक बिलकुल समान हैं। दोनों मे उन्हें

भूतगामवग्ग (९७-११६) तथा भोजनवग्ग (११७-१२६) मे विभाजित किया गया है।

२. भिक्खुपातिमोक्ख के पाचित्तिय नियम ४१ से ४५ तक भिक्खुनी पातिमोक्ख में नहीं हैं।

३. भिक्खुनी पातिमोक्ख के १२७ से १३६ संख्या तक के पाचित्तिय नियम भिक्खुपातिमोक्ख के पाचित्तिय नियम ४६ से ५५ तक के समान हैं। उन्हे वहाँ चरित्तवग्ग के अन्तर्गत रखा गया है।

४. भिक्खुनी पातिमोक्ख के १३७ से १४५ तक के पाचित्तिय नियम भिक्खु-पातिमोक्ख के ५६ से ६३ तक तथा ६६ वैपाचित्तिय संख्या के समान है। वहाँ उन्हें जोतिवग्ग के अन्तर्गत रखा गया है।

५. भिक्खुनी पातिमोक्ख के १४६ से १५६ तक के पाचित्तिय नियम भिक्खु-पातिमोक्ख के ६८ से ७८ तक के पाचित्तिय नियम संख्या के समान हैं। यहाँ उन्हे दिट्ठिवग्ग (पञ्च दसम) मे रखा गया है।

६. भिक्खुनी पातिमोक्ख के १५७ से १६६ तक के पाचित्तिय नियम भिक्खु पातिमोक्ख के ७९ से ८२ तथा ८६ से ८८, ९० और ९२ वें पाचित्तिय नियम संख्या के समान हैं। उन्हे वहाँ धम्मिकवग्ग (सोलसम) के अन्तर्गत रखा गया है ॥१५३-२२१॥

"उद्दिट्ठा खो, अय्यायो, छसट्ठिसता पाचित्तिया धम्मा। तत्थाय्यायो पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

आर्याओ! एक सौ छयासठ पाचित्तिय धम्म कह दिये गये हैं। तब आर्याओं से पूछती हूँ—"क्या आप लोग परिशुद्ध है? दूसरी बार भी पूछती हूँ—'क्या आप लोग परिशुद्ध हैं?" तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग परिशुद्ध हैं?" आर्याओ! आप लोग परिशुद्ध हैं, इसीलिए मौन हैं, इस प्रकार मैं धारण करती हूँ।

पाचित्तियकण्डं निट्ठितं

५. पाटिदेसनीयकण्डं (२२२-२२९)

इमे खो पनाय्यायो अट्ठ पाटिदेसनीया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति।

आर्याओ! ये आठ पाटिदेसनीय दोष कहे जाते हैं—

१. पठमपाटिदेसनीयं—सप्पिविञ्ञापने

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ नीरोग होते हुए भी घी मँगाकर खाती थीं। तब नियम बनाया गया—

१. "या पन भिक्खुनी अगिलाना सप्पिं विञ्ञापेत्वा भुञ्जेय्य, पटिदेसेतब्बं ताय भिक्खुनिया—गारय्हं, अय्ये, धम्मं आपज्जिं असप्पायं पाटिदेसनीयं तं पटिदेसेमी" ति ॥२२२॥

१. जो भिक्षुणी नीरोग होते हुए भी घी मँगाकर खाये उस भिक्षुणी को प्रतिदेशना (अपराध की स्वीकृति) करनी चाहिये—आर्ये! मैंने निन्दनीय, अनुचित और पाटिदेसनीय कर्म किया है। उस कर्म की मैं प्रतिदेशना करती हूँ ॥१६७॥

२-८ दुतियादिपाटिदेसनीयानि

श्रावस्ती मे षड्वर्गीय भिक्षुणियाँ तेल आदि मँगाकर खाती थीं। तब ये नियम बनाये गये—

२-८ "या पन भिक्खुनी अगिलाना तेलं[1] पे॰ मधुं पे॰ फाणितं ...पे॰.. मच्छं पे॰.. मसं पे॰[1] ... खीरं .. पे॰ दधिं विञ्ञापेत्वा भुञ्जेय्य, पटिदेसेतब्बं ताय भिक्खुनिया—'गारय्हं, अय्ये, धम्मं आपज्जिं असप्पायं पाटिदेसनीयं, तं पटिदेसेमी" ति ॥२२३-२२६॥

२-८. जो भिक्षुणी नीरोग होते हुए तेल, मधु, मक्खन, मत्स्य, मांस, दूध और दधि मंगाकर खाये, उसे प्रतिदेशना करनी चाहिए—आर्ये! मैंने निन्दनीय, अनुचित और पटिदेसनीय कर्म किये हैं। उनके लिए मैं प्रतिदेशना करती हूँ।

उद्दिट्ठा खो अय्यायो, अट्ठ पाटिदेसनीया धम्मा। तत्थाय्यायो पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्था परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

आर्याओ! ये आठ प्रातिदेशनीय धर्म कहे गये हैं। तब आर्याओं से पूछती हूँ—"क्या (आप लोग) इन प्रातिदेशनीयों से परिशुद्ध हैं?" दूसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या (आप लोग) इनसे परिशुद्ध हैं?" तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध हैं?" आर्यायें परिशुद्ध हैं, इसीलिए चुपचाप हैं, इस प्रकार मैं इसे धारण करती हूँ।

पाटिदेसनीयकण्डं निट्ठितं

1—1. सी॰, स्या॰ पोत्थकेसु नत्थि

६. सेखियकण्डं (२३०—३०४)

इमे खो पनाय्यो सेखिया धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आर्याओ ! ये पचहत्तर शैक्ष्य धर्म कहे जाते हैं—

१–७५ पठमादिसेखियानि

भिक्षुणियों के शैक्ष्य धर्म भिक्षुओं के शैक्ष्य धर्मों से पूर्णत: मिलते-जुलते हैं। इन धर्मों की संख्या पचहत्तर है। ये सभी नियम परिमंडल, उज्जग्घिक, खम्भक, सक्कच्च, कबल, सुरुसुरु और पादुका वग्गों मे विभक्त हैं। भिक्खुपातिमोक्ख में इन्हे कृपया देखिये ॥२३०-३०४॥

उद्दिट्ठा खो अय्यायो, सेखिया धम्मा। तत्थाय्यायो[1] पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो, तस्मा, तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

आर्याओ ! ये पचहत्तर धर्म शैक्ष्य धर्म कहे गये हैं। तब आर्याओं से मैं पूछती हूँ—"क्या आप इन शैक्ष्य धर्मों से परिशुद्ध है"? दूसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध है"? तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध है"? आर्याएँ इनसे परिशुद्ध है, इसीलिए चुप हैं, इस प्रकार मै धारण करती हूँ।

सेखियकण्डं निट्ठितं

७. अधिकरणसमथा धम्मा (३०५-३११)

इमे खो पनाय्यायो सत्त अधिकरण समथा धम्मा उद्देसं आगच्छन्ति ।

आर्याओ ! ये सात अधिकरण समथ धर्म कहे जाते हैं।

१—७ पठमादि अधिकरणसमथा धम्मा

१—७. उप्पन्नुप्पन्नानं[2] अधिकरणानं समथाय वूपसमा सम्मुखाविनयो दातब्बो, सतिविनयो दातब्बो, अमूळ्हविनयो दातब्बो, पटिञ्ञाय कारेतब्बं, येभुय्यसिका, तस्सपापियसिका, तिणवत्थारको ति ॥३०५-३११॥

उत्पन्न और अनुत्पन्न विवादो की शान्ति के लिए सम्मुख विनय देना चाहिए, स्मृति विनय देना चाहिए, अमूढ़ विनय देना चाहिए, प्रतिज्ञात करण

---

1. तत्थय्यायो—स्या०, रो०। 2. उपन्नुमपन्नानं—रो०।

कराना चाहिए, यद्भूयसिक, तत्पापीयसिक और तृण बिस्तारक (नियमों के माध्यम से विवाद शान्त करना चाहिए) ॥३०५-३११॥

२. उद्दिट्ठा खो, अय्यायो, सत्त अधिकरणसमथा धम्मा। तत्थाय्यायो पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? दुतिय पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? ततियं पि पुच्छामि—"कच्चित्थ परिसुद्धा"? परिसुद्धेत्थाय्यायो, तस्मा तुण्ही, एवमेतं धारयामी ति।

हे आर्याओ! ये सात अधिकरणशमथ धर्म कहे गये हैं। तब आर्याओ से पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध हैं" दूसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लाग इनसे परिशुद्ध हैं"? तीसरी बार भी पूछती हूँ—"क्या आप लोग इनसे परिशुद्ध हैं"? आर्यायें परिशुद्ध हैं, इसी कारण मौन हैं, इस प्रकार मैं इसे धारती करती हूँ।

३. उद्दिट्ठ खो, अय्यायो, निदानं। उद्दिट्ठा अट्ठ पाराजिका धम्मा। उद्दिट्ठा सत्तरस सङ्घादिसेसा धम्मा। उद्दिट्ठा तिंस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा। उद्दिट्ठा छसट्ठिसता पाचित्तिया धम्मा। उद्दिट्ठा अट्ठ पाटिदेसनीया धम्मा। उद्दिट्ठा सेखिया धम्मा। उद्दिट्ठा सत्त अधिकरणसमथा धम्मा। एत्तकं तस्स भगवतो सुत्तागत सुत्तपरियापन्नं अन्वद्धमास[1] उद्देसं आगच्छति। तत्थ सब्बाहेव समग्गाहि सम्मोदमानाहि अविवदमानाहि सिक्खितब्बं ति।

आर्याओ! निदान कह दिया गया। आठ पाराजिक धर्म कहे गये। सत्रह सङ्घादिसेस धर्म कह दिये गये। तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय कहे गये। एक सौ छयासठ पाचित्तिय धर्म कहे गये। आठ पाटिदेसनीय धर्म कहे गये। पचहत्तर सेखिय धर्म कहे गये। सात अधिकरणसमथ धर्म कहे गये। उन भगवान् बुद्ध के इतने ही सूत्र (सुत्त) हैं जिनकी प्रत्येक पक्ष मे आवृत्ति की जाती है। उन्हे हमको समग्र रूप मे सम्मोदन करते हुए और विवाद न करते हुए सीखना चाहिए।

भिक्खुनीविभङ्गो निट्ठितो

---

1. अन्वड्ढमासं स्या०।

टिप्पणियाँ

१—भिक्खुपातिमोक्ख

१. पाराजिका

१. पाराजिक—ऐसे गम्भीर अपराध हैं जिनसे भिक्षु संघ में नहीं रह सकता। वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है।

२. बौद्धधर्म में सभी दोष वज्जिपुत्तक भिक्षुओं के माध्यम से आये हुए बताये गये हैं। पर इसमें देश-काल का प्रभाव अधिक होगा।

३. शिक्षाएँ—तीन प्रकार की हैं—अधिशील-शिक्षा, अधिचित्तशिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा।

४. भिक्षु भाव को छिपाकर गृहस्थावस्था का स्मरण करना, माता-पिता, भाई, पत्नी के प्रेम को मन मे लाना, धन-सम्पत्ति आदि में राग करना, ये सभी भिक्षु की दुर्बलताएँ हैं।

५. सुत्त विभंग के भाष्य में मैथुन धर्म सेवन करने वाले भिक्षुओं के अनेक उदाहरण दिये गये हैं। वहाँ सुन्दर, सुप्रभा, श्रद्धा आदि भिक्षु और भिक्षुणियों, उपासक और उपासिकाओ के बीच हुए मैथुन धर्मों का निवारण दिया गया है। (पृ० ४२)।

६. उस समय राजगृह मे बीस मासे का कार्षापण प्रचलित था। पाद, पादारह अथवा अतिरेकपाद के लिए तथारूप शब्द आया है। लगता है, चोरी से पञ्चमासक अथवा उससे अधिक की वस्तु को ग्रहण किया जाता था। भण्ड के अनेक रूप मिलते है—भूमट्ठ, थलट्ठ, आकासट्ठ, वेहासट्ठ, उदकट्ठ, नावट्ठ, यानट्ठ, भारट्ठ, आरामट्ठ, विहारट्ठ, खेत्तट्ठ, वत्थुट्ठ, गामट्ठ, अरञ्ञट्ठ आदि (पृ० ५८)। यहाँ निदान भी दिये हुए हैं।

७. इस नियम से सम्बद्ध भिक्षुओ की १०३ कथायें दी गई है जिनमे भिक्षुओं ने उक्त नियम का उलघन किया।

८. **उत्तरिमनुस्सधम्म**—ध्यान, विमोक्ष, समाधि, समापत्ति, ज्ञान-दर्शन, मार्गभावना, फलसाक्षात्कार, क्लेशप्रहाण, विनीवारणता, शून्यागार मे चित्त की अभिरति। **विशुद्धापेक्षी**—गृहस्थ, उपासक, आरमिक अथवा श्रामणेर होने की इच्छा से। **ध्यान**—प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान। **विमोक्ष**—शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित। **समाधि**—शून्यता, अनियमित और अप्रणिहित। **समापत्ति**—शून्यता, अनियमित और अप्रणिहित। **मार्ग-**

भावना—चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग, और आठ आर्याष्टङ्गिकमार्ग। **फल साक्षात्कार**—स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत। **क्लेशप्रहाण**- राग, द्वेष और मोह से चित्त की मुक्ति। **शून्यागार** मे **अभिरति**- प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान से शून्य स्थान में सन्तोष।

२· संघादिशेष

१. इस दोष मे दण्ड देने का अधिकार समूचे सघ को है, बहुत भिक्षु अथवा एक भिक्षु को नही—संघो व तस्सा आपत्तिया परिवासं देति, मूलाय पटिकस्सति, मानत्तं देति, अब्भेति; न सम्बहुला, न एकपुग्गलो। ते न वुच्चति संघादिसेसो। (पृ० १५२)। इसकी विनीतवत्थु मे ७० ऐसी घटनाएँ दी गई हैं जहाँ यह नियम लागू होता है। इनमें भिक्षु प्रायश्चितस्वरूप कुछ समय के लिए संघ से बाहर रहना है।

२. **मातुगाम** के अतर्गत् स्त्री, यक्षी, प्रेती, तिर्यञ्ची आदि की गणना की गई है। **परामसनं** मे आमसना, परामसना, ओमसना, ओलङ्घना, अभिनिग्गण्हना, गहणं, छुपनं आदि को भी लिया गया है। विनीतवत्थु में इससे सम्बन्धित बीस घटनाओ का उल्लेख है। **दुट्ठुल्लाहि वाचाहि** का तात्पर्य है—मल-मूत्र के मार्गों को मैथुन सम्बन्धी अपशब्द कहना।

३. **स्त्रियाँ** १० प्रकार की होती हैं मातुरक्षित, पितुरक्षित, माता-पितारक्षित, भ्रातुरक्षित, भगिनिरक्षित, ज्ञातिरक्षित, गोत्ररक्षित, धर्मरक्षित, गर्भपरिरक्षित और सपरिदण्डा। **पत्नियाँ** १० प्रकार की होती है—धनक्रीता, *छन्दवासिनी, भोगवासिनी, पटवासिनी, ओदपत्तकिनी, ओभटचुम्बटा,* दासी, कम्मकारी, धजाहटा मुहुत्तिका (पृ० २००)।

सञ्चरित्त—स्त्री पुरुष के बीच एक दूसरे का सन्देश लेकर जाना।

४. **सारम्भ** का अर्थ है हिंसा। यहा विभिन्न प्रकार के जीवो की हिंसा का उल्लेख मिलता है (पृ० २२२)।

५. **अधिकरण** चार प्रकार का होता है—विवादाधिकरण, अनुवादाधिकरण, आपत्ताधिकरण और किच्चाधिकरण।

६. **लेस** दस प्रकार के हैं—जाति, नाम, गोत्र, लिग, आपत्ति, पात्र, चीवर, उपाध्याय, आचार्य और शयनासन।

३. अनियता

१. **अलंकम्मनीये**—मैथुन कर्म के योग्य आसन पर। **उपासिका**—बुद्ध,

धर्म और संघ की शरण मे गई महिला। **अनियत**—पाराजिक, संघादिसेस और पाचित्तिय धम्मों मे से किसी एक मे निश्चित न होना।

४. निस्सग्गिय पाचित्तिय

१. **निट्ठित चीवर**—भिक्खु का वह चीवर जो पूर्व चीवर के नष्ट हो जाने पर तैयार किया गया हो। **कठिन चीवर** वह है जो वर्षावास के अन्त में संघ के माध्यम से गृहस्थ द्वारा भिक्षु के सम्मान मे प्रदान किया जाता है। **चीवर**—भिक्षु के तीन वस्त्र होते हैं—अन्तरवासिक (लुङ्गी)। **उत्तरासंग** (चादर), और संघाटी (दोहरी चादर)। **निस्सग्गिय पाचित्तिय**—ऐसे अपराध हैं जिनका प्रतिकार संघ, अधिकांश भिक्षु अथवा एक भिक्षु के सामने स्वीकार कर उस वस्तु को छोड देने पर हो जाता है।

२. **अकाल चीवरं** नाम अनत्थिते कठिने एकादसमासे उप्पन्नं, अत्थिते कठिने सत्तमासे उप्पन्नं, काले पि आदिस्स दिन्नं, एतं अकालचीवरं नाम।

३. **अञ्ञातिका** (अज्ञातिका) भिक्षुणी वह है जिससे उसके माता-पिता की सात पीढी तक का सम्बन्ध न हो।

४. **अभिहट्ठुं पवारेय्य**--जितनी इच्छा हो, उतना ग्रहण करो। **सन्तरुत्तरपरमं**—आवश्यकता से कम अर्थात् यदि तीन चीवर नष्ट हुए हों तो दो ग्रहण करना चाहिए, एक नष्ट हुआ हो तो कुछ भी ग्रहण नही करना चाहिए।

५. **चीवरचेतापन्नं**—का तात्पर्य है चीवर के लिए एकत्रित किया गया हिरण्य, स्वर्ण, मुक्ता, मणि, प्रवाल, फलिक, पटक आदि। **चेतापेत्वा**-परिवर्तन कर (परिवत्तेत्वा)। **पुब्बे अप्पवारितो**—पुब्बे अवुत्तो होति "कीदिसेन ते, भन्ते, चीवरेन अत्थो, कीदिसं ते चीवरं चेतापेमी" ति!

६. **रूपिय**—इसमे कार्षापण, लोहमासक, दारुमासक जतुमासक सम्मिलित है। अट्ठकथा मे सोने, चाँदी, ताँबे काष्ठ, अस्थि, चर्म, और लाख के सिक्कों के भी व्यवहार का उल्लेख मिलता है।

७. **पात्र**—तीन प्रकार के होते है - उत्कृष्ट, मज्झिमा और ओमका। ये भेद भोजन रखने के परिमाण के आधार पर किये गये हैं।

८, आषाढ़ पूर्णिमा तक ग्रीष्म ऋतु रहती है। उसके बाद की प्रतिपदा से कार्तिक पूर्णिमा तक वर्षा ऋतु रहती है (अट्ठकथा)।

९. बरसात के कारण चीवर गीला हो जाने पर तथागत ने लुङ्गी जैसा एक चीवर पहिनने का विधान किया था। उसी को वार्षिक **शाटिका** कहा जाता है।

१०. **छः** प्रकार के **सूत** होते हैं—क्षौम, कार्पासिक, कौसेय, कम्बल, शाण, और भङ्ग।

११. **चीवर काल**—आश्विन पूर्णिमा के बाद की प्रतिपदा से कार्तिक पूर्णिमा तक का समय।

५. पाचित्तिय (अनार्य व्यवहार)

१. आठ **अनार्य व्यवहार** कहे गये हैं अदिट्ठ, अस्सुत, अमुत, अविञ्ञात, दिट्ठ, सुत, मुत और विञ्ञात। भिक्षु प्रायश्चित्त करने के उपरान्त पाचित्तिय अपराधों से मुक्त हो जाता है।

२. **ओमसवाद** १० प्रकार का होता है—जाति, नाम, कर्म, गोत्र, शिल्प, अबाध, लिंग, क्लेश, आपत्ति और आक्रोश। इन दसो के अनेक भेद, प्रभेद भी मिलते हैं।

३. **पैशुन्य** भी इसी प्रकार १० प्रकार का होता है।

४. विभङ्ग मे **भिक्खु** शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

भिक्खू ति भिक्खको ति भिक्खु, भिक्खाचरियं अज्झूपगतो ति भिक्खु, भिन्नपटधरो ति भिक्खु, समञ्ञाय भिक्खु, पटिञ्ञाय भिक्खु, एहि भिक्खू ति भिक्खु, तीहि सरणगमनेहि उपसम्पन्नो ति भिक्खु, भद्रो भिक्खु, सारो भिक्खु, सेखो भिक्खु, असेखो भिक्खु, समग्गेन सङ्घेन ञत्तिचतुत्थेन कम्मेन अकुप्पेन ठानारहेन उपसम्पन्नो ति भिक्खु। तत्र य्वायं भिक्खु समग्गेन सङ्घेन ञत्तिचतुत्थेन कम्मेन अकुप्पेन ठानारहेन उपसम्पन्नो, अयं इमस्मिं अत्थे अधिप्पेतो भिक्खू ति।

५. दस कारणों से भ० ने **शिक्षापद** बनाये। (मूल देखिये)

६. **भूतगाम** पाँच बीजो से उत्पन्न होते है—मूलबीज, खन्धबीज, फलबीज, अग्रबीज, बीजबीज। **मूलबीज**—हल्दी, शृङ्गबेद, वच, उसीर आदि। **खन्धबीज**—अश्वत्थ, निग्रोध, उदुम्बर आदि। **फलबीज**—इंगु, बेलु आदि। **अग्रबीज**—अज्जुक, हिरिवेर आदि। **बीजबीज**—पुब्बण, अपरण्ण आदि।

७. **मंच और पीठ** चार प्रकार के होते हैं—मसारक, बुन्दिकाबद्ध, कुलीरपादक और अहच्चपादक। भिसि पाँच प्रकार के हैं—उण्णभिसि, चोलभिसि, वाकभिसि, तिणभिसि और पण्णभिसि। **कोच्छ** चार प्रकार के हैं—वाकमय, उसीरमय, मुञ्जमय और बब्बजमय।

८. **शय्या** के प्रकार—भिसि, चिमिलिका उत्तरत्थरण, भुम्मत्थरण तट्टिका, चम्मखण्ड, निसीदन, पच्चत्थारण, तिणसन्थार और पण्णसन्थार।

९. **महल्लक**—स्वामी वाला। **यवद्वारकोश**—पिट्ठसङ्घाट के चारों

ओर का हस्तपास। **अग्गल**---अर्गला अथवा बेंड़ा। **आलोक सन्धि**---जंगला अथवा सांच।

१०. **आमिस हेतु**---चीवर पिण्डपात, शयनासन, ग्लानप्रत्ययभैषज्य-परिहार, सत्कार, गरुकार, मनन, वन्दन और पूजन।

११. **परस्पर भोजन** का तात्पर्य है जिस भोजन के लिए निमन्त्रित हुए, पर वह भोजन न कर अन्य भोजन करना।

१२. **भोजनीय** पांच प्रकार का होता है---भात, दाल, सत्तू, मत्स्य और मांस।

१३. **सन्निधिकारक** का तात्पर्य है---आज इकट्ठा किया गया भोजन कल खाया जाय।

१३. **सुरा** पकी शराब को कहते हैं। इसके भेद हैं---पिट्ठसुरा, पूवसुरा, ओदनसुरा, किण्णपक्खित्ता और सम्भारसंयुता। मेरय कच्ची शराब कही जाती है। उसके भेद हैं---पुष्फासव, फलासव, मध्यासव, गुळासव।

१४. **सामणेर** दस शिक्षापदो को धारण करने वाला। विकप्पना (परिवर्तन) दो प्रकार का है---सम्मुखविकप्पना और परम्मुखाविकप्पना।

१५. **अधिकरण** चार प्रकार के हैं---विवादाधिकरण, अनुवादाधिकरण, अपत्ताधिकरण, किच्चाधिकर।

१६. **मंच** चार प्रकार का होता है---मसारक, बुन्दिकाबद्ध, कुलीरपादक और आहच्चपादक। **पीठ** भी इसी प्रकार चार प्रकार के ही होते हैं।

१७. **तूल** तीन प्रकार का है---रुक्खतूल, लतातूल और पोटकितूल।

६. पाटिदेसनीय

गृहस्थो के घरों मे जाकर खाद्य-भोज्य सामग्री को ग्रहण करनेवालियों के हाथों से ग्रहण करना दुष्कृत है और उसे लेकर जहाँ कही भी उपभोग करना पाटिदेसनीय (प्रातिदेसनीय) है। इसमे अन्य भिक्षुओ के समक्ष अपने दोष को स्वीकार कर लिया जाता है और भविष्य मे न करने का वचन दिया जाता है।

७. सेखिय धम्मा

इसमें भिक्षु के शिष्ट व्यवहार विषयक ७५ नियमों का विधान किया गया है।

८. अधिकरण समथा धम्मा

संघ में विवाद उपस्थित हो जाते पर उन्हें शान्त करने के उपायों पर यहाँ विचार किया गया है।

२. भिक्खुनीपातिमोक्ख

१. पाराजिकं

१. **भिक्खुनी**—विभङ्ग में भिक्षुणी का अर्थ भिक्षु के समान ही दिया गया है।

२. **अवस्सुता**—सारक्ता। **अधक्खकं**—निम्नभाग।

३. संघादिशेष

१. **उस्सयवादिका**—अट्टकारिका। संघादिसेस का तात्पर्य है—

सङ्घादिसेसं ति सङ्घो व तस्सा आपत्तिया मानत्तं देति मूलाय पटिकस्सति अब्भेति, न सम्बहुला भिक्खुनियो, न एका भिक्खुनी। तेन वुच्चति सङ्घादिसेसो ति। तस्सेव आपत्तिनिकायस्स नामकम्मं अधिवचनं। तेन पि वुच्चति सङ्घादिसेसो ति।

२. **पापसिलोका**—मिथ्याजीविका। **विहेसिका**—प्रतिक्रोशन।

४. पाचित्तिय—

१. **तलघाटक** का अर्थ श्री राहुल जी ने कृत्रिम मैथुन किया है। विभङ्ग मे इसका अर्थ इस प्रकार दिया है—तलघातक नाम सम्फस्सं सादियन्ती अन्तमसो उप्पलपत्तेन पि मुत्तकरणे पहारं देति ।।६०।।

२. **जतुमट्ठक** शब्द का अर्थ राहुल जी ने लाख का बना मैथुन-साधन किया है। विभङ्ग मे इस शब्द का अर्थ लिखा है – जतुमट्ठक नाम जतुमयं कट्ठमयं पिट्ठमयं मत्तिकामयं (पृ० ३५५)। इसका उपयोग उस समय निरोध के रूप मे किया जाता होगा।

३. **उच्चार**– गूथ। **पस्साव**—मुत्त। **सङ्कारं**—कचवरं। **विघासं**—चलकानि वा अट्ठकानि वा उच्छिट्ठोदक वा। यह विभङ्ग मे दिया है।

४. **अज्झोकासे** का तात्पर्य है खुला स्थान जो दीवाल, कपाट आदि से ढका न हो।

भिक्खुनी **पातिमोक्ख** मे आगत पारिभाषिक शब्द प्राय: वही है जो भिक्खु-पाति मोक्ख मे आये है (अत: उन पर पृथक् रूप से यहाँ विचार नही किया गया है।

●

नोट—पाठान्तर में रो०, सी०, स्या०, तथा म० सङ्केत क्रमश: रोमन, सिंहली, स्यामी तथा मरम्म (वर्मी) संस्करणों के लिए प्रयुक्त है। ये पाठान्तर श्रद्धेय भिक्षु जगदीश कश्यप द्वारा सम्पादित नागरी संस्करण पर आधारित है।